# रोटीका सवाल

[ प्रिंस क्रोपाटकिनकी 'Conquest of Bread' का अनुवाद ]

संशोधित संस्करण


अनुवादक व संपादक
श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय
श्री कालिकाप्रसाद



१९४९
सस्ता साहित्य मंडल
नईदिल्ली

# विषय-सूची

# भूमिका

साम्यवाद और सभी प्रकारके समाजवादपर जो बहुतसे आक्षेप किये जाते हैं उनमेंसे एक यह है कि यह कल्पना इतनी पुरानी है, फिर भी अभी तक कहीं कार्य-रूप नहीं प्राप्त कर सकी। प्राचीन यूनानके तत्त्व-वेत्ताओंने आदर्श राज्यकी योजनाएं बनाईं। उसके बाद आरंभिक कालके ईसाइयोंने साम्यवादी समूह स्थापित किये। इसके कई सौ साल बाद जब यूरोपमें धर्म-सुधार आंदोलन आरंभ हुआ तो बड़े-बड़े साम्यवादी भ्रातृ-मंडल बन गये। फिर इंगलैंड और फ्रांसकी महान राज्य-क्रांतियोंके समय इन्हीं आदर्शोंका पुनरुद्धार हुआ। अंतमें सन् १८४८ ई० में फ्रांसमें फिर जो राज्य-क्रांति हुई उसके प्रेरक भी बहुत-कुछ समाजवादी आदर्श ही थे। पर आलोचक कहते हैं—"फिर भी तुम्हारी योजनाओंके कार्य-रूप पानेकी दिल्ली अभी कितनी दूर है ? क्या इससे तुम यह नहीं सोचते कि तुम्हारे मानव-स्वभाव और उसकी आवश्यकताओंके समझनेमें कोई मौलिक त्रुटि है ?"

पहली निगाहमें तो यह एतराज बहुत वज़नदार मालूम होता है। किंतु मानव-इतिहासपर थोड़ा गहराईमें उतरकर विचार करनेसे इसमें कुछ दम नहीं दिखाई देता। पहले तो हम देखते हैं कि करोड़ों मनुष्योंने अपनी ग्राम-पंचायतोंमें समाजवादके एक प्रधान तत्त्वको कई सौ सालतक बनाये रखा। उसका रूप यह था कि उत्पादनका मुख्य साधन जमीन सबकी सम्मिलित संपत्ति मानी जाती थी और भिन्न-भिन्न कुटुम्बोंकी श्रम-शक्तिके अनुसार उनमें बांट दी जाती थी। हम यह भी देखते हैं कि पश्चिमी यूरोपमें भूमिके सार्वजनिक स्वामित्वका नाश किसी भीतरी दोषसे नहीं हुआ; बल्कि बाहरी कारणसे—राज्यके सरदारों और मध्यम श्रेणी-वालोंको जमीनका इजारा दे देनेसे हुआ। हमें यह भी मालूम होता है कि मध्यकालीन नगर अपने यहां लगातार कई शताब्दियों तक उत्पादन और व्यापारका एक प्रकारका समाजवादी संगठन बनाये रहे; और यही वह काल था जिसमें विद्या, कला, शिल्प, उद्योग सबकी उन्नति तीव्र गतिसे हुई। इन साम्यवादी संघोंका ह्रास मुख्यतः इसी दोषसे हुआ कि

लोगोंमें शहर और गांव, किसान और नागरिकको मिला देनेकी योग्यता नहीं थी, जिससे वे मिलकर सेनावादी राज्योंकी वृद्धिका सामना कर सकते। इन राज्योंने ही उन स्वाधीन नगरोका नाश किया।

इस दृष्टिसे देखनेपर मानव-इतिहासमें साम्यवादके विरुद्ध दलील नहीं मिलती, बल्कि यह दिखाई देता है कि किसी-न-किसी प्रकारका साम्यवादी संगठन स्थापित करनेका प्रयत्न बराबर होता रहा और इन प्रयत्नोंको जहां-तहां थोड़ी-बहुत सफलता भी मिलती रही। इससे हम अधिक-से-अधिक यही नतीजा निकाल सकते हैं कि मनुष्य-जातिको अभी तक साम्यवादी सिद्धातोंके आधारपर कृषिका द्रुतगतिसे बढ़ते हुए उद्योग-धंधों और अंतर्राष्ट्रीय व्यापारके साथ मेल बैठा देनेकी विधि मालूम नहीं हो पाई हैं। व्यापार इसमे विशेष रूपसे बाधक होता दिखाई देता है, क्योंकि अब दूर-देशोंके साथ किये जानेवाले और निर्यातके व्यापारसे केवल व्यक्ति ही करोड़पति नहीं बनते बल्कि समूचा राष्ट्र उन देशोंको चूसकर मोटा होता है जो औद्योगिक उन्नतिमें पिछड़ा हुआ है।

यह अवस्था अठारहवी सदीके अंतसे आरभ हुई। पर इसका पूरा विकास हुआ नेपोलियनकी लड़ाइयां खतम हो जानेपर उन्नसवीं सदीमें ही। आधुनिक साम्यवादको इस बातका ध्यान रखना ही पडता है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि फ्रासकी क्रांतिका राजनैतिक महत्त्व तो था ही, साथ ही सन् १७९३ और १७९४ मे वह फ्रासकी जनताका समाजवादसे कमोबेश मिलती-जुलती तीन भिन्न-भिन्न दिशाओंमे आगे बढ़नेका यत्न भी था। पहला यत्न तो था धन के समान बटवारे का। इसके लिए क्रमशः बढ़ने वाले आय-कर और उत्तराधिकार-कर लगाये गये, जमीन को किसानोंमे थोड़ी-थोड़ी बांट देनेके लिए उसकी जब्ती की गई और केवल धनिकोंपर भारी-भारी युद्ध-कर लगाये गये। दूसरा था जीवनके लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तुओंके विषयमें एक तरहके म्युनिसिपल साम्यवादकी स्थापनाका। म्युनिसिपलिटियां ऐसी चीजोंको खरीद लेतीं और लागतके दामपर लोगोंके हाथ बेच देतीं। तीसरा यत्न था सब पदार्थोंके वाजिब भाव निश्चित कर देनेकी विस्तृत देशव्यापी व्यवस्था,

जिसमें उत्पत्तिकी असली लागत और व्यापारके उचित नफेका ध्यान रखा जाता था। क्रांतिकारी राष्ट्रसभा ( नैशनल कंवेंशन ) ने इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये बड़ी कोशिश की और अपना काम करीब-करीब पूरा कर चुकी थी जब प्रतिक्रिया प्रबल हो उठी।

इसी असाधारण महत्त्ववाले आंदोलनके बीच, जिसका उचित रूपसे अध्ययन अबतक नहीं किया गया, आधुनिक साम्यवाद का जन्म हुआ। लीओमें लांज (L'Ange) ने फूरिये-मत चलाया और बोनारोती, बाबफ (Babuf) और उनके साथियोंने सत्तावादी साम्यवादका प्रवर्तन किया। उस महान राज्य-क्रांतिके बाद कुछ ही दिनोंमे आधुनिक समाजवादके सिद्धान्तोंके तीन महान जन्म-दाता—फूरिये (Fourier), सेंट साइमन और राबर्ट ओवेन तथा गाडविन प्रकट हुए। और बोनारोती तथा बाबफसे आरंभ होनेवाली गुप्त समाजवादी समितियोंने अगले पचास वर्षोंके लिये उग्र सत्तावादी समाजवादपर अपनी छाप लगा दी।

इसलिए सच तो यह है कि आधुनिक साम्यवाद अभी सौ वर्षका भी नहीं हो पाया है और इस सौ सालमेंसे आधे समयतक तो इसके विकासमे केवल दो राष्ट्र—ब्रिटेन और फ्रांस ही भाग लेते रहे, क्योंकि यही दोनो उद्योग-धंधोंमे सबसे आगे थे। साथ ही ये दोनो देश नेपोलियनके पन्द्रह वर्षके युद्धोंसे बुरी तरह तबाह हो रहे थे। और पूर्वसे आनेवाली यूरोपियन प्रतिक्रियाकी बाढ़मे फंस रहे थे।

वस्तुतः जब फ्रांसमें १८३० की क्रांतिने और इंग्लैंडमें १८३०-३२ के सुधार आंदोलनने इस भयंकर प्रतिक्रियाको पीछे ढकेलना शुरू किया तभी, १८४८ की फ्रेंच क्रांतिके कुछ बरस पहले, साम्यवादपर बहस-विचार होना सम्भव हुआ। उन्हीं वर्षोंमें फूरिये, सेंट साइमन और राबर्ट ओवेनके अनुयायियोंने अपने नेताओंके आदर्शोंको निश्चित सिद्धान्तोंका रूप दिया और तभी आजकल पाये जानेवाले विविध साम्यवादी मतोंकी व्याख्याएं हुईं।

ब्रिटेनमें राबर्ट ओवेन और उनके अनुयायियोंने ऐसे समाजवादी ग्राम बसानेकी योजनाएं बनाईं जिनमें खेती भी हो और उद्योग-धंधे भी चलते रहें। बड़े-बड़े सहयोग-संघ स्थापित किए गये जिसमें उनके मुनाफेसे

और भी समाजवादी बस्तियां बसाई जाएं। 'ग्रेट कंसालिडेटेड ट्रेड यूनियन' (संयुक्त श्रमिक-महासंघ) स्थापित किया गया। उसीसे आगे चलकर आजकलके मजदूर दलों और इंटरनेशनल वर्किङ्ग-मेंस एसोसिएशन (अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ) दोनोंकी उत्पत्ति हुई।

फ्रांसमें फूरियेके अनुयायी कासिदेरां (Consederant) ने अपनी प्रसिद्ध विज्ञप्ति प्रकाशित की। उसमें बड़ी सुन्दरतासे पूंजीवादकी वृद्धिकी वह सारी सैद्धांतिक विवेचना दी गई है जो आजकल 'वैज्ञानिक साम्यवाद'के नामसे प्रसिद्ध है। प्रूदों ( Proudhon ) ने अपने राज्यके हस्तक्षेपसे रहित अराजकता और अन्योन्याश्रय-वादकी कल्पनाकी व्याख्या की। लुई ब्लाँकने अपनी "आर्गेनाइजेशन आव लेबर" (श्रमिक-संगठन) नामक योजना प्रकाशितकी, जो बादमें लासेलका कार्यक्रम ही बन गई। फ्रांस में वीदालने और जर्मनीमें लोरेंस स्टाइनने क्रमशः १८४६ और १८४७ में दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किये और उसमें कासिदेरांके सिद्धांतोंको और भी विकसित किया। अंतमें वीदालने और विशेषकर पेकरने समष्टिवाद (Collectivism) प्रणालीको ब्यौरेवार रूप दिया। वीदालकी इच्छा थी कि १८४८ की राष्ट्र-सभा उस प्रणाली को कानूनके रूपमें स्वीकार करले।

जो हो उस समयकी साम्यवादी योजनाओंमें एक सामान्य विशेषता थी जिसे ध्यानमें रखना होगा। उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें साम्यवाद के जिन तीन महान् प्रवर्तकोंने लेख या ग्रंथ लिखे थे, जिस सुन्दर भविष्य की वह आशा दिलाता था, उसकी कल्पनासे इतने हर्ष-विह्वल हो गये थे कि उसे नया इलहाम समझने और अपनेको एक नये धर्मका प्रवर्तक मानने लगे। साम्यवादने धर्मका पद प्राप्त कर लिया और नये धर्मसंघका अध्यक्ष-रूपमें वे उसकी गतिका नियमन करने लगे। इसके सिवा उन्होंने ऐसे समय लिखा जब फ्रांसमें क्रांतिके बाद प्रतिक्रियाका दौरदौरा था और क्रांतिकी सफलताकी अपेक्षा विफलता ही उन्हें अधिक दिखाई दे रही थी, अतः उनके मनमें साधारण जनतापर विश्वास न रह गया था और जिन परिवर्तनोंको वे आवश्यक मानते उसके लिए उन्होंने जनता से कोई

अपील न की। उनका विश्वास था कि कोई साम्यवादी नेपोलियन, कोई महान् शासक ही उनके विचारोंको कार्य-रूप दे सकेगा। वह इस नवें ईश्वरादेशको समझेगा। जब वह उनके सामूहिक आवासों (Phalansteries) को सफलतापूर्वक चलते देखेगा तो उसे विश्वास हो जायगा कि नवीन ज्ञान कल्याणकारी है और अपनी शक्तिसे मनुष्य-जातिको सुख-समृद्धि प्राप्त करानेवाली क्रांतिको शांति-पूर्वक कर डालेगा। सैनिक-विभूति या लोकोत्तर रण-पंडित नेपोलियन कुछ ही पहले यूरोपपर राज्य कर चुका था। फिर ऐसे सामाजिक-विभूतिकी कल्पना भी क्यों न की जाती जो सारे यूरोपका नेता बनकर नई बाइबिलको वास्तविक जीवनमें कार्यान्वित करदे ? इस विश्वासकी जड़ बहुत गहरी थी और उसने बहुत समय तक साम्यवादका रास्ता रोक रखा। उसके अवशेष तो हममे अब भी पाये जाते हैं।

१८४०-४८ के बीच जब सब लोगोंको मालूम होने लगा कि *क्रांति समीप ही है और जब श्रमिक दलवाले अपने मोर्चोंपर साम्यवादी झंडे* उड़ाने लगे, तब कहीं साम्यवादी योजनाएं बनानेवालोंके दिलमें जनताका विश्वास फिरसे पैदा होने लगा। एक ओर तो उन्हें प्रजासत्ताक लोकतंत्रमें विश्वास होने लगा और दूसरी ओर श्रमजीवियोंके बिना किसी दबावके अपने-आप अपना संगठन कर लेनेकी शक्तिमें।

पर इसके बाद फरवरी १८४८ ई० की क्रांति आई। मध्यमवर्गका प्रजातंत्र स्थापित हुआ और उसके साथ उसकी भग्न आशाएं भी लौटीं। प्रजातंत्रकी घोषणाके चार ही महीने बाद मजदूरोंका विद्रोह हुआ और वह भारी रक्तपातके बाद कुचल दिया गया। उसके बाद मजदूरोंका कत्लेआम हुआ, बहुतसे लोगोंको देश-निकाला मिला और अन्तमें नेपोलियनका भतीजा लुई नेपोलियन छल-बलसे फ्रांसका सम्राट बन बैठा। साम्यवादियोंका भीषण दमन हुआ और वे इस तरह कुचल दिये गये कि दस-पन्द्रह बरसके लिए साम्यवादका नाम-निशानतक मिट गया। उसका साहित्य इस तरह लुप्त हो गया कि १८४८ के पहले जो नाम सबकी जबानपर रहते थे उन्हें लोग एकबारगी भूल गये। प्रचलित साम्यवादी

विचारोंको ऐसी गहरी कब्र दे दी गई कि बादमें जब हमारी पीढ़ीमें वे प्रकट हुए तो नई खोज-जैसे मालूम हुए।

परंतु १८६६ के लगभग जब नवीन जागृति हुई और साम्यवाद तथा समष्टिवाद फिर मैदानमें आये तो मालूम हुआ कि इन दोनोंके साधनोंके विषयमें बड़ा विचार-परिवर्तन हो गया है। राजनैतिक लोकतंत्रवादपरसे तो लोगोंका विश्वास उठता जाता था और जब लंदनमें १८६२ और १८६४ में पेरिसके मजदूरों और ब्रिटिश-ट्रेड-यूनियनवालों तथा राबर्ट ओवेनके अनुयायियोंका सम्मेलन हुआ तो जिस मूल-सिद्धांतपर वे एकमत हुए वह यह था कि "श्रमिकोंको अपना उद्धार स्वयं करना होगा।" वे इस बातपर भी एकमत हो गये कि मजदूर-संघोंको खुद उत्पत्तिके-साधनोंपर कब्जा और उत्पादनका प्रबंध करना होगा। इस प्रकार फूरियेके अनुयायियों और अन्योन्याश्रय-वादियोंकी संघकी फ्रेंच कल्पना राबर्ट ओवेनकी 'दि ग्रेट कंसोलिडेटेड ट्रेडर्स यूनियन' की, जो अब बढ़कर अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ बन गया है, कल्पनासे मिल गई।

साम्यवादका यह नव-जागरण भी कुछ ही साल टिका। शीघ्र ही १८७०-७१ का जर्मन-फ्रांस युद्ध छिड़ गया और पेरिस-कम्यूनका विप्लव हुआ। इससे फ्रांसमें साम्यवादकी अबाध वृद्धि फिर असंभव हो गई। पर उधर तो जर्मनीने १८४८ के फ्रांसीसी साम्यवादियोंका साम्यवाद, अर्थात् कांसिदेरां और लुई ब्लांकके सिद्धांत तथा पेकरके समष्टिवादके विचार अपने जर्मन गुरुओं मार्क्स और एंजेल्ससे ग्रहण किये और इधर फ्रांस एक कदम और आगे बढ़ा।

मार्च १८७१ में पेरिसने यह घोषणा कर दी कि वह अब फ्रांसके पिछड़ने वाले भागोंके लिए न ठहरेगा और अपनी म्युनिसिपल सीमामें ही अपने साम्यवादी विचारोंको कार्यान्वित करेगा।

वह आंदोलन इतने थोड़े दिन टिका कि उससे कोई पक्का नतीजा न निकला। वह स्थानीय स्वतंत्रताका समर्थन मात्र बना रहा। वह कम्यून अथवा प्रदेशोंकी आंतरिक शासनमें पूर्ण स्वतंत्रताका दावा भर करके रह गया। पर पहले 'इण्टरनेशनल' (साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक

सम्मेलन) के श्रमिकोंने उसके ऐतिहासिक महत्त्वको समझ लिया। उन्होंने समझ लिया कि स्वतन्त्र कम्यून (स्थानीय सरकार) ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा आगे चलकर आधुनिक साम्यवादके विचार कार्यान्वित हो सकेंगे। यह जरूरी नहीं समझा गया कि १८४८ से पहले इंग्लैंड और फ्रांसमें उद्योग और कृषि कार्य करनेवाले जिन स्वतंत्र पंचायती ग्रामोंकी इतनी चर्चा थी वे छोटे-छोटे सामूहिक आवास या २००० आदमियोंके समुदाय ही हों। वे तो पेरिस जैसे महानगर या छोटे-छोटे प्रदेश होने चाहियें। कहीं-कहीं यही स्वतंत्र नगर या प्रदेश मिलकर राष्ट्र बन जायेंगे और यह आवश्यक नहीं कि वे राष्ट्र आजकल की राष्ट्रीय सीमाओंके भीतर ही रहें (जैसे कि सिंक बन्दरगाह* या हांस-नगर'।' थे)! इसके साथ-साथ रेल, बन्दरगाह आदि अंतर्प्रादेशिक कार्योंके लिये श्रमिकोंके बड़े-बड़े संगठन खड़े हो जायेंगे।

कुछ-कुछ इसी प्रकारके विचार १८७१ के बाद विचारशील श्रमिकोंके दिमागमें घूमने लगे, विशेषकर लैटिन-भाषी देशों—फ्रांस, स्पेन, इटली आदिमें। उन लोगोंने सोचा कि राज्य सारी औद्योगिक सम्पत्तिपर कब्जा करे और वही कृषि और उद्योगका अपनी ओरसे प्रबन्ध करे, इसकी अपेक्षा तो इस तरहके किसी संगठनसे ही साम्यवाद अधिक सरलतासे कार्यान्वित हो सकेगा। उसकी सारी तफसीलें उन सिद्धांतोंके अनुसार जीवन व्यतीत करनेपर अनुभवसे अपने आप तै हो जायेंगी।

यही वे विचार हैं जिन्हें न्यूनाधिक निश्चित रूपमें मैंने इस पुस्तकमें प्रकट करनेका यत्न किया है।

इस पुस्तकको लिखे कितने ही वर्ष बीत चुके हैं। उनका सिंहावलोकन करनेपर मैं अंतःकरणपूर्वक कह सकता हूँ कि इसके मुख्य विचार सही थे। राज्य-संचालित समाजवाद(State-Socialism)की सचमुच काफी प्रगति हुई है। राज्यकी रेलें, राज्यके बैंक और राज्यका नशीली चीजोंका व्यवसाय यत्र-तत्र स्थापित हो गये हैं। किन्तु इस दिशामें बढ़ाए जानेवाले हरएक कदमसे, चाहे उससे वस्तु-विशेष सस्ती हो गई हो, मजदूरोंके अपने उद्धारके मार्गमें नई बाधा उपस्थित हुए बिना नहीं रही। यही कारण

*इंग्लैंडके कुछ बंदरगाह'।'इनका परिचय पृष्ठ १३४के फुटनोटमें देखिए।

है कि आज मजदूरोंमें, खासकर पश्चिमी यूरोपमें, यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि रेलवे-जैसी विशाल राष्ट्रीय संपत्तिका संचालन भी राज्यकी अपेक्षा रेलवे मजदूरोंके संयुक्त संघ द्वारा अच्छा हो सकता है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि यूरोप और अमेरिका-भरमें ऐसे असंख्य उद्योग हुए हैं जिनका मुख्य उद्देश्य एक तरफ तो यह है कि उत्पत्तिके बड़े-बड़े विभाग खुद मजदूरोंके हाथमें आ जायं और दूसरी ओर यह कि नगर-वासियोंके हितके जितने कार्य नगर द्वारा किये जाते हैं उनका क्षेत्र सदा अधिकाधिक विस्तीर्ण होता चला जाय। श्रमिक-संघवाद, जिसकी यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि भिन्न-भिन्न व्यवसायोंका संगठन अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोणसे किया जाय और वे केवल मजदूरोंकी दशा सुधारनेके साधन ही न बनाये जायं बल्कि उन्हें ऐसे संगठनका रूप दिया जाय जो समय आनेपर उत्पत्तिका प्रबन्ध भी अपने हाथोंमें ले सके; दूसरे उत्पत्ति और वितरणमें तथा उद्योग और कृषिमें भी सहयोगकी स्थापना और आजमाइशी बस्तियोंमें दोनों प्रकारके सहयोगोंको एकमें मिला देनेकी कोशिश; और तीसरा म्युनिसिपल या नागरिक समाजवादका विविधता-भरा मैदान— इधर कुछ बरसोंसे इन्हीं तीन दिशाओंमें रचनात्मक शक्तिका अधिक-से-अधिक विकास हुआ है।

अवश्य ही इसमेंसे कोई भी किसी अंशमें साम्यवाद या समाजवादका भी स्थान नहीं ले सकता। साम्यवाद और समाजवाद दोनोंका अर्थ ही है उत्पत्तिके साधनोंपर सम्मिलित अधिकार। किन्तु इन प्रयत्नोंको हमें ऐसे परीक्षण, ऐसे प्रयोग समझना होगा जिनसे मनुष्यकी विचार-शक्ति साम्यवादी समाजके कुछ व्यावहारिक रूपोंकी कल्पना करनेको तैयार होती है। इन सब आंशिक प्रयोगोंका एक-न-एक दिन सभ्य राष्ट्रोंमें से किसीकी रचनात्मक बुद्धि द्वारा समन्वय होकर रहेगा। किन्तु जिन ईंटोंसे वह विशाल भवन निर्माण होगा उसके, बल्कि उसके कुछ कमरोंके भी नमूने मनुष्यकी रचनात्मक बुद्धिके विपुल प्रयाससे तैयार हो रहे हैं।

ब्राइटन (इंग्लैंड)
जनवरी, १९१३

—क्रोपाटकिन

# रोटीका सवाल

## : १ :

## हमारा धन

१

एक समय था जब मनुष्य पत्थर के भद्दे औजार बनाता था और शिकार पर गुज़र किया करता था। शिकार कभी मिलता, कभी न मिलता। उस समय वह अपनी सन्तान के लिए बपौती के रूप में सिर्फ चट्टानके नीचेका झोंपड़ा और कुछ टूटे-फूटे बरतन भर छोड़ जाता था। प्रकृति उस समय एक विशाल, अज्ञात और डरावनी वस्तु थी। उससे उसे अपने दुःखमय जीवनके लिए घोर संग्राम करना पड़ता था। पर ये बहुत पुराने ज़मानेकी बातें हैं। मानव-जाति तबसे बहुत आगे बढ़ आई है।

उस अतीत कालके पश्चात् अशान्तिके अनेक युगोंका जो क्रम बीता है उसमें मनुष्य-समाजने बेहिसाब धन-सम्पत्ति सम्पादन करली है। जमीन साफ हुई है; दलदल सुखा लिये गये हैं; जंगल कट गये हैं; सड़कें बन गई हैं; पहाड़ोंके बीचमें मार्ग निकाल लिये गये हैं। विविध प्रकारकी पेचीदा कलें तैयार हो गई हैं। प्रकृतिके रहस्य खोज निकाले गये हैं। भाप और बिजली वशमें करके टहलुई बना ली गई हैं। परिणाम यह हुआ है कि आज सभ्य मानव-सन्तानको जन्म लेते ही अपने उपयोगके लिए पूर्वजोंकी अतुल संचित पूंजी उपलब्ध हो जाती है। यह पूंजी इतनी अधिक है कि मनुष्य यदि अपने परिश्रमको दूसरों के परिश्रमके साथ मिलाकर काम

करे तो उसे इतना धन प्राप्त हो सकता है जिसकी, अलिफलैलाके किस्सोंमें कल्पनातक नहीं की गई है।

भूमि दूर-दूरतक साफ कर ली गई है। उसमें उत्तम-से-उत्तम बीज बोया जा सकता है। उसपर खर्च किये गये कौशल और परिश्रम का वह विपुल पुरस्कार देनेको प्रस्तुत रहती है। इस पुरस्कारसे मानव-समाजकी सारी आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं। सुव्यवस्थित या वैज्ञानिक (Rational) कृषिकी विधि मालूम हो चुकी है।

अमेरिकाके विशाल मैदानोंमें शक्तिशाली मशीनोंकी सहायतासे सौ आदमी कुछ मासमें इतना गेहूं पैदा कर सकते हैं जिसे दस हजार मनुष्य एक वर्षतक खाते रहें। जब मनुष्य अपनी पैदावारको दुगुना, तिगुना या सौगुना भी बढ़ाना चाहता है तो वह जमीन को ठीक प्रकार से तैयार कर लेता है, प्रत्येक पौधेपर समुचित ध्यान देता है और इस प्रकार खूब माल पैदा कर लेता है। पुराने जमानेका शिकारी जब पचास-साठ मील भटकता था तब कहीं उसके कुटुम्बको भोजन मिलता था। आधुनिक मनुष्यके घरका गुजारा उसके सहस्रांश स्थानमें, बहुत कम मेहनतसे और कहीं अधिक निश्चिन्तताके साथ हो जाता है। जलवायुकी बाधा तो रही ही नहीं। यदि सूर्यदेव रूठ जाएं तो कृत्रिम गरमीसे काम ले लिया जाता है। इतना ही नहीं, अब तो ऐसा समय आता दिखाई दे रहा है जब पेड़-पौधोंकी बाढ़में सहायता पहुँचाने के लिए कृत्रिम प्रकाश का उपयोग किया जायगा। इतना तो अब भी होता है कि कांच और गरम पानीके नलोंके प्रयोगसे नियत रकबोंमें, कुदरती तौर पर जितनी पैदावार होती है उससे दसगुनी और पचासगुनी पैदावारतक कर ली जाती है।

उद्योग-धन्धोंके क्षेत्रमें जो बड़ी-बड़ी सफलताएं प्राप्त हो चुकी हैं वे और भी विस्मय-जनक हैं। आधुनिक मशीनोंको ही लीजिए जो अधिकांश में अज्ञात आविष्कारकोंकी तीन-चार पीढ़ियोंके परिश्रमका फल हैं। वे तो बुद्धिमान सविवेक प्राणीकी भाँति काम करती हैं। उनके सहयोगसे आज-कल सौ आदमी दस हजार मनुष्योंके दो वर्षतक पहननेभर का कपड़ा तैयार कर

लेते हैं। कोयलेकी सुव्यवस्थित खानोंमें सौ खनिकोंकी मेहनतसे हर साल इतना कोयला निकल आता है कि दस हजार कुटुम्बोंको सरदीके दिनोंमें काफी गरमी मिल सके। हाल में ही एक अद्भुत दृश्य देखनेमें आने लगा है। वह यह कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियोंके अवसरपर कुछ मासमें ही शहरके शहर बस जाते हैं। उनसे राष्ट्रोंके नियमित कार्यमें जरा-सी भी बाधा नहीं पड़ती।

भले ही उद्योग-धन्धों या कृषिमें—नहीं-नहीं, हमारी सारी सामाजिक व्यवस्थामें—हमारे पूर्वजोंके परिश्रम और आविष्कारोंका लाभ मुख्यतः मुट्ठीभर लोगोंको ही मिलता हो, फिर भी यह बात निर्विवाद है कि फौलाद और लोहेके उपलब्ध प्राणियोंकी मददसे आज भी इतनी सामग्री उत्पन्न की जा सकती है कि हर एक आदमीके लिए सुख और सम्पन्नताका जीवन सम्भव हो जाय।

वस्तुतः हम समृद्ध हो गये हैं। हमारी सम्पत्ति, हम जितनी समझते हैं, उससे कहीं ज्यादा है। जितनी सम्पत्ति हमारे अधिकारमें आ चुकी है वह भी कम नहीं है। उससे बड़ा वह धन है जो हम मशीनों-द्वारा पैदा कर सकते हैं। हमारा सबसे बड़ा धन वह है जो हम अपनी भूमिसे विज्ञान-द्वारा और कला-कौशलके ज्ञान से उपार्जन कर सकते हैं, बशर्ते कि इन सब साधनोंका उपयोग सबके सुखके लिए किया जाय।

## २

हमारा सभ्य समाज धनवान है। फिर अधिकांश लोग गरीब क्यों हैं? साधारण जनताके लिए यह असह्य पिसाई क्यों है? जब हमारे चारों ओर पूर्वजोंकी कमाई हुई सम्पत्तिके ढेर लगे हुए हैं और जब उत्पत्ति के इतने जबरदस्त साधन मौजूद हैं कि कुछ घण्टे रोज मेहनत करनेसे ही सबको निश्चित रूपसे सुख-सुविधा प्राप्त हो सकती है, तो फिर अच्छी-से-अच्छी मजदूरी पाने वाले श्रमजीवी को भी कलकी चिन्ता क्यों बनी रहती है?

समाजवादियोंने इस बातको कहा और बिना थके बार-बार दोहराया है आज भी वे इसी तरह पुकार-पुकार कर कह रहे हैं और सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रमाण दे-देकर इसे सिद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि यह दारिद्रय और चिन्ता इस कारण है कि उत्पत्तिके सब साधन—जमीन, खानें, सड़कें, मशीनें, खाने-पीनेकी चीजें, मकान, शिक्षा और ज्ञान—सब थोड़े-से आदमियोंने हथिया लिये हैं। इसकी दास्तान बड़ी लम्बी है। वह लूट, देश-निकाला, लड़ाई, अज्ञान और अत्याचारकी घटनाओंसे भरी है। मनुष्यके प्राकृतिक शक्तियोंपर विजय प्राप्त करनेसे पहले उसका जीवन-क्रम यही तो था। दूसरा कारण यह भी है कि पूर्वार्जित स्वत्वोंकी दुहाई देकर ये थोड़े-से आदमी मानव-परिश्रमके दो-तिहाई फल पर कब्जा जमाये बैठे हैं और उसे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण तथा लज्जाजनक ढंगसे बरबाद कर रहे हैं। इस सर्वव्यापी दुःखका तीसरा कारण यह है कि इन मुट्ठीभर लोगोंने जनसाधारण की ऐसी दुर्दशा करदी है कि उन बेचारोंके पास एक महीने क्या एक सप्ताहभरके गुजारेका सामान भी नहीं रहता, इसलिए ये लोग उन्हें काम भी इसी शर्तपर दे सकते हैं कि आय का बड़ा हिस्सा इन्हींको मिले। चौथा कारण यह है कि ये थोड़े-से आदमी बाकी लोगोंको अपनी आवश्यकताके पदार्थ भी नहीं बनाने देते और उन्हें ऐसी चीजें तैयार करने को लाचार करते हैं जो सबके जीवनके लिए जरूरी न हों बल्कि जिनसे इजारेदारोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो। बस, इसीमें सारे समाजवाद का सार-तत्त्व है।

किसी सभ्य देशको लीजिए। उसमें जहाँ पहले जंगल और दलदल भरे पड़े थे वहाँ अब साफ-सुथरे मैदान और अच्छी जल-वायु है। वह अब रहने लायक बन गया है। भूमि पर जहां पहले घास-पात और जंगली पेड़-पौधेभर उगते थे वहां अब बहुमूल्य फसलें उपजती हैं। पहाड़ोंकी घाटियोंमे चट्टानोंकी दीवारें काट-काट कर चबूतरे बना दिये गये हैं और उनपर अंगूरकी बेलें लगा दी गई हैं। जिन जंगली पौधों से पहले खट्टे बेरों और अखाद्य कन्द-मूलके सिवाय और कुछ न मिलता था, सैकड़ो सालके सुधार-संस्कारसे उनकी कायापलट कर दी गई

है। आज वे बढ़िया तरकारियों और स्वादिष्ट फलोंसे लदे रहते हैं। पृथ्वी-तल पर हजारों सड़कों और रेलवे लाइनोंका जाल-सा बिछ गया है और पर्वतोंके आर-पार सुरंगें बन गयी हैं। आल्प, काफ और हिमालय पर्वतोंकी निर्जन घाटियोंमें एञ्जिनका चीत्कार सुनाई पड़ने लगा है। नदियोंमें जहाज चलने लगे हैं। समुद्रतटोंकी भली-भाँति पैमाइश होकर वे सुगम बना लिये गये हैं। वहाँ खोद-खादकर कृत्रिम बन्दरगाह बना लिये गये हैं, जहाँ जहाजोंको आश्रय मिलता है और समुद्रका कोप-तूफान भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। चट्टानोंमें गहरी खानें खोद ली गई हैं और भूगर्भमें चक्करदार गैलरियाँ निर्माण कर ली गयी हैं जहाँसे कोयला आदि खनिज पदार्थ निकाले जा सकें। राजमार्गोंके मिलन-स्थलोंपर बड़े-बड़े शहर बस गये हैं, जिनके अन्दर उद्योग, विज्ञापन और कलाकी सब निधियाँ एकत्र कर ली गयी हैं।

हमको इस सदीमें जो विशाल वैभव उत्तराधिकारमें मिला है वह उन लोगोंका संचित किया हुआ है जो पीढ़ियों तक दुःखमें ही जिये और मरे, अपने स्वामियोंके अत्याचार और दुर्व्यवहार सहन करते रहे और अन्त में घोर परिश्रमसे ही जर्जर होकर चल बसे।

सहस्रों वर्षोंतक करोड़ों आदमियोंने जंगलोंको साफ करने, दल-दलोंको सुखाने तथा जल और स्थल-मार्ग बनानेके लिये घोर परिश्रम किया है। जिस धरतीपर हम आज खेती करते हैं उसके कण-कणको मानव जातिकी नई नसलोंने अपने पसीनेसे सींचा है। हर एक एकड़ पर बेगार, जानमार मेहनत और जन-साधारणके कष्टोंकी कहानियाँ लिखी हुई हैं। रेल-मार्गके प्रत्येक मीलपर टनल (पहाड़ी सुरंग) के प्रत्येक गजपर मानव रुधिरकी बलि चढ़ी है।

खानोंकी दीवारोंपर आज भी खोदनेवालोंकी कुदालों के चिह्न बाकी हैं। वहाँके खम्भोंके बीच जो स्थान हैं वहाँ न जाने कितने मजदूरों की कब्रें बनी हैं। और यह कौन कह सकता है कि ऐसी हरएक कब्र पर आँसू, उपवास और अकथनीय दुर्दशाकी कितनी लागत लगी है। ऐसे कितने अभागे परिवार होंगे जिनका आधार एक मजदूरकी थोड़ी-सी

मजदूरीभर रहा होगा और वही भरी जवानीमें खानोंमें आग लगने, चट्टान टूट पड़ने या बाढ़ आजाने से चल बसा होगा।

शहरोंकी बात भी ऐसी ही है। उनका एक-दूसरेसे रेल और जलमार्गोंके द्वारा सम्बन्ध है। उन्हें खोदकर देखिये। उनकी तहमें एक-पर एक बाजारों, घरो, नाट्यशालाओं और सार्वजनिक इमारतोंकी बुनियादें मिलेंगी। उनके इतिहास खोजिये, आपको विदित होगा कि किस प्रकार उस नागरिक सभ्यता, उसके उद्योग और उसकी विशेषताओंका क्रमविकास हुआ है और किस प्रकार नागरिकों की पीढ़ियोंके सहयोगसे उसे आधुनिक रूप प्राप्त हुआ है। प्रत्येक मकान, कारखाने और गोदामोका मूल्य जिस प्रकार लाखों मजदूरोंके सम्मिलित श्रमसे, जो अब परलोक सिधार चुके हैं, कायम हुआ है, उसी प्रकार आज भी उसी भूखण्डमें बसनेवाले बहुसंख्यक श्रमजीवियोंकी उपस्थिति और श्रमसे उस मूल्यकी रक्षा हो रही है। जो राष्ट्रोंकी सम्पत्ति कही जाती है उसके प्रत्येक परमाणुका महत्त्व इसीमें तो है कि वह महान वस्तु का अंश है। यदि लन्दनका एक जहाजी अड्डा या पेरिसका एक बड़ा माल-गोदाम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके इन महान केन्द्रोंमें न हो तो उसकी महत्त्व ही क्या होगा? यदि जल और स्थल-मार्गोंसे नित्य लाखो-करोड़ो रुपयेका तिजारती माल एक स्थानसे दूसरे स्थानको न भेजा जाय तो खानो, कारखानो और रेलोकी क्या दशा हो?

जिस सभ्यतापर आज हमें गर्व है। उसके निर्माणमें करोड़ों मानव-प्राणियोंका हाथ रहा है और करोड़ो मनुष्य पृथ्वीके भिन्न-भिन्न मार्गोंमें इसे बनाये रखनेके लिये परिश्रम कर रहे हैं। उनके बिना पचास वर्षोंमें ही खंडहरोंके सिवाय कुछ बाकी न रहेगा।

एक भी विचार, एक भी आविष्कार, जिसका उदय अतीत कालमें हुआ हो या वर्तमान में, ऐसा नहीं है जो सबकी सम्पत्ति न कहा जा सके। ऐसे हजारों ज्ञात और अज्ञात आविष्कार हुये हैं जो खुद दरिद्रतामें ही मर गये, किन्तु उन्हींके सहयोगसे ये मशीनें निकली हैं जो मानवीय प्रतिभाका मूर्त रूप हैं।

सहस्रों लेखकों, कवियों एवं विद्वानोंने ज्ञानकी वृद्धि, भ्रम-निवारण और वैज्ञानिक विचार के वातावरणकी रचनाके लिये श्रम किया है, जिसके बिना इस शताब्दीके चमत्कार असम्भव थे। और स्वयं इन हजारों तत्त्ववेत्ताओं, कवियों, विद्वानों एवं आविष्कारकोंको पिछली सदियोंके परिश्रमका सहारा मिला है। क्या भौतिक और क्या मानसिक, इनके जीवनका आधार और पोषण सब प्रकारके बहुसंख्यक श्रमजीवियों और कारीगरोंसे ही प्राप्त हुआ है। उन्हें प्रेरणा तो आस-पासकी परिस्थितिसे ही मिलती है।

इसमे सन्देह नहीं कि नवीन दिशाओंमें उद्योगोंका विस्तार संसारके सारे पूंजीपतियोंकी अपेक्षा वैज्ञानिकोंकी प्रतिभाके कारण ही अधिक हुआ है। किन्तु प्रतिभाशाली पुरुष भी तो उद्योग और विज्ञानकी ही संतान हैं। जबतक भापके हजारो एञ्जिन सबकी आँखोंके सामने वर्षोंतक चल न चुके थे और उनके द्वारा ताप-संचालक शक्तिमें और संचालक शक्ति शब्द, प्रकाश और विद्युतमें बराबर परिणत नहीं होने लगी थी, तबतक प्रतिभा यन्त्रशक्तिके उद्गम-स्थान और भौतिक शक्तियोंकी एकताकी घोषणा ही कहाँ कर सकी थी? और यदि उन्नीसवीं सदीके लोगोंकी समझमे यह बात आगयी है और अब हम इसका करना भी जान गये हैं तो इसका कारण भी यही है कि रोजमर्राके तजिबेने हमारा रास्ता साफ कर दिया है। यह बात तो अठारहवीं शताब्दिके विचारकोंकी समझमें भी आगयी थी और उन्होंने इसे प्रकट भी कर दिया था। परन्तु इसका विकास इसलिये नही होपाया कि हमारे युगकी भाँति उस समय वाष्प-यन्त्रकी इतनी प्रगति नहीं हुई थी। यदि वाष्प यन्त्रके आविष्कारक जेम्सवाटको ऐसे चतुर कारीगर न मिलते जो उसकी कल्पनाओंको धातुके साँचेमें ढाल सकते थे, यदि वे उसके एंजिनके सब पुरजोंको यथायोग्य रूप न दे सकते, तो क्या भापको मशीनमें बन्द करके घोड़ेसे भी अधिक आज्ञाकारी और पानीसे भी अधिक सरल बनाया जा सकता था? और क्या आधुनिक उद्योग-धन्धोंमें यह क्रांति हो सकती थी?

प्रत्येक यंत्रका यही इतिहास है—वही रात-रातभर जागना, वही दरिद्रता,* वही निराशाएं, वही हर्ष और वही अज्ञात मजदूरोंकी कई पीढ़ियों-द्वारा किये गये आंशिक सुधार, जिनके बिना अधिक-से-अधिक उर्वरा कल्पना-शक्ति भी बेकार ही सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। प्रत्येक नया आविष्कार एक योग है—ऐसे असंख्य आविष्कारों का परिणाम है जो यन्त्र-शास्त्र और उद्योग-धंधोंके विशाल क्षेत्रमें उससे पहले हो चुके हैं।

विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, आविष्कार और व्यावहारिक सफलता, मस्तिष्क और हाथका कौशल, दिमाग और पुट्ठोका परिश्रम—ये सब साथ-साथ काम करते हैं। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रगति और मानव-संपत्तिमें वृद्धिभूत और वर्तमान कालके सम्मिलित शारीरिक और मानसिक श्रमका फल होती है।

फिर किसीको क्या अधिकार है कि वह इस सम्पूर्ण वस्तुका एक टुकड़ा भी छीनकर यह कह सके कि यह तो मेरा है, तुम्हारा नहीं?

३

परन्तु मानव इतिहास में जो अनेक युग बीते हैं उनमें धीरे-धीरे यह स्थिति हो गई है कि जिन साधनोंसे मनुष्य संपत्ति और अपनी उत्पादक-शक्ति बढ़ाता है वे सब थोड़ेसे लोगोंने हथिया लिये हैं। आज यह हाल है कि जमीनका असली मूल्य तो है बढ़ती हुई जनसंख्याओंकी आवश्यकताओंके कारण, परन्तु वह है ऐसे मुट्ठी-भर आदमियों के अधिकारमें जो उसपर जनसाधारण को पहले तो खेती करने ही नहीं देते और करने देते भी हैं तो आधुनिक ढंगसे नहीं। खानों की बात भी ऐसी ही है। वे बनी तो हैं कई पीढ़ियोंके परिश्रमसे और उनका सारा मूल्य भी राष्ट्र-विशेषकी औद्योगिक आवश्यकताओं और जन-संख्याकी अधिकतासे ही है, पर उनपर आधिपत्य है थोड़े-से व्यक्तियोंका। और यदि इन व्यक्तियोंको अपनी पूंजी लगानेके लिये दूसरे अधिक लाभदायक क्षेत्र मिल जाते हैं

कालना ही बन्द कर देते हैं या थोड़ा निकालने

लगते हैं। मशीनोंपर भी अल्पसंख्यक आदमियोंका एकाधिकार हो गया है। यद्यपि किसी भी मशीनके प्रारम्भिक भद्दे रूपमें क्रमश: जितने सुधार हुए हैं वे सब तीन-चार पीढ़ियोंसे काम करने वाले मजदूरोंके किये हुए हैं तो भी उस मशीनके एकमात्र स्वामी ये थोड़े-से लोग ही रहते हैं। बात यहाँ तक बढ़ गयी है कि जिस आविष्कारकने एक शताब्दि पूर्व गोटा बनानेकी पहली मशीन बनाई थी आज यदि उसीकी सन्तानें गोटेके कारखानेमें जाकर अपने स्वत्वका दावा करें तो उन्हें भी यही जवाब मिलेगा कि "दूर रहो, यह मशीन तुम्हारी नहीं है!" वे यदि उस मशीन पर कब्जा करनेका प्रयत्न करेंगे तो गोलीके निशाना बना दिये जायंगे।

इसी प्रकार यदि लाखोंकी आबादी, उद्योग, व्यापार और मण्डियाँ न हों तो रेलवे भी पुराने लोहेकी तरह पड़ी-पड़ी सड़ा करें। परन्तु इनपर भी इने-गिने हिस्सेदारोंका ही अधिकार है। इन हिस्सेदारोंको शायद यह भी मालूम नहीं होता कि जिन रेलवे लाइनोंसे उन्हें मध्यकालके राजाओंसे भी ज्यादा आमदनी होती है वे हैं कहाँ-कहाँ। इन रेल-मार्गोंको पर्वतोंके बीचसे होकर खोदते समय हजारों मजदूर मौतके शिकार हुए हैं। अगर किसी दिन इन महानुभावोंके सामने उन्हीं मजदूरोंके बच्चे चीथड़े लपेटे और भूखों मरते हाजिर होकर रोटीका सवाल कर बैठें तो उन्हें संगीन और छुरोंसे जवाब मिलेगा और 'स्थापित स्वार्थों' (Vested interests) की रक्षाके लिए वे वहाँ से मार भगाये जायंगे।

यह इसी दानवी पद्धतिकी कृपा है कि जब मजदूरका बेटा जीवनपथपर अग्रसर होता है तो जबतक वह अपनी कमाईका बड़ा हिस्सा मालिकको नजर करना कबूल नहीं करता तबतक न तो उसे खेती करनेको जमीन मिलती है, न चलानेको मशीन और न खोदनेको खान। उसे अपनी मेहनत थोड़ी-सी—और वह भी बे-भरोसेकी—मजदूरी पर बेचनी पड़ती है। उसके बाप-दादाने इस खेतको साफ करने, इस कारखानेका निर्माण करने और इस यन्त्रको सर्वांग पूर्ण बनानेमें अपना लहू-पसीना एक किया था। इस काममें उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। इससे अधिक उनके पास और देनेको था भी क्या? पर उन्हींका उत्तराधिकारी जब संसारमें

प्रवेश करता है तो वह अपने आपको जंगली-से-जंगली आदमियोंसे भी कंगाल पाता है। अगर उसे जमीन जोतनेकी मंजूरी मिलती भी है तो इस शर्त पर कि पैदावारकी एक चौथाई तो वह मालिकके अर्पण करे और दूसरी चौथाई सरकार और साहूकारके। और सरकार, पूंजीपति, जागीरदार और बीचवाले व्यापारीका लगाया हुआ यह कर सदा बढ़ता ही रहता है। इसके मारे उसके पास अपनी खेती का तरीका सुधारनेकी शक्ति क्वचित् ही बचती है। कल-कारखानोंकी ओर जाता है तो उसे काम मिल जाता है—वह भी सदा नहीं—लेकिन इस शर्त पर कि आधा या दो-तिहाई वह उस व्यक्ति को दे दे जिसे दुनियाने मशीन का मालिक मान रखा है।

हम पिछले जमानेके भूस्वामियोंपर इसलिए 'धिक्कार-धिक्कार' के नारे लगाते हैं कि वे किसानसे चोथ वसूल किये बिना उसे जमीन पर फावड़ातक न चलाने देते थे। उस जमानेको हम बर्बरताका युग कहते हैं। पर रूप भले ही बदल गया हो, किसान और जमींदारके बीच सम्बन्ध तो वैसा-का-वैसा ही है! नाम तो है स्वतन्त्र शर्तनामेका, किन्तु उसकी आड़में मज़दूरपर भार वही जागीरदारोंकी-सी शर्तोंका लादा जाता है? वह कहीं भी जाय, उसे हर जगह एक-सी स्थिति मिलती है। सब चीजें व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई हैं। इस स्थितिको स्वीकार करो या भूखों मरो।

इस स्थितिका परिणाम यह हुआ है कि हम जो कुछ भी पैदा करते हैं, गलत ढंगसे, उल्टी दिशामें करते हैं। उद्योग-धन्धोंमें समाजकी आवश्यकता का ख्याल नहीं किया जाता। उनका एकमात्र उद्देश्य सट्टेबाजोंके मुनाफेमें वृद्धि करना रह गया है। यही कारण है कि व्यापारमें सदा उतार-चढ़ाव और बीच-बीचमें हड़तालें आदि होती रहती हैं। इनमें से एक-एकके कारण हजारों मज़दूर बेकार होकर दर-दर भीख मागने लगते हैं।

बेचारे मजदूरोंको तो इतनी मजदूरी भी नहीं मिलती कि वे अपनी बनाई हुई चीजें खुद खरीद लें। इसीलिए दूसरे राष्ट्रोंके धनिकवर्गमें अपना माल खपानेकी कोशिश की जाती है। यूरोप-वालोंको इस तरह मजबूर होकर पूर्वीय देशोंमें—अफ्रीकामें, मिश्रमें, टांकिङ्गमें या कांगोमें—

सर्वत्र दासत्वकी वृद्धि करनी पड़ती है। यही वे करते भी हैं, किन्तु उन्हें शीघ्र ही पता लग जाता है कि सब जगह एकसे ही प्रतिस्पर्धी होते हैं। सब राष्ट्रोंका विकास एक ही ढंगसे होता है। फलतः बाजारपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए आये-दिन संग्राम करने पड़ते हैं। पूर्वपर अधिकार जमानेके लिए लड़ाई, समुद्रपर साम्राज्य स्थापित करनेकी खातिर लड़ाई, आयात पर कर लगानेके हेतु लड़ाई, पड़ोसी राष्ट्रोंको शर्तोंके पाशमें बाधनेके निमित्त लड़ाई, विद्रोही 'काली' जातियोंको सीधा करनेके लिए लड़ाई, गर्जकि बात-बातमें लड़ाई मोल ली जाती है। संसारमें तोपोंकी गर्जना कभी बंद ही नहीं हो पाती। जातियोंकी जातियोंका बध कर दिया जाता है। यूरोपके राष्ट्र अपनी आयकी तिहाई केवल अस्त्र-शस्त्रपर खर्च कर डालते हैं। और हम जानते हैं कि यह कर-भार बेचारे मजदूरोंके लिए कैसा कमर-तोड़ होता है।

शिक्षाका लाभ भी मुख्यतः मुट्ठी-भर लोगोंको ही मिलता है। जब मजदूरोंके बच्चोंको दस-बारह वर्षकी उम्रसे ही खानमे उतरकर या खेतपर जाकर अपनी मेहनतसे माता-पिताकी मदद करनी पड़ती हो तब उनके लिए शिक्षाकी सुविधा ही कहाँ ? जो मजदूर घोर परिश्रम और उसके पाशविक वायुमण्डलसे थककर शामको घर लौटता हो उसके लिए अध्ययन कैसा ? इस प्रकार समाजको दो विरोधी दलोंमें विभक्त रहना पड़ता है। ऐसी हालतमें स्वतन्त्रता तो सिर्फ कहने-सुननेकी वस्तु रह जाती है। सुधारक पहले तो राजनीतिक अधिकारकी वृद्धिकी मांग करता है, पर उसे जल्दी ही मालूम हो जाता है कि स्वाधीनताकी हवासे गरीब लोगोंमें प्राणका संचार होने लगता है। तब वह पीछे हटता, अपना मत बदल लेता है. और दमनकारी कानून और तलवारके शासनका सहारा लेता है।

फिर इन विशेष अधिकारोंकी रक्षाके लिए अदालतों, न्यायाधीशों, जल्लादों, सिपाहियों और जेलरोंके बड़े भारी दलकी आवश्यकता होती है। इस दलके फल-स्वरूप गुप्तचर, झूठी गवाही, धमकी और दुराचार आदिकी व्यवस्थाका जन्म होता है।

जिस व्यवस्थाके अंदर हम रहते हैं वह हममें सामाजिक भावनाको नहीं

पनपने देती। हम सब जानते हैं कि ईमानदारी, स्वाभिमान, सहानुभूति और सहयोगके बिना मानव-जाति भी इसी तरह नष्ट हो जायगी जिस प्रकार दस्युवृत्तिपर गुजर करनेवाली कुछ पशु-जातियाँ अथवा दास बनाने वाली चींटियाँ नष्ट हो जाती हैं। किंतु ऐसे विचार शासक वर्गको अच्छे नहीं लगते। उसने इनके विरुद्ध पाठ पढ़ानेके लिए एक पूरा झूठा शास्त्र ही रच डाला है।

"जिनके पास कुछ है उन्हें ऐसे लोगोंको हिस्सा देना चाहिए जिनके पास कुछ नहीं है"—इस सूत्रपर व्याख्यान तो बड़े सुन्दर-सुन्दर दिये गये हैं, किंतु कोई इस सिद्धांतका अनुसरण करने लगे तो उसे तुरन्त सूचना दे दी जायगी कि ये भव्य भाव काव्यके लिए ही अच्छे हैं, व्यवहार में लानेयोग्य नहीं हैं। कहा तो यह जाता है कि "झूठ बोलना अपने आपको गिराना और कलंक लगाना है", फिर भी सारा सभ्य जीवन एक विराट् असत्य बन रहा है। हम अपने आप और अपनी संतानको भी धोखेबाजी और दोरुखी नीतिके आदी बना लेते हैं। पर चूंकि झूठसे चित्त अशांत रहता है इस कारण हम आत्मवंचनाका सहारा लेते हैं। इस प्रकार छल और आत्मवंचना सभ्य मनुष्यका स्वभाव-सा हो जाता है।

परन्तु समाज इस तरहसे जीवित नहीं रह सकता। उसे सत्यकी ओर जाना ही पड़ेगा, अन्यथा उसका नाश अनिवार्य है।

इस प्रकार एकाधिकारकी आरंभिक बुराईसे पैदा हुए परिणाम सारे सामाजिक जीवनमें व्याप्त हो जाते हैं। जब मृत्यु सामने दीखने लगती है तब मानव-समाज फिर मूल सिद्धान्तों का आश्रय लेनेको विवश होता है। जब उत्पत्तिका साधन मनुष्योंका सम्मिलित परिश्रम है तो पैदावार भी सबकी संयुक्त सम्पत्ति ही होनी चाहिए। व्यक्तिगत अधिकार न न्याय्य है, न उपयोगी। सब वस्तुएं सबकी हैं। सब चीजें सबके लिए हैं, क्योंकि सभीको उनकी जरूरत है, सभीने उन्हें बनाने-उपजानेमें अपनी-अपनी शक्तिभर श्रम किया है और जगत्की सम्पत्तिके निर्माणमें किसने कितना योग दिया है, इसका हिसाब लगाना असम्भव है।

सब चीजें सबके लिए हैं। औजारोंका विशाल भंडार विद्यमान है।

जिन्हें हम यंत्र या मशीन कहते हैं वे लोहे के गुलाम हमारी नौकरीमें हाजिर हैं। वे हमारे लिये चीरने और रंदा करने, कातने और बुनने बिगाड़ने और फिर बनाने और कच्चे मालकी अद्भुत वस्तुयें बना कर देनेके लिये हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। किन्तु किसीको इनमेंसे एकको भी अपने कब्जेमें कर यह कहनेका हक नहीं है कि "यह मेरी चीज है, तुम्हें इससे काम लेना हो तो अपनी हरएक पैदावार पर मुझे कर देना होगा।" इसी प्रकार मध्यकालीन भूस्वामियोंको भी किसानोंसे यह कहने का हक नहीं था कि "यह पहाड़ी, चरागाह मेरे हैं।' इसमेंसे जितने पूले धान या घास काटो, प्रत्येकपर मुझे लगान हवाले करना होगा।"

सारा धन सबका है। यदि स्त्री और पुरुष सब मेहनतमें वाजिब हिस्सा दें तो सबकी बनायी हुई चीजोंसे उन्हें उचित भाग पानेका अधिकार है। वह भाग उनके सुखके लिये काफी है। अब ये थोथे सूत्र नहीं चलेंगे कि "सबको काम करने का अधिकार है" अथवा "सबको अपनी-अपनी मेहनत का सारा फल मिलना चाहिये।" हम तो यह घोषित करते हैं कि 'सुख पानेका सबको हक है और वह सबको मिलना चाहिए।'

: २ :

# सबका सुख

## १

सबको सुख मिले, यह स्वप्न नहीं है। सबको सुख मिलना संभव है और वह मिल भी सकता है, क्योंकि हमारे पूर्वजोंने उत्पादन-शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है।

वस्तुतः हम जानते हैं कि यद्यपि उत्पत्तिके काममे लगे हुए लोगों की संख्या मुश्किलसे सभ्य संसारके निवासियोंकी एक-तिहाई होगी तथापि वे आज भी इतना माल पैदा कर लेते हैं जिससे प्रत्येक घर एक खास हदतक सुखी हो सकता है। हमे यह मालूम है कि जो दूसरोंकी खरी कमाई बरबाद करनेमें ही लगे हुए हैं, वे सब लोग यदि किसी उपयोगी कार्यमें अपना खाली समय व्यतीत करनेको विवश किये जा सकें तो हमारी उत्पत्तिका परिणाम बहुत बढ जाय। इसी प्रकार यह भी मालूम हो चुका है कि मानव-जातिकी सन्तानोत्पादन शक्तिसे माल पैदा करनेकी शक्ति तेज है। भूमिपर मनुष्योंकी जितनी घनी बस्ती होगी, उतनी ही उनकी सम्पत्ति उत्पन्न करनेकी शक्ति बढ़ेगी।

इग्लैंडमे सन् १८४४ से १८९० तक आबादी सिर्फ ६२ फीसदी बढ़ी, पर वहाँकी उत्पत्ति कम-से-कम उससे दुगुनी बढ़ी, अर्थात् १३० फीसदी। फ्रांसमे आबादी और भी धीरे-धीरे बढ़ी है, परन्तु उत्पत्तिकी वृद्धि तो वहाँ भी बहुत तेज ही हुई है। यद्यपि वहाँ खेतीपर बारबार संकट आये हैं, राज्यके हस्तक्षेप, 'रक्तकर' (अनिवार्य भरती) और व्यापार तथा लेन-देनमें सट्टेबाजीकी बाधायें रही हैं, फिर भी पिछले अस्सी वर्षोंमें गेहूंकी उत्पत्ति चौगुनी और कल-कारखानोके मालकी उत्पत्ति दस गुनी बढ़ गई है। अमेरिकामें तो इससे भी अधिक प्रगति हुई है। यद्यपि

विदेशोंके लोग वहाँ आ-आकर बस गये, या सच तो यह है कि यूरोपके फालतू श्रमिक वहाँ जाकर भर गये, फिर भी संपत्ति दसगुनी बढ़ गई है।

परन्तु इन आँकड़ोंसे तो सम्पत्तिकी उस वृद्धिका धुंधला-सा ही अनुमान हो सकता है जो परिस्थितिके और अच्छी हो जानेपर हो सकती है, क्योंकि आजकल तो जहाँ हमारी सम्पत्ति-उत्पादनकी शक्ति शीघ्रतासे बढ़ी है वहाँ साथ-ही-साथ निठल्ले और बीचवाले लोगोंकी संख्या भी बहुत अधिक बढ़ी है। समाजवादियोंका खयाल था कि पूंजी धीरे-धीरे थोड़े-से व्यक्तियोंके हाथमें ही केन्द्रीभूत हो जायगी और फिर समाजको अपना न्याय्य उत्तराधिकार पानेके लिए केवल उन मुट्ठी भर करोड़पतियों की सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी। पर वास्तव मे बात उल्टी ही हो रही है; मुफ्तखोरोंका दल बराबर बढ़ ही रहा है।

फ्रांसमें हर तीस आदमी के पीछे दस भी वास्तविक उत्पादक नहीं हैं। देशकी सारी कृषि-सम्पत्ति सत्तर लाखसे भी कम आदमियों की कमाई है और खानों तथा कपडेके दोनों प्रधान उद्योगोंमें पच्चीस लाखसे भी कम मजदूर हैं। मजदूरोंको लूट-लूटकर खानेवाले कितने है। ब्रिटिश संयुक्त-राज्यमें स्त्री-पुरुष और बालक मिलाकर कुल दस लाखसे कुछ ही अधिक मजदूर कपड़ेके धंधेमें लगे हैं, नौ लाखसे कुछ कम मजदूर खानोंमें काम करते है, भूमि जोतने-बोनेमें भी बीस लाखसे बहुत कम मजदूर काम करते हैं और पिछली औद्योगिक गणनाके समय सारे उद्योग-धधोंमे चालीस लाखसे कुछ ही अधिक स्त्री-पुरुष और बालक थे। फलतः गणना-विभाग वालोंको अपने गणनांक बढ़ाने पडे, इसलिए कि साठ करोड़ जन-संख्यापर उत्पादकों की संख्या अस्सी लाख दिखाई जा सके। सच पूछिए तो जो माल ब्रिटेनसे दुनिया के हर हिस्सेमें भेजा जाता है उसका निर्माण करने वाले साठ-सत्तर लाख मजदूर ही हैं। और इसके मुकाबलेमें जो लोग मजदूरोंकी मेहनतका बड़े-से-बड़ा लाभ स्वयं ले लेते हैं और उत्पादक और खरीददारके बीचमें पहुँचकर बिना श्रम किये सम्पत्ति संचित कर लेते हैं, उनकी संख्या कितनी है?

किंतु इस शक्तिके द्रुत विकासके साथ-साथ निठल्ले और बीचवाले

दलालोंकी संख्यामें भी भारी वृद्धि हो रही है। यदि पूंजी धीरे-धीरे थोड़े-से आदमियोंके हाथमें ही एकत्र होती जाय तब तो समाजको केवल इतना ही करना पड़े कि मुट्ठीभर करोड़पतियोंसे छीनकर वह जिनकी है उन्हें दे दी जाय। पर बात समाजवादियोंकी इस कल्पनाके सर्वथा विपरीत हो रही है। मुफ्तखोरोंका दल बुरी तरह बढ़ता जा रहा है।

इतना ही नहीं, पूंजीपति लोग मालकी पैदावार भी बराबर घटाते रहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि 'आयस्टर' (घोंघों) की गाड़ियों-की-गाड़ियाँ समुद्रमें सिर्फ इसलिए फेंक दी जाती हैं कि जो चीज आजतक केवल धनवानोंके उपभोगकी वस्तु थी वह कहीं गरीबोंका खाद्य न बन जाय। और भी सैकड़ों विलास-वस्तुओंका यही हाल होता है। वे कहाँतक गिनाई जायं! केवल यह याद रख लेना काफी है कि किस प्रकार अत्यंत आवश्यक वस्तुओं की पैदावार सीमित की जाती है। लाखों मजदूर रोज कोयला खोदनेको तैयार हैं, जिसमें वह कोयला ठंडसे ठिठुरते हुए लोगोंको गरमी पहुँचानेके लिए भेजा जा सके। किंतु बहुधा उनमेंसे एक-तिहाई या आधेतकको सप्ताहमें तीन दिनसे अधिक काम नहीं करने दिया जाता। क्यों? इसलिए कि कोयलेका भाव ऊंचा रखना है। हजारों जुलाहों को करघे नहीं चलाने दिया जाता, भले ही उनके स्त्री-बच्चोंके तन ढकनेके लिए चीथड़े भी मयस्सर न हों और यूरोपके तीन-चौथाई लोगोंको काफी कपड़ा न मिले।

सैकड़ों भट्टियाँ, हजारों कारखाने समय-समयपर बेकार रहते हैं। बहुतों में सिर्फ आधे समय काम होता है। प्रत्येक सभ्य देशमें लगभग बीस लाख मनुष्य तो ऐसे बने ही रहते हैं* जिन्हें काम चाहिए पर दिया नहीं जाता।

यदि इन लाखों नर-नारियोंको काम दिया जाय तो वे कितने हर्षसे बंजर जमीनको साफ करके या खराब जमीनको उपजाऊ बनाकर उम्दा फसलें तैयार करनेमें लग जायं! इनका एक ही वर्ष का सच्चे दिलसे किया हुआ परिश्रम लाखों बीघा बेकार जमीनकी पैदावारको पाँचगुना कर देनेके

*भारतमें यह संख्या करोड़ों तक पहुंचेगी।

लिए काफी होगा। किंतु दुर्भाग्य तो देखिए कि जो लोग धनोपार्जनकी विविध दिशाओंमें अग्रगामी बननेमें सुख मानते हों उन्हींको केवल इस कारण हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना पड़ता है कि भूमि, खानों और उद्योग-शालाओंके स्वामी समाजको चूस-चूसकर उस धनको तुर्की या मिश्रमें या और कहीं लगाना पसंद करते हैं और वहाँके लोगों को भी गुलाम बनाते हैं।

यह तो हुई उत्पत्तिको जान-बूझकर और प्रत्यक्ष रूपसे कम करने की बात। किन्तु इसका एक अप्रत्यक्ष ढंग भी है जिसका कोई हेतु ही समझमें नहीं आता। वह ढंग यह है कि सर्वथा निरर्थक पदार्थोंके बनानेमें मानवीय परिश्रम खर्च किया जाता है, जिससे धनवानोके थोथे गर्वकी तुष्टिभर होती है।

यह हिसाब लगाना अवश्य है कि जिस शक्तिसे उत्पादनका और उससे भी अधिक उत्पादकयंत्र तैयार करने का काम लिया जा सकता है उस शक्तिका कितना अपव्यय किया जाता है और सम्पत्तिका उपार्जन किस सीमातक कम किया जाता है। इतना बता देना काफी है कि बाजारोंपर प्रभुत्व प्राप्त करने, पड़ोसी देशोंपर बलात् अपना माल लादने और स्वदेशके गरीबोंका खून आसानीसे चूस सकनेके एकमात्र उद्देश्यसे यूरोप सेनाओंपर बेशुमार रुपया खर्च करता है। करोड़ों रुपया हर साल नाना प्रकारके कर्मचारियोंके वेतनपर व्यय किया जाता है। और इन कर्मचारियोंका काम क्या है? यही कि वे अल्पसंख्यक लोगों अर्थात् मुट्ठीभर धनिकोंके राष्ट्रके आर्थिक जीवनका गति-चक्र अपने हाथोंमें रखनेके हककी रक्षा करें? करोड़ों रुपया न्यायाधीशों, जेलखानों, पुलिसवालों और तथोक्त न्यायके दूसरे कार्योंपर खर्च किया जाता है। और यह सब निरर्थक व्यय है; क्योंकि यह अनुभवकी बात है कि बड़े-बड़े नगरोंमें जब-जब जनताका थोड़ा-सा भी कष्ट-निवारण हुआ है तब-तब अपराधों की संख्या और मात्रा बहुत कम हो गई है। इसी प्रकार करोड़ों रुपया दल या राजनीतिज्ञ विशेष अथवा सट्टेबाजोंके किसी विशेष समूहके लाभके लिए समाचार-पत्रों द्वारा हानिकर सिद्धांतों और झूठी खबरोंके फैलाये जानेमें

लगाया जाता है।

किन्तु सबसे अधिक विचार तो उस परिश्रमका करना है जो सर्वथा व्यर्थ जाता है। कहीं तो धनवानोंके लिए अश्वशालाएं, कुत्तेखाने और नौकरों के दलके-दल रखे जाते हैं; कहीं समाजकी बेहूदगियों और फैशन-परस्तोंकी कुरुचियोंको तृप्त करनेके लिये सामग्री जुटाई जाती है; कहीं ग्राहक अनावश्यक वस्तुएं खरीदनेको विवश किए जाते हैं या झूठे विज्ञापन देकर घटिया माल उनके सिर मढ़ दिया जाता है, अथवा कारखानेदारोंके फायदेके लिए सर्वथा हानिकारक चीजें तैयार की जाती हैं। इस प्रकार जिस सम्पत्ति और शक्तिकी हानि की जाती है उससे उपयोगी वस्तुओंकी उत्पत्ति दुगुनी हो सकती है, या कारखाने इतने यंत्रोंसे सुसज्जित किये जा सकते हैं कि थोड़े ही समयमें दूकानें उस मालसे भर जायं जिसके बिना अधिकांश जनता दुःख उठा रही है। वर्तमान व्यवस्थामें तो प्रत्येक राष्ट्रके चतुर्थांश उत्पादक सालमें तीन-चार महीने बेकार रहने को लाचार होते हैं और आधे नहीं तो एक-चौथाई लोगोंकी मेहनत-का, धनवानोंके मनोरंजन तथा जनताके रक्तशोषणके सिवाय, दूसरा उपयोग नहीं होता।

इस प्रकार यदि हम एक ओर इस बातका विचार करें कि सभ्य राष्ट्रोंकी उत्पादन-शक्ति किस तेजीसे बढ़ रही है और दूसरी ओर इसका कि वर्तमान परिस्थितिके कारण कितना कम माल उत्पन्न किया जाता है, तो हम इस नतीजेपर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि यदि हमारी आर्थिक व्यवस्था जरा और बुद्धि-संगत हो जाय तो कुछ ही वर्षोंमें इतने उपयोगी पदार्थोंका ढेर लग जाय कि हमें कहना पड़े, "बस बाबा! इतना रोटी, कपड़ा और ईंधन काफी है! अब हमें शान्तिपूर्वक यह सोचने दो कि हम अपनी शक्ति और अवकाशका सर्वोत्तम उपयोग कैसे करें।"

हम फिर कहते हैं कि सबको विपुल सुख-सामग्री मिले, यह कोई स्वप्न नहीं है। उस समय यह भले ही स्वप्न रहा हो जब बीघे भर जमीनसे मर-पचकर भी थोड़े-से गेहूं ही पल्ले पड़ते थे और खेती और उद्योगके

सारे औजार लोगोंको हाथसे ही बनाने पड़ते थे। किन्तु अब यह कोरी कल्पना नहीं रहा, क्योंकि ऐसी चालक (मोटर) शक्ति खोज निकाली गई है जो थोड़े-से लोहे और कुछ बोरे कोयलेकी सहायतासे उसे घोड़ेके समान बलवान और आज्ञाकारी मशीनो तथा अत्यंत जटिल यन्त्रजालका स्वामी और संचालक बना देती है।

परन्तु यह कल्पना तभी सत्य हो सकती है जब यह विपुल धन, ये नगर, भवन, गोचर-भूमि, खेतीकी जमीन, कारखाने, जल-स्थल-मार्ग और शिक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे और एकाधिकार-प्राप्त लोग इनका मनमाना उपयोग न कर सकें। यह सब बहुमूल्य संपत्ति जिसे हमारे पूर्वजों ने बड़े कष्टसे कमाया, बनाया, सजाया अथवा खोज निकाला, सबकी सम्मिलित संपत्ति बन जानी चाहिए, जिससे मानव-जातिके संयुक्त हिताहितका ध्यान रखकर सबका अधिक-से-अधिक भला किया जा सके। निःसंपत्तीकरण— वैयक्तिक स्वामित्वका अंत होना ही चाहिए। सबका सुख साध्य है, निःसंपत्तीकरण साधन है।

## २

तो बस, निःसंपत्तीकरण—मनुष्यको सुखी बनानेके सभी साधनोंकी साम्यवादी व्यवस्था ही बीसवीं शताब्दीकी वह समस्या है जो इतिहासने उसके सामने रखी है।

पर यह समस्या कानूनके द्वारा हल नहीं की जा सकती। इसकी कोई कल्पना भी नहीं करता। क्या गरीब और क्या अमीर, सभी समझते हैं कि न तो वर्तमान सरकार और न भावी राजनीतिक परिवर्तनोंसे उत्पन्न होनेवाला कोई शासन ही इस समस्याको कानूनसे हल करनेमें समर्थ होगा। सबको सामाजिक क्रांतिकी आवश्यकता मालूम होती है। निर्धन और धनवान दोनों मानते हैं कि यह क्रांति निकट आ पहुँची है और कुछ ही वर्षोंमें होनेवाली है।

उन्नीसवी शताब्दिके उत्तरार्धमें विचारोंमें बड़ा परिवर्तन हुआ। संपत्तिशाली वर्गने इसे दबा रखने और इसकी स्वाभाविक बाढ़ मार

देनेकी बहुत कोशिश की। किन्तु यह नवीन भावना अपने बंधन तोड़कर अब क्रांतिके रूपमें मूर्तिमान हुए बिना नहीं रह सकती।

क्रांति आएगी किधरसे? इसके आगमनकी घोषणा कैसे होगी? इन प्रश्नोंका उत्तर कोई नहीं दे सकता। भविष्य अभी अज्ञातके गर्भमें है; पर जिनके आँखें हैं और मस्तिष्क है वे उसके लक्षणोंको समझनेमें गलती नहीं करते। मजदूर और उनके रक्त-शोषक, क्रांतिवादी और प्रतिगामी, विचारक और कर्ममार्गी, सभीको ऐसा मालूम हो रहा है कि क्रांति हमारे द्वारपर खड़ी है।

अच्छा, तो जब यह बिजली गिर चुकेगी तब हम क्या करेंगे?

हम प्रायः क्रांतियोंके आश्चर्यजनक दृश्योंका अध्ययन तो इतना अधिक करते हैं और उनके व्यावहारिक अंगपर इतना कम ध्यान देते हैं कि सम्भव है हम इन महान् आंदोलनोंके तमाशे—शुरूके दिनोंकी लड़ाई—मोर्चेबन्दीको ही देखकर रह जायं। पर यह प्रारंभकी भिड़ंत जल्दी ही खत्म हो जाती है। क्रांतिका सच्चा काम तो पुरानी रचनाके छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद ही शुरू होता है।

पुराने शासन अशक्त और जर्जर तो होते ही हैं, आक्रमण भी उन पर चारों ओरसे होता है। बेचारे विद्रोहकी फूंक लगते ही उड़ जाते हैं। जनसाधारणकी क्रांतिके सामने तो पुरातन व्यवस्थाके विधाता और भी तेजी के साथ गायब हो जाते हैं। उसके समर्थक देशको छोड़ भागते हैं और अन्यत्र सुरक्षित बैठकर षड्यन्त्रोंकी रचना और वापस लौटनेके उपाय सोचा करते हैं।

जब पुरानी सरकार नहीं रहती तो सेना भी लोकमतके ज्वारके सामने खड़ी नहीं रहती। सेनानायक भी दूरदर्शिता-पूर्वक भाग जाते हैं और सिपाही उनका कहना नहीं मानते। सेना या तो निरपेक्ष खड़ी रहती है अथवा विद्रोहियोंमें मिल जाती है। पुलिस आरामसे खड़ी-खड़ी सोचती है कि भीड़को मारें या हम भी 'कम्यून (स्वतंत्र प्रादेशिक सरकार) की जय' बोल दें। कुछ पुलिस वाले ऐसे भी निकल आते हैं जो अपने-अपने स्थान-पर पहुंचकर नई सरकारकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगते हैं। धनवान्

नागरिक अपनी-अपनी पेटियाँ भरकर सुरक्षित स्थानोको चल देते हैं। साधारण लोग रह जाते हैं। क्रांति देवीका अवतरण इसी प्रकार होता है।

कई बडे-बडे शहरोंमें कम्यूनकी घोषणा कर दी जाती है। हजारों आदमी बाजारोंमें इधर-उधर घूमने लगते हैं और शामको सभास्थलोंमें जाकर पूछते हैं 'हम क्या करें ?' इस प्रकार सार्वजनिक मामलोंपर उत्साह-पूर्वक चर्चा होने लगती है। सब उनमें दिलचस्पी लेने लगते हैं। जो लोग कलतक उदासीन थे वे ही शायद सबसे अधिक उत्साह दिखाने लगते हैं। सर्वत्र सद्भावना और विजयको पक्की कर देने की उत्कट लालसा पाई जाती है। ऐसे ही समयमे अपूर्व देशभक्तिके कार्य होते हैं। जनसाधारणमें आगे बढ़नेकी भरपूर अभिलाषा होती है।

ये सब बाते शानदार और महान होती हैं। किन्तु ये भी क्राँति नही है। बात यह है कि क्राँतिकारियोका कार्य तो यहासे शुरू होता है। निस्संदेह प्रतिहिंसाके कार्य होंगे। जनताके कोपभाजन व्यक्ति अपने किये का फल पायेगे। किन्तु ये बाते भी क्रांति नही हैं, केवल संग्रामकी स्फुट घटनाएं हैं।

समाजवादी राजनीतिज्ञ, कट्टर सुधारक, कलतक जिनकी कहीं पूछ नहीं थी ऐसे प्रतिभाशाली पत्रकार और हाथ-पैर पीटकर भाषण करने वाले वक्ता—मध्यवित्त और मजदूर सभी—जल्दी-जल्दी नगर-भवन और सरकारी दफ्तरोंमें पहुचकर रिक्त स्थानोंपर अधिकार कर लेंगे। कुछ लोग जी भरकर अपने शरीरको सोने-चादीके आभूषणोंसे सजा लेंगे; मंत्रियोंके दर्पणोंमे उन्हें देख-देखकर अपनी सराहना करेंगे और अपने पदके अनुरूप महत्त्वसूचक मुद्रा धारणकर आज्ञा देना सीखेंगे। इन गौरव चिह्नोके बिना वे अपने कारखाने या दफ्तरके साथियों पर रोब कैसे गांठ सकते हैं ? दूसरे लोग सरकारी कागजातमें गड़ जायेंगे और सच्चे दिलसे उन्हें समझनेकी कोशिश करेंगे। ये कानून बनायेंगे और बडे-बडे हुक्म निकालेंगे। पर इनकी तामील करनेको कष्ट कोई न उठायेगा। क्रांति जो ठहरी!

उन्हें जो अधिकार मिला नहीं है उसका ढोंग रचनेके लिए वे पुराने

शासनके स्वरूपका सहारा लेंगे। वे 'अस्थायी सरकार', 'सार्वजनिक रक्षा-समिति', 'नगर-शासक' इत्यादि अनेक नाम ग्रहण करेंगे। निर्वाचित हों अथवा स्वयंभू, वे समितियो और परिषदोंमें बैठेंगे। वहाँ दस-बीस अलग-अलग विचार-सरणियोंके लोग एकत्र होंगे। उनके मस्तिष्कमें क्रांतिके क्षेत्र, प्रभाव और ध्येयकी भिन्न-भिन्न कल्पनायें होंगी। वे वाग्युद्धमें अपना समय बर्बाद करेंगे। ईमानदार लोगोंका एक ही स्थानमें ऐसे महत्त्वा-कांक्षियोंसे पाला पड़ेगा जिन्हें केवल शक्ति-अधिकारकी चाह है और जो उसके मिलनेपर जिस जनतामेंसे वे निकलते हैं उसीको ठोकर मारते हैं। ये परस्पर-विरोधी विचारोंके लोग एकत्र होंगे जिन्हें आपसमें क्षणभंगुर संधियां करनी पड़ेगी, जिनका उद्देश्य सिर्फ बहुमत बनाना होगा। परन्तु यह बहुमत एक दिनसे ज्यादा टिकने का नहीं। परिणाम यह होगा कि ये आपसमें लड़ेंगे, एक दूसरेको अनुदार, सत्तावादी और मूर्ख बतायेंगे, किसी गम्भीर विषयपर एकमत न हो सकेंगे, जरा-जरासी बातों पर वाद-विवाद करेंगे और सिवाय लम्बी-चौड़ी घोषणायें निकालनेके और कोई ठोस काम न कर सकेंगे। एक ओर तो ये लोग इस प्रकार अपना महत्त्व प्रदर्शित करते रहेंगे और दूसरी ओर आंदोलनकी सच्ची शक्ति बाजारोंमें भटकती फिरती होगी।

इन बातोंसे अभिनयप्रिय लोग भले ही खुश हो लें, किन्तु यह भी क्रांति नहीं है।

हां, इस बीचमें जनताको तो कष्ट भोगने ही होते हैं। कारखाने बन्द रहते हैं। व्यापार चौपट हो जाता है। मजदूरोंको जो थोड़ी-सी मजदूरी पहले मिलती थी वह भी नहीं मिलती। खाद्य पदार्थोंका भाव चढ़ जाता है। फिर भी जन-साधारण उस वीरोचित निष्ठाके साथ जो सदा उनकी विशेषता रही है और जो महान् संकटोंके अवसरों पर और भी उच्च हो जाती है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। सन् १८४८ में उन्होंने कहा था कि हम प्रजातंत्र सरकारसे तीन महीने तक कुछ न मांगेंगे।" परन्तु उनके 'प्रतिनिधि' और नई सरकारके बाबू लोग और दफ्तरके अदना-से-अदना पदाधिकारीतक नियमसे तनख्वाह लेते रहे।

जनता कष्ट उठाती है। बालोचित विश्वास और स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ लोग सोचते हैं कि "नेताओंपर भरोसा रखना चाहिये। वे 'वहां', उस सभाभवन, नगरभवन, या सार्वजनिक रक्षा-समितिमें हमारी भलाई सोच रहे हैं।" परन्तु 'वहां' तो नेतागण दुनियाभरकी बातोंपर विवाद किया करते हैं, केवल जनताके हितकी चर्चा नहीं करते। १७९३ में जब फ्रांसमें दुष्काल पड़ गया और उसने क्रांतिको पंगु कर दिया, जब लोगोंकी बुरी दशा हो रही थी, यद्यपि बाजारोंमें शानदार बग्घियोंकी भीड़ वैसी ही लगी रहती थी और स्त्रियां बढ़िया-बढ़िया आभूषण और पोशाकें पहनकर निकलती रहती थीं, तब रावेसपियेर जैकोबिन दलवालोंसे आग्रह कर रहा था कि वे इंग्लैंडकी राज्य-व्यवस्थापर लिखे हुए उसके ग्रन्थपर बहस ही कर लें। १८४८ में मजदूर लोग तो व्यापार-व्यवसाय बन्द हो जानेके कारण कष्ट पा रहे थे, पर अस्थायी सरकार और राष्ट्रसभा इसपर झगड़ रही थी कि सिपाहियोंको पेंशन क्या दी जाय और जेलखानोंमें मशक्कत कैसी ली जाय? उन्हें उस बातकी फिक्र न थी कि जनता इस विपत्तिकालमें किस प्रकार दिन काट रही है। पेरिसकी कम्यून-सरकार ( १८७१ ई० ) जो प्रुशियाकी तोपोंकी छायामें जन्मी थी और केवल सत्तर दिन ही जीवित रह पाई, उसने भी यही गलती की। उसने नहीं समझा कि अपने योद्धाओंको पेटभर खिलाये बिना क्रांति सफल कैसे होगी और सिर्फ थोड़ा-सा दैनिक वेतन नियत कर देने से ही कैसे कोई आदमी युद्ध कर सकेगा और कैसे अपने परिवारका पोषण करेगा।

इस प्रकार कष्ट भोगती हुई जनता पूछती है—"इन कठिनाइयोंसे पार पानेका उपाय क्या है?"

३

इस प्रश्नका एक ही उत्तर दिखाई देता है। वह यह कि हमें यह बात मान लेनी चाहिए और उच्च स्वरसे उसकी घोषणा कर देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्यको और सब बातोंके पहले जीवित रहनेका अधिकार है,

फिर चाहे वह मनुष्य-समाजमें किसी भी श्रेणीका हो, बलवान हो या निर्बल, योग्य हो अथवा अयोग्य। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाजके हाथमें जीवनके जितने साधन हैं उनको सबमें निरपवाद रूपसे बाँट देना उसका कर्तव्य है। हमे इस सिद्धान्तको मानकर उसपर चलना भी चाहिए।

क्राँतिके प्रथम दिनसे ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि श्रमजीवी यह जान जाय कि उसके लिए नवीन युगका उदय हो गया। भविष्यमें किसीको पासमे महल होते हुए पुलके नीचे दुबककर सोनेकी मजबूरी न होगी, धनका बाहुल्य रहते हुए किसीको भूखों न मरना पडेगा। सब चीजे सबके लिए है, यह बात कोरी कल्पना ही न रहेगी, व्यवहार में भी चरितार्थ होगी। क्रांतिके प्रथम दिनसे ही श्रमजीवीको यह मालूम पड़ना चाहिए कि इतिहासमे पहली ही बार ऐसी क्रांति हुई है जो जनताको उसके कर्तव्योंका उपदेश देनेसे पूर्व उसकी आवश्यकताओंका विचार करती है।

यह सब कानूनसे न होगा। काम करनेका एकमात्र सच्चा और वैज्ञानिक ढंग अख्तियार करना होगा—ऐसा ढंग जिसे सर्वसाधारण समझ सकते और चाहते हों। वह यह है कि सबके सुख-सम्पादनके लिए आवश्यक साधनोंपर तुरंत और पक्का कब्जा कर लिया जाय। अन्नभण्डारों, कपडेकी दुकानों और निवास-स्थानोंपर जनताका अधिकार हो जाना चाहिए। कोई चीज बर्बाद न होनी चाहिए। शीघ्र इस प्रकारका संगठन करना चाहिए कि भूखोंको भोजन मिले, सबकी आवश्यकतायें पूरी हों और उत्पत्ति इस प्रकार हो कि उससे व्यक्ति या समूह विशेषको ही लाभ न पहुँचे बल्कि सारे समाजके जीवन और विकासको सहायता मिले।

फ्रासकी १८४८ की क्राँतिमें 'काम करनेका अधिकार' इस वाक्य-खंडसे लोगोंको बड़ा धोखा दिया गया। और अब भी ऐसे ही दोमानी वाक्योंसे धोखा देनेकी कोशिश होती है। परंतु अब इनकी जरूरत नहीं है। हमें साहस करके "सबके सुख" के सिद्धांतको स्वीकार करना और उसकी सम्भावनाको पूर्ण करना चाहिए।

१८४८ में जब श्रमजीवियोंने काम करनेके अधिकारका दावा किया तो राष्ट्रीय और म्युनिसिपल कारखाने बनाये गये और वहाँ वे २० पैंस रोजाना मजदूरीपर पिसनेके लिए भेज दिये गये! जब उन्होंने कहा कि "श्रमिकोंका संगठन" होना चाहिए तो जवाब दिया गया—"मित्रो, धैर्य रखो। सरकार इसका इंतजाम कर देगी। अभी तो तुम मजदूरी लेते चलो। वीर श्रमिको, जीवन-भर भोजनके लिए युद्ध किया है, अब तो जरा आराम ले लो!" इस बीच तोपें सुधार ली गईं, फौज बुला ली गयी और मध्यम वर्ग की जानी हुई तरह-तरहकी तरकीबोंसे श्रमिक निश्शस्त्र कर दिये गये। यहाँ तक कि जून १८४८ के एक दिन, जिस्रला सरकारका उत्तर देनेके चार मास बाद ही, उनसे कह दिया गया कि अफ्रीकामें जाकर बसो नहीं तो गोलियोंके निशाना बना दिये जाओगे।

परन्तु सुखपूर्वक जीवित रहनेके अधिकारपर आरूढ़ होनेमें जनता इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरे अधिकारकी भी घोषणा करती है। वह यह कि इस बातका निर्णय भी वही करेगी कि उसको सुख किन चीजोंसे मिलेगा, उस सुखकी प्राप्तिके लिए कौन-कौनसी वस्तु उत्पन्न करनी होगी और किस-किसको निकम्मी समझकर फेंक देना होगा।

'काम करनेका अधिकार' और 'सबका सुख' इन दोनों सिद्धान्तों का भेद समझने-योग्य है। पहले का अर्थ इतना ही है कि श्रमजीवी सदा थोड़ी-सी मजदूरीका पाश बना रहे, कठोर परिश्रम करनेको विवश हो, उसपर मध्यम वर्गके लोगोंका शासन बना रहे और वे उसका रक्त-शोषण करते रहें। दूसरे सिद्धान्तका अर्थ यह है कि श्रमजीवी मनुष्योंकी भांति रह सकें और उनकी संतानको वर्तमानसे अच्छा समाज मिले। अब समय आगया है कि व्यापारवादके चक्रोंमें न पिसते रहकर सामाजिक क्रांति की जाय और श्रमजीवियोंको उनके नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हों।

: ३ :

# अराजक साम्यवाद

## १

हमारा विश्वास है कि व्यक्तिगत संपत्तिका अंत कर देनेके बाद प्रत्येक समाजको अपना सगठन अराजक साम्यवादके ढंगपर करना पडेगा। अराजकताका परिणाम साम्यवाद (कम्यूनिज्म) और साम्यवादका परिणाम अराजकता होता ही है, क्योंकि दोनोंका ही उद्देश्य समानताकी स्थापना है।

एक समय ऐसा था जब एक किसान-कुटुम्ब यह समझता था कि जो अनाज वह उत्पन्न करता है या जो कपडे वह बुनता है वह उसीकी जमीनकी पैदावार है। किन्तु यह दृष्टि भी सर्वथा निर्दोष नहीं थी। सड़कें, पुल, दलदल और चरागाह आदि ऐसी बहुत-सी चीजें थीं जिनके बनाने, साफ करने और ठीक रखनेमें सब लोगोंको परिश्रम करना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति बुनाई या रंगाईमें कोई सुधार करता था तो उसका लाभ सभीको मिलता था। कोई परिवार एकाकी होकर जीवित नहीं रह सकता था; उसे अनेक प्रकारसे पूरे गाव या मण्डलपर अवलंबित रहना पड़ता था।

आज तो यह दावा करनेकी जरा भी गुंजाइश नहीं है कि पैदावार व्यक्ति-विशेषकी मेहनतका फल है, क्योंकि आधुनिक उद्योग-धन्धोंके क्षेत्रमें सभी चीजें एक-दूसरीपर अवलंबित हैं और उत्पत्तिके सारे विभाग परस्पर गुंथे हुए हैं। सभ्य देशोंमें कपडे और खानके उद्योगोंने जो आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है उसका कारण यह है कि उनके साथ-साथ सैकड़ों छोटे-बड़े दूसरे उद्योगोंका विकास हुआ है, रेल-मार्गका विस्तार हुआ है, समुद्र-यात्राके रास्ते खुल गये हैं, हजारों मजदूरोंकी

हाथकी कारीगरी बढ़ गई है और सारे श्रमजीवी समाजकी संस्कृतिका मान ऊंचा हो गया है। सार यह कि उन उद्योगोंको संसारके सभी भागोंमे रहने वाले मजदूरोंके परिश्रमका लाभ मिला है।

तब यह हिसाब कैसे लगाया जाय कि सबके परिश्रमसे पैदा होनेवाले धनमे प्रत्येक व्यक्तिका कितना हिस्सा हो? समष्टिवादियों (Collectivists) की यह तजवीज तो न कोई आदर्श व्यवस्था होगी और न उचित कार्य ही कि जिसने जितने घंटे काम किया हो उसे उतनी ही मजदूरी दे दी जाय। जब हम समाजकी यह कल्पना रखकर चलते हैं कि उसमें काम करनेके साधन समाजकी सम्मिलित सम्पत्ति हैं तो हमे मजदूरीका सिद्धात छोड़ना ही पड़ेगा, चाहे वह किसी भी रूपमें हो।

मजदूरी देनेकी प्रणालीका जन्म भूमि और उत्पत्तिके अन्य साधनोंपर व्यक्तियोंका अधिकार होनेके सिद्धातसे हुआ है। पूंजीवादके विकासके लिए यह आवश्यक थी! उसके नाशके साथ इसका नाश भी अनिवार्य है। जब हम परिश्रमके साधनोंको सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मान लेंगे तो सम्मिलित परिश्रमका फल भी सब मिलकर ही भोगेंगे।

हमारा दूसरा विश्वास यह है कि साम्यवाद केवल वांछनीय ही नहीं है, बल्कि वर्तमान समाज, जिसकी बुनियाद व्यक्तिवादपर है, बलात् उसकी ओर ही जा रहा है। पिछले तीन सौ वर्षोंमें व्यक्तिवादके इतना बढ़नेका कारण यही है कि धन और सत्ताके अत्याचारोंसे अपनी रक्षा करनेमे व्यक्तियोंको बड़ी कोशिश करनी पड़ी है। कुछ समय तक व्यक्तिवादी यह समझते रहे कि व्यक्ति राज्य और समाजसे बिल्कुल आजाद हो सकता है। वे कहते थे कि रुपयेसे सब कुछ खरीदा जा सकता है। परन्तु आधुनिक इतिहासने उन्हे बता दिया है कि यह खयाल गलत है। चाहे तिजोरियां सोनेसे भरी पडी हों, पर मनुष्य सबकी मदद के बिना कुछ नहीं कर सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिवादकी लहरके साथ-साथ एक ओर तो प्राचीन आंशिक साम्यवादकी रक्षाका और दूसरी ओर आधुनिक

जीवनके अनेक प्रकारके विकासमें साम्यवादके सिद्धांतको प्रविष्ट करनेका प्रयत्न होता रहा है।

मध्यकालीन साम्यवादी नगर या मण्डल (कम्यून) ज्यों-ज्यों भूस्वामियों या धर्माधिकारियोंके चंगुलसे निकलते गये त्यों-त्यों सम्मिलित परिश्रम और सम्मिलित उपभोगका विस्तार और विकास भी होता चला गया। व्यक्ति नहीं, नगर सम्मिलित रूपसे माल जहाजोंमें भर-भर कर बाहर भेजने लगे और विदेशी व्यापारसे जो मुनाफा होता उसे सब मिलकर बांटने लगे। आरंभमें तो नगर-संस्थाएं ही सारे नागरिकोंके लिए खाद्य-पदार्थ भी खरीदती थीं। इन संस्थाओंके चिह्न उन्नीसवीं शताब्दि-तक पाये जाते थे। अब भी उसकी दंतकथाएं प्रचलित हैं। पर अब वे विलीन हो चुकी हैं। किन्तु ग्राम-संस्थाएं आज भी इस साम्य-वादका नाम बनाये रखनेकी चेष्टा कर रही हैं और सफल भी होती हैं। हां, जब राज्य उनपर आक्रमण करता है तो उनका कुछ वश नहीं चलता। इस बीच अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें नये-नये संगठन बन रहे हैं। इनका आधार वही सिद्धांत है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्यको उसकी आवश्यकता के अनुसार मिले। वस्तुतः साम्यवादके थोड़े-बहुत सहारेके बिना तो आधुनिक समाज जीवित ही न रह सकता। व्यापारिक प्रणालीके कारण भले ही लोगोंमें स्वार्थकी मात्रा बढ़ गई हो, किन्तु साम्यवादकी प्रवृत्ति और उसका प्रभाव अनेक प्रकारसे बढ़ रहा है। पहले सडकों और पुलोंपर जो यात्रा-कर लिया जाता था वह अब नहीं लिया जाता*। बालकोंके लिए निश्शुल्क अजायबघर, पुस्तकालय, पाठशालायें और भोजनालय उपलब्ध हैं। बाग-बगीचे सबके लिए खुले हैं। बाजारोंमें पक्की सड़कें और रोशनी सबके लिए मुफ्त है। प्रत्येक घरमें काफी पानी पहुँचाया जाता है। इस सारी व्यवस्थाका मूल यही सिद्धांत तो है कि 'जितनी जरूरत हो उतना ले लो।'

रेल और ट्राम-गाड़ियोंसे महीने-महीने और साल-साल भरके टिकट मिलने लगे हैं। उनसे जितनी बार चाहिए सफर कर लीजिए। कई राष्ट्रोंने

*भारतमें तो आज भी लिया जाता है।

तो यह नियम भी कर दिया है कि रेल-मार्ग से चाहे कोई पाँचसौ मील जाय चाहे हजार मील, किराया एक ही लगेगा। अब तो डाक-विभाग की तरह सब स्थानोंके लिए एक ही दाम लेनेके नियममें थोड़ी ही कसर रह गई है। इन अनेक नई-नई बातोंमें व्यक्तिगत खर्चका हिसाब लगानेकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। कोई आदमी पांचसौ मील जाना चाहे, दूसरे को आठसौ मील जाना हो, यह तो अपनी-अपनी जरूरतकी बात है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एकको दूसरेसे दुगुना पैसा देना चाहिए। इस प्रकारकी मनोदशा इस व्यक्तिवादी समाजको भी है।

एक प्रवृत्ति यह भी है—हल्की-सी ही सही—कि व्यक्तिकी आवश्यकताओंसे लिहाज किया जाय, उसकी पिछली या संभाव्य सेवाओंका खयाल न किया जाय। हम सारे समाजका विचार इस ढंगसे करने लगे हैं कि उसके प्रत्येक भागका दूसरेसे इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एकको सेवासे सबकी सेवा होती है। आप किसी पुस्तकालय मे जाइए। आपको पुस्तक देने से पहले आपसे कोई यह न पूछेगा कि आपने समाजकी क्या-क्या सेवायें की हैं। इतना ही नहीं, यदि आपको पुस्तक-सूची देखना न आता हो तो पुस्तकाध्यक्ष स्वयं आकर आपकी सहायता करेगा। इसी प्रकार वैज्ञानिक संस्थाओंमें प्रत्येक सदस्यको समान सुविधायें मिलती हैं। विज्ञान-शालाओंमें आविष्कार करनेके लिए जो लोग प्रयोग करना चाहते हैं उन्हे भी समान सुविधाएं दी जाती हैं। तूफानी समुद्रमें जब जहाज डूबता है तो रक्षा-नौका (लाइफ बोट) के खेवट अनजान यात्रियों की रक्षा भी अपनी जान जोखिममें डालकर समान-भावसे करते हैं। वे केवल इतना ही जान लेते हैं कि ये मनुष्य हैं और इन्हें सहायता की जरूरत है। बस उसीसे प्राण-रक्षा पानेका उनका हक कायम हो जाता है।

इस प्रकार कहनेको व्यक्तिवादी होते हुए भी समाज के हृदयमें समाजवादकी ओर जाने की प्रवृत्ति चारों तरफ अपने आप पैदा हो रही है, उसके रूप भिन्न भले ही हो। मान लीजिये हमारे किसी बड़े शहरपर, जो मामूली हालतमें स्वार्थवादी होता है, कल ही कोई

विपत्ति आपड़ी। मसलन शत्रुने उसके चारों तरफ घेरा डाल दिया। अब उस स्वार्थवादी नगरका यही निर्णय होगा कि सबसे पहले बच्चों और बूढ़ोंकी आवश्यकतायें पूरी की जायं। कोई यह न पूछेगा कि इन लोगोंने अबतक समाजकी क्या सेवा की है और आगे क्या करेंगे। पहले उन्हें खाने-पीनेको दिया जायगा, बादमें योद्धाओंकी खोज-खबर ली जायगी। उनमें भी इस बातका कोई भेद न किया जायगा कि किसने अधिक साहस अथवा बुद्धिमत्ता का सबूत दिया है। हजारों स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे बढ़-बढ़ कर प्रेम-पूर्वक घायलों की सेवा करेंगे।

यह प्रवृत्ति हममें रहती है और ज्यों ही सबकी बड़ी-बड़ी जरूरतें पूरी हो जाती हैं, दिखाई देने लगती हैं, तथा ज्यों-ज्यों समाजकी उत्पादन-शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों यह प्रवृत्ति बलवती होती जाती है। जब कोई महान् विचार दैनिक जीवनकी तुच्छ चिताओंको दबा देने के लिए आगे आता है तब तो यह प्रवृत्ति क्रियात्मक शक्तिका रुप धारण कर लेती है।

तो फिर यह संदेह कैसे हो सकता है कि जब उत्पत्तिके साधन सबके लिए सुलभ हो जायंगे, व्यवसाय साम्यवादके सिद्धान्तोंपर चलने लगेगा, मजदूर फिर से समाजमे प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करके सबकी जरूरतोंसे भी ज्यादा माल पैदा करने लगेंगे, तब यह परोपकारकी भावना और भी बृहद् रूप धारण न कर लेगी और अन्तमें सामाजिक जीवनका मुख्य नियम न बन जायगी ?

हम आगामी अध्यायोंमें निःसम्पत्तीकरणके व्यावहारिक रुपपर विचार करेंगे। उक्त लक्षणोंसे हमे यह विश्वास होता है कि जब क्रांति वर्तमान प्रणालीकी आधारभूत शक्तिको नष्ट कर देगी तो हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह होगा कि हम अविलम्ब साम्यवादको कार्यान्वित करें। परन्तु हमारा यह साम्यवाद अराजक या बिना किसी राज्य-शासनके स्वतंत्र लोगोंका साम्यवाद होगा। हमारा साम्यवाद मानव जातिके युग-युगमे प्रचलित दो आदर्शों—आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता—का समन्वय

२

जब हम अपने राजनीतिक संगठनको अराजक रूप देते हैं तो हम मानवीय प्रगतिकी दूसरी प्रमुख प्रवृत्तिको प्रदर्शित मात्र करते हैं। यूरोपीय समाजोंने जब कभी उन्नति की है तब उन्होंने राजसत्ताके जुएको अपने कन्धोंसे उतार फेंका है और उसके स्थानपर वैयक्तिक सिद्धान्तोंपर आश्रित प्रणालीकी स्थापनाकी है। इतिहास साक्षी है कि थोड़ी या बहुत जब कभी क्रांति हुई, जब पुरानी सरकारें उखाड़ दी गयीं, उस समय आर्थिक तथा बौद्धिक दोनो क्षेत्रोंमें तेजीसे उन्नति हुई। 'कम्यूनों' को मताधिकार मिल जानेके पश्चात् भी ऐसा ही हुआ। उस समय व्यवसायी संघोने जितनी उन्नति की उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। उस महान् किसान-विप्लवके पश्चात् भी ऐसा ही हुआ जिसके फलस्वरूप रिफार्मेशन ( धर्म-सुधार) का आंदोलन हुआ और पोपकी शक्ति नाममात्रको रह गयी। ऐटलांटिक महासागरके उस पार पुरानी दुनियाके असंतुष्ट जनों द्वारा स्थापित समाजमे भी ऐसा ही हुआ जो थोडे समयके लिए स्वतन्त्र हो गया था।

और यदि वर्तमान सभ्य जातियोंके विकासको हम ध्यानसे देखें तो हमें निस्सन्देह एक ऐसा आन्दोलन दिखाई देता है जो सरकारोंके कार्यक्षेत्रको सीमित करनेकी ओर अधिकाधिक झुकता जा रहा है और जो व्यक्तिको अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देता जाता है।

यह विकास हमारी आँखोंके सामने हो रहा है। यद्यपि यह विकास उन पुरानी संस्थाओंके कूड़े-करकट तथा पुराने अंध-विश्वासोंसे लदा हुआ है तथापि दूसरे सब विकासोंके समान उन प्राचीन विघ्न-बाधाओंको, जो रास्तेको रोकती हैं, उखाड़ फेंकनेके लिए वह केवल एक क्रांतिकी प्रतीक्षा कर रहा है जिसमें नवनिर्मित समाजमें बढ़ने-फैलनेके लिए वह पूरा मैदान पा सके।

मनुष्य बहुत समयतक एक असाध्य समस्याको हल करनेका प्रयत्न करता रहा है। वह चाहता है कि ऐसी राज्य-संस्था या सरकार

बन जाय जो व्यक्तिसे बल-पूर्वक आज्ञा-पालन भी कराये और साथ ही समाजकी सेविका भी बनी रहे। परन्तु ऐसी सरकार बन नहीं सकती। अंतमें वह हरएक प्रकारकी सरकारसे ही अपनेको स्वतन्त्र करनेका प्रयत्न करता है। वह समान उद्देश्य रखनेवाले व्यक्तियों और समूहोंके बीच स्वेच्छाप्रेरित सहयोग और सम्पर्क स्थापित करके अपने संगठनकी आवश्यकताको पूर्ण करने लगता है। प्रत्येक छोटे-से-छोटे प्रदेशकी स्वाधीनता आवश्यक हो जाती है। बहुधा वर्तमान राज्योंकी सीमाओंका उल्लंघन करते हुए सार्वजनिक हितके लिए किया गया आपसी समझौता कानूनका स्थान ले लेता है।

पहले जो कुछ राज्यका कर्तव्य समझा जाता था वह आज सन्देहका विषय है। राज्यके बिना भी प्रबंध अधिक सरलतासे और अच्छा हो जाता है। इस दिशामें अबतक जो प्रगति हुई है उससे हम इस नतीजेपर पहुंचते हैं कि मनुष्य-जातिकी प्रवृत्ति राज्य-संस्थाको मिटा देनेकी ओर है, जो वास्तवमें अन्याय अत्याचार और एकाधिकारका मूर्त्त रूप है।

अब भी हमें ऐसे जगतकी झांकी मिल सकती है जहाँ मनुष्य मनुष्यमें सम्बन्ध कायम रखनेवाली चीज कानून नहीं बल्कि सामाजिक रीति-रिवाज हैं। हम सबको इस बातकी जरूरत महसूस होती है कि हम अपने पड़ोसियोंका सहारा, उनकी मदद और उनकी सहानुभूति चाहें। हां, यह जरूर है कि राज्य-हीन समाजकी कल्पनापर उतनी ही आपत्ति की जायगी जितनी बिना व्यक्तिगत पूंजोके अर्थ-व्यवस्थाकी कल्पना पर। बात यह है कि बचपनसे हमें राज्यको एक तरहका ईश्वर समझना सिखाया जाता है। पाठशालासे लेकर विश्वविद्यालयतक यही शिक्षा दी जाती है कि राज्यमें विश्वास रखो और उसे मा-बाप समझो*। इस भ्रमको बनाये रखनेके लिए बड़े भारी तत्त्वज्ञानकी रचना की जाती है।

*क्रोपाटकिनने जब यह बात लिखी थी तबसे अवस्था बहुत ज्यादा बदल गई है। अब तो विश्वविद्यालयोंमें राजनीतिके विद्यार्थियों के लिए स्वतन्त्र गवेषणाका विस्तृत क्षेत्र खुला है।

सारी राजनीतिका आधार यही सिद्धान्त बनाया जाता है और हरएक राजनीतिज्ञ जब रंग-मंचपर आता है तो उसके विचार चाहे कुछ भी हों, वह जनतासे यह कहे बिना नहीं रहता कि "बस, मेरे दलके हाथमें राज-शक्ति दे दो; जिन दुःखोंके मारे तुम मरे जाते हो उनको हम दूर कर देंगे।"

सार यह है कि जन्मसे लेकर मृत्युतक हमारे सारे काम इसी एक विचारकी प्रेरणासे होते हैं। आप किसी भी पुस्तकको, वह चाहे समाज-विज्ञानकी हो या कानूनकी, खोल लीजिए। आप देखेंगे कि उसमें राज्यके संगठन और उसकी कार्रवाइयोंको इतना अधिक स्थान दिया जाता है कि लोग यह मानने लग जाते हैं कि संसारमें सिवाय राज्य और राजनीतिज्ञोंके और कुछ है ही नहीं।

अखबार भी हर तरहसे हमें यही पाठ पढ़ाते हैं। राज्य-सभाओंके वादविवाद और राजनीतिक षड्यन्त्रोंपर तो कालम-के-कालम रंग दिये जाते हैं और राष्ट्रके विशाल दैनिक जीवनको इधर-उधर या तो आर्थिक विषयों वाले स्तंम्भोंमें या मार-पीट और व्यभिचारके मुकदमोंकी खबरों-वाले पृष्ठोंमें जगह दी जाती है। अखबार पढ़ते समय तो उन असंख्य नर-नारियोंका कुछ खयाल ही नहीं आता जो जीते और मरते हैं, जिन्हें दुःख होता है, जो काम करते और वस्तुओंका उपभोग करते हैं, जो विचार करते और उत्पादन करते हैं। मुट्ठीभर आदमियोंको इतना महत्त्व दे दिया जाता है कि उनकी परछाईं और हमारे अज्ञानके अन्धकारमें सारा मानव-समाज छिप जाता है।

पर ज्यों ही हम अखबारी दुनियासे निकलकर जीवनके मैदानमें पहुँचते हैं और समाजपर दृष्टिपात करते हैं, हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि राज्य कितनी नगण्य वस्तु है। कौन नहीं जानता कि लाखों किसान जीवनभर यह अनुभव नहीं कर पाते कि राज्य किस चिड़ियाका नाम है। वे सिर्फ इतना जानते हैं कि हमें दबाकर कोई भारी कर वसूल करता है। रोज करोड़ोंका लेन-देन सरकारके हस्तक्षेपके बिना होता है। व्यापार और विनिमयका काम होता ही इस ढंगसे है कि यदि एक पक्ष सम-

कौतेको तोड़नेपर तुल जाय तो राज्यकी सहायता मांगनेसे दूसरे पक्षको कोई लाभ नहीं हो सकता। तिजारतको समझनेवाले किसी भी आदमीसे बात कीजिए, आपको मालूम हो जायगा कि यदि परस्पर विश्वास न हो तो व्यापारियोंका रोजमर्राका कारबार सर्वथा असम्भव- हो जाय। अपना वचन पालन करनेकी आदत और अपनी साख बनाये रखनेकी चिन्तासे यह आपसकी ईमानदारी कायम रहती है। जिस आदमीको बड़े-बड़े नाम देकर दूषित दवाइयोंसे ग्राहकको जहर खिलानेमें जरा भी आत्मग्लानि नहीं हो उसे भी दूसरोंको दिये हुये समयपर उनसे मिलकर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेका खयाल रहता है। अगर इस गये-बीते जमानेमें भी यह सदाचार इस दर्जेतक बढ़ पाया है तो इसमें तो शक ही क्या है कि जब सिर्फ रुपया कमाना ही काम करनेकी एकमात्र प्रेरणा और एकमात्र उद्देश्य न रहेगा और समाजका आधार दूसरोंकी कमाईका फल हड़प कर जाना ही न रह जायगा उस समय इस सदाचार की तीव्र प्रगति होगी।

वर्तमान कालकी एक और विशेषता हमारे विचारोंकी और भी अधिक पुष्टि करती है। वह है निजी व्यवसायोंके क्षेत्रका सतत विस्तार और सब तरहके स्वतन्त्र संगठनोंका अत्यधिक विकास। ये संगठन पचासों प्रकारके हैं। वे हमारी सभ्यताके इतने स्वाभाविक फल हैं, उनका विस्तार इतनी तेजीसे हो रहा है और वे इतनी आसानीसे आपसमें मिल जाते हैं, सभ्य मनुष्यकी आवश्यकताओंकी सतत वृद्धिके वे ऐसे आवश्यक परिणाम हैं और सर्वोपरि वे राज्यकी जगह इतनी अच्छी तरह लेकर उसके हस्तक्षेपकी आवश्यकताको दूर कर देते हैं कि हमें उन्हें समाजके जीवनका महत्त्वपूर्ण अंग मानना ही होगा। अगर आज ये संगठन जीवनकी सब अभिव्यक्तियोंमें फैले हुए नहीं हैं तो इसका कारण यह है कि इनके रास्तेमें मजदूरोंकी दरिद्रता, समाजकी फूट, पूंजीपर व्यक्तिगत अधिकार और राज्यकी जबरदस्त रुकावटें खड़ी हैं। इन रुकावटोंको दूर कर दीजिए, फिर देखिए कि कितनी जल्दी सभ्य-समाजके विशाल कार्य-क्षेत्रमें इनका जाल बिछ जाता है।

पिछले पचास वर्षोंका इतिहास इस बातका जीवित प्रमाण है कि प्रतिनिधि-शासन उन सब कर्तव्योंको पूरा करनेमें नितान्त असमर्थ है जो हमने उसे सौंपे हैं। आनेवाले दिनोंमें कहा जायगा कि १६ वीं शतीमें उसका भरम खुल गया, उसका निकम्मापन प्रकट हो गया। उसका खोखलापन सबपर इस तरह प्रकट हो चुका है, उसकी त्रुटियाँ, उसके सहजदोष इतने स्पष्ट हैं कि मिल आदि जिन थोड़ेसे विद्वानोंने उसकी समीक्षा की है उन्होंने जन-समाजमें फैले हुए असन्तोषको साहित्यिकरूप मात्र दिया है। हम थोड़ेसे लोगोंको चुनकर उनसे कहते हैं कि "आप हमारे जीवनके सभी क्षेत्रोंके लिए नियम-कायदे बना दीजिए, यद्यपि आपमेंसे एक भी उनके बारेमें कुछ जानता नहीं।" यह बात कैसी बेतुकी और नासमझीकी है, इसे समझ लेना कठिन भी तो नहीं है।

अब तो हमे यह दिखाई देने लगा है कि बहुमत शासनका अर्थ होता है राष्ट्र-भाषाओं और निर्वाचन-समितियोंमें जिन मौका-परस्त लोगोंका बहुमत होता है अर्थात् जिनकी अपनी कोई राय नहीं होती उनके हाथोंमें देशका सब कारबार सौंप दिया जाय।

मानव-समाजको अब नये-नये रास्ते मिलते जा रहे हैं। डाकियोंके संगठन, रेलवे मजदूर-संघ और विद्वत्परिषदोंके उदाहरणोंसे यह प्रतीत होने लगा है कि कानूनके बजाय स्वेच्छापूर्वक किये हुए समझौतेसे मामले ज्यादा अच्छी तरह तै होते हैं। आज भी जब भिन्न-भिन्न और दूर-दूर बिखरे हुए समुदाय किसी विशेष उद्देश्यसे परस्पर संगठित होना चाहते हैं तो वे किसी अंतर्राष्ट्रीय पार्लमेंटका चुनाव न करके दूसरे ही ढंगसे काम लेते हैं। जहां प्रत्यक्ष मिलकर या पत्र-द्वारा समझौता संभव नहीं होता वहां विवाद-ग्रस्त विषयके जानकार प्रतिनिधि भेजकर उनसे कह दिया जाता है कि अमुक-अमुक मामलेमें समझौता करनेकी कोशिश करना। वहांसे कोई कानून बनवाकर लानेकी जरूरत नहीं है बल्कि समझौतेकी कोई ऐसी सूरत होनी चाहिए जिसे मानना या न मानना हमारे हाथमें हो।

यूरोप और अमेरिकाकी बड़ी-बड़ी औद्योगिक कंपनियों और अन्य सभाओंका यही तरीका है। स्वतंत्र समाजका भी यही तरीका होगा।

निरंकुश शासनके साथ-साथ गुलामीका होना जरूरी था। मजदूरी देकर गरीबोंका रक्त चूसनेवाले पूंजीवादके साथ प्रतिनिधि शासनका ढकोसला ही शोभा देता है। पर जब समाज बन्धन-मुक्त होकर अपना संयुक्त उत्तराधिकार पुनः प्राप्त करेगा तब भिन्न-भिन्न स्वतंत्र समूहों और उनके संघोंका ऐसा नया संगठन बनाना ही होगा जो नए अर्थ-शास्त्रके अनुकूल हो।

असल बात तो यह है कि जैसी आर्थिक अवस्था हो वैसी ही राजनीतिक संस्था बनती है। यदि राजनीतिक जीवनका कोई नया तरीका साथ-साथ न निकाला गया तो व्यक्तिगत संपत्तिको हाथ लगाना मुश्किल होगा।

: ४ :

# निस्संपत्तीकरण

## १

राथ्सचाइल्डके बारेमें कहा जाता है कि जब उसने १८४८ की क्रांतिके कारण अपनी धन-दौलतको खतरेमें देखा तो उसे एक चाल सूझी। उसने कहा—"मैं मुक्तकंठसे स्वीकार करता हूं कि मेरी संपत्ति दूसरोंको चूसकर इकट्ठी की गई है। पर यदि कल ही मैं उसे यूरोपके करोड़ों निवासियोंमें बांट दूं तो हरएकके हिस्सेमें तीन रुपयेसे अधिक नहीं आयेंगे। अच्छी बात है, जो कोई मुझसे मांगने आयेगा उसको तीन रुपये दे दूंगा।" इस प्रतिज्ञाको प्रकाशित करके वह धन-कुबेर सदाकी भांति चुपचाप बाजारमे घूमने निकल पड़ा। तीन-चार राहगीरोंने अपना-अपना हिस्सा मांगा। उसने व्यंग्यकी हंसीके साथ रुपये दे दिये। उसकी चाल चल गई और उस करोड़पती घरानेका धन अब भी उसके ही पास है।

ठीक यही दलील मध्यम श्रेणीके चालाक लोग भी देते हैं। वे कहा करते हैं—"अच्छा, आप तो निस्संपत्तीकरण चाहते हैं न? यानी यह कि लोगोंके लबादे छीनकर एक जगह ढेर लगा दिया जाय और फिर हरएक आदमी अपनी मर्जीसे जिसे चाहे उठा ले और सबके अच्छेके लिए लड़ता रहे!"

पर ऐसे मजाक जितने बेतुके होते हैं उतने ही ओछे भी होते हैं। हम यह नहीं चाहते कि लबादोंका नया बटवारा किया जाय। वैसे सरदीमें ठिठुरनेवाले लोगोंका तो इसमें फायदा ही है। न हम करोड़-पतियोंकी दौलत ही बांट लेना चाहते हैं। परन्तु हम इस प्रकारकी व्यवस्था अवश्य कर देना चाहते हैं जिससे संसारमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक मनुष्यको कम-से-कम ये दो सुविधायें तो प्राप्त हो ही जायं—पहली

यह कि वह कोई उपयोगी धंधा सीखकर उसमें प्रवीणता प्राप्त कर सके और दूसरी यह कि वह बिना किसी मालिककी इजाजतके तथा बिना किसी भूस्वामी को अपनी कमाईका अधिकांश अर्पण किये, स्वतंत्रता-पूर्वक अपना रोजगार किया करे। और वह सम्पत्ति जो धनकुबेरोंके कब्जेमें है, सम्मिलित उत्पादनके प्रबन्धमें काम आयेगी।

जिस दिन मजदूर खेती कर सकेगा पर उसे अपनी पैदावारका आधा किसी और को नजर न कर देना पड़ेगा, जिस दिन जमीनको उपजाऊ बनाने वाली कलोंपर किसानका स्वतंत्र अधिकार होगा और जिस दिन कारखानेका श्रमजीवो किसी पूंजीपतिके लिए नहीं बल्कि समाजके लिए माल तैयार करेगा, उस दिन मजदूरोंके पेटमें पूरी रोटी और शरीर पर पूरा कपड़ा होगा; उस दिन न गरीबोंका रक्त शोषण करनेवाले होंगे और न किसीको जरा-सी मजदूरीपर अपनी सारी उत्पादन-शक्ति बेचनी पड़ेगी।

आलोचक कहेंगे—"यहांतक तो ठीक है, पर बाहरसे आनेवाले पूंजीपतियोंका क्या करोगे? किसीको चीनमें जाकर दौलत जमा करने और फिर अपने यहां आकर बस जानेसे कैसे रोकोगे? ऐसे आदमी बहुत-से नौकर-चाकर रख लेंगे और उन्हें पैसेका गुलाम बनाकर, उनकी कमाई हड़पकर खुद मौज करते रहेंगे। तुम उन्हें कैसे रोकोगे? दुनिया-भरमें एक-ही साथ क्रांति तो होनेसे रही; तो फिर क्या तुम अपने देशकी सारी सीमाओंपर चौकियां बिठा कर सब भीतर आने वालोंकी तलाशियां लोगे और उनके पासका रुपया-पैसा छीन लोगे? अराजक सिपाही यात्रियोंपर गोलियां बरसायें, यह दृश्य तो बढ़िया रहेगा!"

परन्तु इस दलीलकी जड़में ही भारी भ्रम है। ऐसा तर्क करने वाले यह पता लगानेका कष्ट नहीं उठाते कि आखिर धनवालोंकी दौलत आती कहांसे है। थोड़े-से विचारसे ही उन्हें मालूम हो सकता है कि इस दौलतकी शुरूआत गरीबोंकी गरीबीसे ही होती है। जब कोई दरिद्र ही न रहेगा तो उसका खून चूसनेवाले धनवान कहांसे आयेंगे?

बड़ी-बड़ी सम्पत्तियोंकी उत्पत्ति तो मध्यकालसे ही है। जरा आप उस

समयकी अवस्था पर दृष्टिपात करें । एक सरदार साहब एक उर्वरा भूमिपर अधिकार जमा लेते हैं। परन्तु जबतक वहाँ आबादी नहीं होती तबतक सरदार साहब धनवान नहीं बनते। जमीनसे उन्हें कुछ भी नहीं मिलता, मानो उन्हें चन्द्रलोकमें जागीर मिली हो । अब सरदार साहब मालदार होनेकी सोचते हैं । गरीब किसानोंकी तलाश करते हैं । यदि हरएक किसानके पास जमीन होती, उसे कर न देना पड़ता और खेतीके लिये औजार और दूसरा सामान भी उसके पास होता, तो सरदार साहबकी जमीन कौन जोतता ? हरएक अपनी-अपनी जमीन सम्हालता । परन्तु वहाँ तो युद्ध, अकाल और मरीके मारे हजारों गरीब ऐसे मौजूद थे जिनके पास न बैल थे न हल। मध्य-युगमें लोहा तो मंहगा था ही, खेतीके बैल और भी मंहगे होते थे। इन सब गरीबों-को अपनी हालत सुधारनेकी फिक्र होती थी। भाग्यवश एक दिन सरदार साहबकी कोठीके बाहर सड़कपर एक सूचना टंगी हुई मिलती है। उससे मालूम होता है कि जो मजदूर उस जागीरमें बसना चाहते हों उन्हे अपने झोंपड़े बनाने और खेती करनेके लिये औजार और सामान तथा कुछ वर्षोंके लिये थोड़ी जमीन भी मुफ्त मिलेगी।

बस वे अभागे गरीब आकर सरदार साहबकी जमीनपर बस जाते हैं। सड़कें बना लेते हैं, दलदल सुखा लेते हैं और गांव बसा लेते हैं। नौ-दस बरसमें सरदार साहब लगान लेना शुरू कर देते हैं । फिर पाँच बरस बाद लगान बढ़ा देते हैं और फिर दूना कर देते हैं। किसानको इससे अच्छी हालत और कहीं नसीब नहीं होती, इसलिए वह इन सब शर्तोंको मन्जूर कर लेता है। धीरे-धीरे सरदार साहब अपने ही बनाये कानूनोंकी मददसे किसान की दरिद्रता और उसीके द्वारा अपनी सम्पन्नताको स्थायी बना लेते हैं। परन्तु किसान सिर्फ जागीरदारका ही शिकार नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसकी विपन्नता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों गाँवोंपर टूट पड़ने वाले सूदखोरोंकी संख्या भी बढ़ती जाती है। यह तो हुई मध्य-युग की बात। पर आज ही हालत कौन बहुत सुधर गई है ? अगर किसानके पास खेती करनेके लिए बिना लगानकी यथेच्छ जमीन हो

तो क्या वह किसी उमराव-बहादुरको पट्टा नामधारी कागजके टुकडेके बदलेमें दो-ढाई सौ रुपया या पैदावारका आधा हिस्सा दे देगा? पर बेचारा करे तो क्या करे? उसके पास कुछ भी तो नहीं। उसे तो अपना पेट पालना है। इसलिये खुद घोर परिश्रम करना और भूस्वामीको मालामाल बनाना, यह भी उसे स्वीकार है। इस प्रकार चाहे वर्तमान समय को लीजिये, चाहे मध्यकालको, कृषककी दरिद्रता ही भूस्वामीके वैभवकी जननी रही है।

## २

पूञ्जीपतिकी पूञ्जी भी वहींसे आती है। मध्यम श्रेणीके एक नागरिकका उदाहरण लीजिये। मान लीजिये उसके पास किसी प्रकारसे दो-तीन लाख रुपये हो गए। यदि वह इस अन्धाधुन्ध भोग-विलासके जमानेमें बीस-तीस हजार रुपया हर साल खर्च कर दे तो दस वर्षके बाद उसके पास फूटी कौड़ी भी न बच रहेगी। पर वह तो ठहरा व्यावहारिक बुद्धिका आदमी। वह अपनी पूञ्जी तो ज्यों-की-त्यों बनाये रखना पसन्द करता है। ऊपरसे एक खासी आमदनीकी सूरत भी निकाल लेना चाहता है।

वर्तमान समयमें यह बात कुछ कठिन भी नहीं है। कारण स्पष्ट है। शहरों और गांवोंमें ऐसे असंख्य मजदूर मौजूद रहते हैं जिनके पास महीने-भर तो क्या एक पखवाड़ेके गुजारेका सामान भी नहीं होता। बस हमारे परोपकारी नागरिक महाशय एक कारखाना खोल देते हैं। अगर उनकी व्यावसायिक योग्यताकी ख्याति भी हो तो कोठी (बैंक) वाले भी उन्हें झट दो-चार लाख रुपया उधार दे देंगे। इतनी पूंजीसे वह महाशय आसानीसे पांचसौ मजदूरोंका श्रम खरीद सकते हैं। बताइये, अगर देहातके सब स्त्री-पुरुषोंको भरपेट रोटी मिलती हो और उनकी रोजमर्राकी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हों तो चार आनेका माल पैदा करके दो आने रोजकी मजदूरी पर सेठ साहबकी गुलामी कौन करे!

परन्तु कौन नहीं जानता कि हमारे नगरोंकी गरीब बस्तियोंमें और आस-पासके गाँवोंमें अनगिनत अभागे मोहताज भरे हैं जिनके बच्चे रोटीके लिए बिलबिलाया करते हैं। इस कारण कारखाना खड़ा भी नहीं होने पाता कि मज़दूरीके उम्मीदवारोंकी भीड़ लग जाती है। सौ-की माँग होती है तो तीनसौ दरवाजेपर आ खड़े होते हैं। ऐसी दशामें यदि मालिकमें मामूली योग्यता भी हो तो वह कारखाना जारी होनेके समयमें ही प्रत्येक मज़दूरके हाथसे पाँच-छः सौ रुपया साल तो कमा ही लेता है।

इस प्रकार वह खासी दौलत जमा कर लेता है। वह यदि कोई अच्छी आमदनीका धन्धा ढूंढ़ ले और उसमें कुछ व्यवसाय-बुद्धि भी हो, तब तो वह मज़दूरोंकी संख्या दुगुनी करके जल्दी ही मालामाल हो जायगा। इस प्रकार वह बड़ा आदमी बन जाता है। अब तो वह बड़े-बड़े हाकिमों, वकीलों और सेठ-साहूकारोंको भोज दे सकता है। रुपया रुपयेको खींचता ही है। धीरे-धीरे वह अपनी सन्तानके लिए भी जगहकर लेता है और आगे चलकर सरकारसे भी उसे पुलिस या फौजका ठेका मिल जाता है। और अगर कहीं लड़ाई छिड़ गई या उसकी अफ़वाह ही उड़ गई या बाजारमें सट्टेका जोर हो गया तब तो फिर उसके पौ-बारह हैं।

अमेरिकाके अधिकांश करोड़पतियोंकी सम्पत्ति इस प्रकार राज्यकी सहायतासे बड़े पैमानेपर की जानेवाली बदमाशीका ही प्रसाद है। यूरोपमें भी दसमें से नौ आदमी इन्हीं साधनोंसे धनवान बने हैं। असलमें करोड़पती होनेका दूसरा तरीका ही नहीं है।

बस धनवान होनेका रहस्य संक्षेपमें यही है कि भूखों और दरिद्रोंको तलाश कर उन्हें दो आने रोजकी मजदूरीपर रख लीजिए और कमा लीजिए उनके द्वारा तीन रुपये रोज। इस तरह जब धन इकठा हो जाय तो राज्यकी सहायतासे कोई अच्छा सट्टा करके उसे और बढ़ा लीजिए।

अब हम जान गये कि जबतक बचतके पैसे भूखोंका खून चूसनेके काममें न लगाये जांय तबतक खाली बचतसे दौलत जमा नहीं हो

सकती। ऐसी दशामें अर्थशास्त्रियोंकी इस दलीलमें कोई दम नहीं कि दूरं-देशी और किफायतसे ही छोटी-छोटी पूंजियां इकट्ठी हो जाती हैं।

उदाहरणके लिए एक मोचीको लीजिए। मान लीजिए उसे मजदूरी अच्छी मिलती है। ग्राहक भी काफी हैं और अत्यन्त मितव्ययिताके द्वारा वह ३०) रुपया मासिकतक बचा लेता है। यह भी मान लीजिए कि वह न कभी बीमार होता है, न भूखा रहता है, न शादी करता है, न बच्चे होते हैं। उसे क्षय भी नहीं होता। गरज, जो जी चाहे मान लीजिए। फिर भी पचास वर्षकी अवस्थामें उसके पास दस-बारह हजार रुपयेसे अधिक जमा नहीं हो सकता। इससे उसका बुढ़ापा नहीं कट सकता; निस्सन्देह दौलत इस प्रकार जमा नहीं हुआ करती। पर मान लीजिए वही मोची अपनी बचत तो सेविंग्स बैंकमें जमा करके ब्याज पैदा करता रहे और किसी गरीबके छोकरेको जूता बनाना सिखानेके लिए नाममात्रकी मजदूरीपर रखले। पांच वर्षमे गरीब तो समझेगा मेरा लड़का काम सीख गया और मोचीको सोनेकी चिड़िया हाथ लग गई।

यदि धन्धा अच्छा चल गया तो मोची वैसे ही एक-दो लड़के और नौकर रख लेगा। धीरे-धीरे कुछ मजदूर उसके यहाँ आ रहेंगे। इन बेचारोंको तीन रुपये रोजके बदले तीन आने भी मिल गये तो वे गनीमत समझेंगे। यदि मोची-राजके ग्रह अच्छे हुए, अर्थात् उसमें चालाकी और कमीनापन काफी हुआ, तो वह अपने परिश्रमके फलके सिवा अपने आदमियोंके द्वारा दस-बारह रुपये रोज और कमा सकता है। फिर वह अपना कारबार बढ़ाकर धीरे-धीरे धनवान हो जाता है और फिर उसे जीवन-सामग्रीके बारेमें कंजूसी करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इतना ही नहीं, वह अपनी सन्तानके लिए भी खासी दौलत छोड़ सकता है। इसीको लोग मितव्ययिता कहते हैं। परन्तु वास्तवमे यह और कुछ नहीं, गरीबोंका शुद्ध शोषण है।

कहा जाता है कि व्यापारपर यह नियम लागू नहीं होता। यदि कोई आदमी चीनसे चाय खरीद कर फ्रांसले जाता है और वहां अपनी

मूल पूंजीपर तीस रुपए सैकड़ा मुनाफा कर लेता है तो बताइये उसने कितना खून चूसा !

परन्तु बात यहां भी ठीक वैसी ही है। अगर सेठ साहब मालकी गांठें अपनी पीठपर लादकर ले जाते तब तो बात ठीक थी। प्राचीन काल में देसावरी व्यापार ठीक इसी प्रकार हुआ करता था और इसीलिये उस समय आजकी भांति किसीके पास अपरिमित सम्पत्ति भी इकट्ठी न होती थी। उस समय सोनेके सिक्के उन्हीं इने-गिने व्यापारियोंके यहां मिला करते थे जो भयानक जल-यात्राएं करते और बहुत दिनोंके बाद घर लौटते थे। इतनी जोखिम उठानेकी प्रेरणा उन्हें अर्थ-लोभकी अपेक्षा यात्रा और साहस-प्रेमके कारण अधिक होती थी।

पर आज-कल तो मामला बहुत आसान हो गया है। जिस व्यापारी के पास कुछ पूंजी है उसे धनवान बननेके लिये अपनी गद्दीपर से हिलने की भी जरूरत नहीं। वह अपने आढ़तियों को तार देकर दस-पांच हजार मन गल्ला या चाय खरीद लेता है। तीन-चार महीनेमें माल जहाजमें भर कर उसके घर आ पहुँचता है। बीमा करा लेने के कारण माल और जहाजको कोई जोखिम भी नहीं रहती। एक लाख रुपयेपर बीस-पच्चीस हजार वह बड़ी आसानीसे कमा लेता है।

अब यह सवाल उठ सकता है कि सात समुद्र पार जाने, यात्राकी कठिनाइयां उठाने और घोर परिश्रम करने तथा थोड़ेसे वेतनके लिए अपनी जान जोखिममें डालने वाले मनुष्य सेठको कहां मिल जाते हैं ? और वे बन्दरगाहमें नाम-मात्रकी मजदूरी लेकर जहाजमें माल लादने और उतारनेके लिए क्यों तैयार हो जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि मरता क्या नहीं करता ? जरा बन्दरगाहों, वहांके भोजनालयों और सरायों में जाकर देखिये। वहां आपको आदमियों का ठट्ट लगा दिखाई देगा। ये बेचारे प्रातःकालसे उनके फाटकपर घेरा डाले इस आशासे खड़े रहते हैं कि उन्हें जहाजपर काम मिल जायगा। नाविकोंको देखिए तो उन्हें भी महीनों प्रतीक्षा करनेपर जब लम्बी जल-यात्राकी नौकरी मिल जाती है तब वे बड़े प्रसन्न होते हैं। उनका सारा जीवन समुद्रमें ही व्यतीत

होता है और अंतमें वही उनकी कब्र भी बनती है। उनके घरोंमें जाकर देखिए, उनके स्त्री-बच्चोंके शरीरपर चिथड़े मिलेंगे और यह मालूम न हो सकेगा कि अन्नदाताके लौटनेतक वे कैसे गुजर करते हैं। बस आपके सवालका जवाब मिल जायगा।

आप उदाहरणपर उदाहरण लेते चले जाइए। कहींसे भी चुन लीजिए। छोटी-बड़ी किसी भी तरहकी सम्पत्तिका मूल ढूंढ़िए। भले ही उस धनकी उत्पत्ति व्यापारसे हुई हो या महाजनी उद्योग-धंधों या भूमिसे हुई हो, सर्वत्र आप यही देखेंगे कि धनवानोंका धन दरिद्रोंकी निर्धनतासे पैदा होता है। यही कारण है कि राज्यहीन समाजमें किसी करोड़पतीके आकर बस जानेका भय नहीं है। यदि समाजके प्रत्येक मनुष्यको यह मालूम हो कि कुछ घंटे उत्पादक परिश्रम करनेसे उसे सब सुख भोगनेका अधिकार और कला तथा विज्ञानके आनन्दकी सुविधा प्राप्त हो सकती है तो फिर कौन भूखो मरकर मजदूरी करनेको तैयार होगा? कौन किसी करोड़पतीको मालामाल करनेके लिए राज़ी-खुशीसे मशक्कत करेगा? उस समय सेठ साहबकी मुहरें केवल धातु-खण्डमात्र होंगी। उनसे और काम निकल सकेंगे, पर रुपया पैदा न किया जा सकेगा।

यहाँ निस्संपत्तीकरणकी सीमाका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। हम किसीसे उसका कोट छीनना नहीं चाहते। पर हम यह अवश्य चाहते हैं कि जिन चीज़ोंके न होनेसे मजदूर अपना रक्त-शोषण करनेवालोंके शिकार आसानीसे बन जाते हैं वे चीजें उन्हें जरूर मिल जायं। हम इस बातका भी भरसक प्रयत्न करेंगे कि किसीको किसी चीजकी कमी न रहे और एक भी मनुष्यको अपनी और अपने बाल-बच्चोंकी आजीविकामात्रके लिए अपने दाहने हाथका बल न बेचना पड़े। निस्संपत्तीकरणसे हमारा यही अर्थ है। क्रांतिके समय ऐसा करना हमारा फर्ज़ होगा। उस क्रांतिकी प्रतीक्षा सौ-दो-सौ वर्ष नहीं करनी पड़ेगी। वह आने वाली है और बहुत जल्द आने वाली है।

## ३

स्वतंत्र स्वभावके लोग और वे लोग जिनका सर्वोच्च आदर्श केवल आलस्य नहीं है अराजकता और विशेषतः निस्संपत्तीकरणके विचारोंकी ओर बड़ी सहानुभूति रखते हैं। फिर भी वे यह चेतावनी देते रहते हैं कि इस बात का ध्यान रखना कि "तुम कहीं बहुत आगे न बढ़ जाओ। मनुष्य-जाति एक दिनमें बदल नहीं सकती, इसलिए तुम अराजकता और निस्संपत्तीकरण की अपनी योजनाओंके बारे में बहुत जल्दी न करना, अन्यथा भय है कि तुम कोई स्थाई फल प्राप्त न कर सकोगे।"

परन्तु निस्संपत्तीकरणके विषयमें खतरा तो दूसरी ही बातका है। खतरा इस बातका है कि हम इस मामलेमें काफी आगे न बढ़ सकेंगे और बड़े पैमाने पर स्थायी निस्संपत्तीकरण न कर पायेंगे। कहीं आधे रास्तेमें ही क्रांतिका जोश ठंढा न हो जाय; कहीं क्रांति अर्धसफल होकर ही समाप्त न हो जाय। अर्धसफल क्रांतिसे कोई भी सन्तुष्ट न हो सकेगा। समाजमें भयंकर गड़बड़ पैदा हो जायगी और उसका सब कामकाज बन्द हो जायगा। उस क्रांतिमें कुछ भी जीवन-शक्ति बाकी न रहेगी। सर्वत्र केवल असन्तोष फैल जायगा और प्रतिक्रियाकी सफलताका मार्ग अनिवार्य रूपसे तैयार हो जायगा।

वर्तमान राज्य-संस्था में कुछ ऐसे सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं कि यदि उनपर केवल आंशिक प्रहार होगा तो उनका सुधार होना असंभव-सा है। हमारे आर्थिक संगठनकी मशीनमें पुर्जेमें पुर्जा फंसा हुआ है। यह यंत्रजाल ऐसा पेचीदा और परस्पर सम्बद्ध है कि इसके किसी पुर्जेको सुधारनेके लिए सारी मशीनका छेड़े बिना काम न चलेगा। ज्योंही किसी समय निस्संपत्तीकरणका प्रयत्न किया जायगा, यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मान लीजिए किसी देशमें निस्संपत्तीकरण आंशिक रूपमें किया गया। उदाहरण-के लिए, केवल बड़े भूस्वामियोंकी जायदाद सार्वजनिक बना दी गयी और कारखानोंको अछूता छोड़ दिया गया या किसी नगरमें

सारे मकान पंचायती सरकारने अधिकारमें ले लिये, पर शेष सब संपत्ति व्यक्तियोंके पास छोड दी गयी, या किसी औद्योगिक केन्द्रमें कारखाने सार्वजनिक बना दिये गये और जमीन वैसी ही रहने दी गयी।

इन सब अवस्थाओंमें नतीजा एक ही होगा। नये ढंग पर पुनः संगठन तो हो न सकेगा और औद्योगिक व्यवस्थाका भयंकर नाश हो जायगा, उद्योग-धन्धा और लेनदेन बिल्कुल रुक जायगा। यह सब होने पर भी न तो ऐसे समाजके दर्शन होंगे जिसका आधार न्यायके सम्धारण सिद्धान्त हों और उस समाजमें यह सामर्थ्य होगा कि वह अपने सब अंगोंको एकताके धागेमें पिरो सके।

यदि कृषि बडे भूस्वामियोंके पंजेसे छूट गयी और उद्योग-धंधे पूंजीपति, व्यापारी और बैंकरकी ही गुलामीमें रहे तो फायदा कुछ भी न होगा। आजकल किसानको भूमिपतिका ही लगान देनेका कष्ट नहीं है, वर्तमान परिस्थितिमें वह सभीके अत्याचारोंका शिकार होता है। जो दूकानदार उससे पांच आनेकी मेहनतसे बने फावड़ेका डेढ़ रुपया वसूल कर लेता है वह भी उसे लूटता है। जिस राज्यका काम जबर्दस्त अधिकारियों या नौकरशाहीके बिना चल ही नहीं सकता और जो इसी वास्ते सेना रखता है कि बाजारों पर अधिकार करनेका एशिया और अफ्रीकाके किसी भागको चूसनेकी प्रतिद्वन्द्वितामें किसी-न-किसी दिन युद्ध करना पड़ सकता है वह भी उस किसानको करके भारसे दबाता है।

इसके अतिरिक्त देहातकी आबादी घटनेसे भी किसानोंको नुकसान उठाना पड़ता है। विलास-वस्तुओंके कारखानोंमें मिलनेवाली थोड़े दिन ऊंची मजदूरीके प्रलोभन अथवा वहांकी चहल-पहलके आकर्षणसे युवक शहरोंमें चले आते हैं। आजकल उद्योग-धन्धोंकी अस्वाभाविक रक्षा की जाती है, अन्य देशोंकी औद्योगिक लूट जारी है, शेयरोंकी दलीलका रोजगार बढ़ रहा है, और जमीन तथा उत्पत्तिके साधनोंका सुधारना कठिन हो रहा है। ये सारी बातें कृषिकी उन्नतिमें बाधक हो रही हैं। जमीनपर केवल लगानका ही बोझ नहीं लदा हुआ है, बल्कि इस लुटेर समाजकी सारी जटिलताओंका भी भार है। इसलिए चाहे जमीन

मालिकोंके हाथसे छीन ली जाय, चाहे हरएक आदमीको बिना लगान दिये ही अपनी पूरी शक्तिसे जमीन जोतने और फसल पैदा करनेकी स्वतंत्रता मिल जाय और चाहे खेती थोड़े समयके लिए खूब उन्नति भी कर ले, फिर भी शीघ्र ही वह उसी दलदलमें गिर जायगी जिसमें वह आज फंसी हुई है। कठिनाइयां अधिक बढ़ जायंगी और सारा काम नये सिरेसे प्रारंभ करना पड़ेगा।

उद्योग-धंधोंकी भी यही बात है। दूसरी मिसाल लीजिए। यह कल्पना न कीजिए कि किसान ज़मीनके मालिक बन गये, बल्कि मान लीजिए कि कारखाने श्रमिकोंके हाथमें आगये। कारखानोंके मालिक तो मिट गये पर जमींदारके पास जमीन, साहूकारके पास उसका पैसा और दूकानदारके पास उसका माल रह गया। श्रमिकोंके श्रमपर जीवित रहनेवाले और निकम्मे बीचवाले सारे लोग रह गये। सारे अधिकारीवर्ग-सहित राज्यसंस्था भी बन रही। इस अवस्थामें भी उद्योग-धंधे एकदम बंद हो जायंगे। किसान तो दरिद्र होंगे ही। वे तैयार माल खरीद न सकेंगे। कच्चा माल कारखानेदारोंके पास होगा नहीं। अंशतः व्यापार बंद हो जाने और प्रायः दुनियाके सब देशोंमें उद्योग-धंधोंके फ़ैल जानेके कारण कारखानेदार अपना माल बाहर न भेज सकेंगे। वे लोग परिस्थितिका सामना न कर सकेंगे और हज़ारों मज़दूर बेकार हो जायंगे। इन भूखों मरनेवाले लोगोंको जो रक्त-शोषक भी पहले मिल गया, वे उसीके गुलाम बननेको तैयार हो जायंगे। काम दिये जानेके गारंटी-शुदा वादेपर तो ये लोग पुरानी गुलामी फिर कबूल कर लेनेको भी तैयार हो जायंगे।

अथवा कल्पना कीजिए कि आप जमींदारोंको निकाल देते हैं और मिलों-कारखानोंको श्रमिकोंके हाथमें दे देते हैं, पर कारखानोंकी पैदावारको खींच ले जानेवाले और बड़ी बड़ी मंडियोंमें गल्ले, आटे, मांस और किराने‌का सट्टा करनेवाले बीचके असंख्य लोगोंको नहीं हटाते। ऐसी अवस्थामें ज्यों ही मालकी बिक्री कम हो जायगी, ज्यों ही बड़े नगरोंमें रोटीका अभाव होगा और बड़े औद्योगिक केन्द्रोंको अपनी

तैयार की हुई विलासिताकी वस्तुओंके खरीदार न मिलेंगे, त्योंही प्रति-क्रांति होकर रहेगी। वह लोगोंका वध करती, गोलियों और गोलोंसे नगरों और गाँवोंका सफाया करती, निषेध और निर्वासनका आतंक फैलाती हुई आयेगी। फ्रांसमें १८१५, १८४८ और १८७१ में यही तो हुआ था।

सभ्य समाजमें सब बातें परस्पर-संबद्ध, अन्योन्याश्रित होती हैं। सारी व्यवस्थाको बदले बिना किसी एक बात का सुधार नहीं हो सकता। इसलिए जब कोई राष्ट्र व्यक्तिगत संपत्तिके किसी एक प्रकारपर—जमीन-पर या कारखानोंपर—आघात करेगा, तो उसे सबपर प्रहार करना पड़ेगा। क्रांतिकी सफलताके लिए ही यह काम करना पड़ेगा।

इसके अलावा यदि कोई यह चाहे भी कि क्रांति आंशिक निस्संपत्ती-करणतक ही सीमित रखी जाय तो यह भी असंभव होगा। एक बार "व्यक्तिगत संपत्तिके स्वर्गीय, अधिकारके सिद्धान्तकी जड़ हिली नहीं कि फिर सिद्धान्तोंकी चाहे जितनी व्याख्या-विवेचना क्यों न की जाय वह खेतोंके गुलामोंको जमीनके और मशीनके गुलामोंको कारखानों की व्यक्तिगत मालिकी को उखाड़ फेंकनेसे रोक न सकेगी।

यदि कोई बड़ा नगर, मान लीजिए; पेरिस ही केवल रहनेके मकानों या कारखानोंपर ही अधिकार करके रह जाय, तो उसे यह भी कहना पड़ेगा कि हम पिछले ऋणके ब्याजके बीस लाख पौण्ड न देंगे और ऋणदाता साहूकारोंको नगरपर इसके लिए कर न लगाने देंगे। उस बड़े नगरको विवश होकर देहाती प्रदेशोंसे अपना संपर्क रखना पड़ेगा। इसका प्रभाव यह होगा कि किसान भी भूमिपतिसे अवश्य अपना पिंड छुड़ाना चाहेंगे। नगरवासियोंको भोजन तथा काम मिल सके और सामानका अपव्यय न होने पाये, इसके लिए रेलोंको भी सार्वजनिक संपत्ति बनाना पड़ेगा। अनाजका सट्टा करनेवाली जिस प्रकारकी बड़ी कंपनियोंके कारण १७९३में पेरिसको भूखों मरना पड़ा था उनसे भी रक्षा करनी होगी। उसको जरूरी सामान अपने गोदामोंमें भरकर रखने और उसे ठीक-ठीक बांटनेका काम भी अपने हाथमें लेना पड़ेगा।

कुछ समाजवादी फिर भी एक अन्तर कायम रखना चाहते हैं। वे कहते हैं—"भूमि, खानों, मिलों, उद्योग-धन्धोंकी तो जब्ती होनी ही चाहिए। ये उत्पत्तिके साधन हैं और इनको सार्वजनिक सम्पत्ति समझना ठीक है; परन्तु उपभोगकी वस्तुएं—अन्न, वस्त्र और मकान—व्यक्तिगत सम्पत्ति ही रहनी चाहिए।"

पर जनता इस सूक्ष्म भेदको खूब समझती है। हम लोग जंगली नहीं हैं जो जंगलोंमें केवल वृक्ष-शाखाओंके नीचे रह सकें। सभ्य मनुष्यके लिए तो ऐसा मकान चाहिए जिनमें उठने-बैठनेके कमरे हों, खाना पकानेको चूल्हा हो और सोनेको पलंग हो। यह तो सत्य है कि निठल्ले आदमीके लिए ये सब चीजें आलस्यका घर होती हैं। पर श्रमिकके लिए तो ठीक तौरसे गरम किया हुआ और रोशनीदार कमरा उसी प्रकार उत्पत्तिका साधन है जिस प्रकार औजार या मशीन। यहीं तो उसका शरीर अगले दिनका काम करनेके लिए शक्ति संचय करता है। श्रमिकका विश्राम मशीनकी रोज की मरम्मतके बराबर है।

यह दलील भोजनके विषयमें और भी अच्छी तरह लागू होती है। उपर्युक्त भेदको कायम रखनेवाले अर्थशास्त्री कहे जानेवाले लोग भी इस बातसे इनकार न करेंगे कि उत्पत्तिके लिए मशीनमें जलनेवाला कोयला उतना ही आवश्यक है जितना कच्चा माल। तो फिर जिस खूराकके बिना मनुष्यरूपी यन्त्र कुछ भी काम नहीं कर सकता वह उन चीजोंसे कैसे अलग की जा सकती है जो मजदूरके श्रमके लिए अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं? अमीरोंकी दावतें जरूर विलासिता है। मगर मजदूरका भोजन तो उत्पत्तिका वैसा ही भाग है जैसा कि एंजिनमें जलनेवाला कोयला।

यही बात वस्त्रोंकी भी है। हम लोग न्यूगिनीके जंगली नहीं हैं। यद्यपि शौकीन स्त्रियोंके महीन और बढ़िया-बढ़िया कपड़े विलासकी वस्तुएं माने जायंगे, पर माल पैदा करनेवाले श्रमिकके लिए कुछ सूती और कुछ ऊनी कपड़े तो जरूरी होते ही हैं। जिस कमीज और पाजामेको पहनकर वह काम करने जाता है और दिन भरका काम करके वह जिस कोटको शरीर

पर डाल लेता है वह तो उसके लिए उतना ही आवश्यक है जितना निहाईके लिए हथौड़ा।

हम चाहे पसन्द करें या न करें, लोग तो क्रांतिका यही अर्थ समझते हैं। ज्योंही वे राज्यका सफाया कर देंगे, वे सबसे पहले इसका उपाय करेंगे कि उन्हें रहनेके लिए अच्छा घर और काफी भोजन-वस्त्र मिलता रहे और इन चीजोंके लिए पूंजीपतियोंको कुछ भी न देना पड़े।

जनताका ऐसा करना ठीक भी होगा। उत्पत्तिके साधनों और उपभोगकी वस्तुओंके बीच इतने भेद निकालनेवाले अर्थशास्त्रियोंकी अपेक्षा साधारण लोगोंके उपाय अधिक विज्ञानानुकूल होंगे। लोग समझते हैं कि क्रांतिका आरम्भ इसी स्थानसे होना चाहिए। **"मनुष्य-जातिकी आवश्यकताओं और उनको पूर्ण करनेके आर्थिक साधनोंका अध्ययन"** ही सच्चा अर्थविज्ञान कहा जा सकता है और लोग उसीकी नींव डालेंगे।

: ५ :

# भोजन

## १

आने वाली क्रांतिको यदि हमें समाजवादी क्रांति बनाना है तो पूर्ववर्ती सब विप्लवोंसे वह न केवल अपने उद्देश्यमें किन्तु अपने साधनोंमें भी भिन्न होगी। नये उद्देश्यकी सिद्धिके लिए साधन भी नये होने ही चाहिएं।

फ्रांसका ही उदाहरण लीजिए। वहां पिछले सौ वर्षोंमें हमने जिन तीन विराट सार्वजनिक आन्दोलनोको देखा है वे परस्पर अनेक बातोमें भिन्न हैं, पर उनमें एक बात सामान्य है।

इन सब आन्दोलनोंमें लोगोंने पुराने शासनको उलट देनेका यत्न किया और इस कामके लिए अपने खूनका दरिया वहा दिया। पर युद्धके कठिन आघात सहनेपर भी वे फिर भुला दिये गये। कुछ ऐसे लोगोंकी, जो कमोबेश सच्चे कहे जा सकते थे, सरकार बनायी गयी और उसने नये शासनका संगठन करनेका भार लिया। यह सरकार सबसे पहले राजनीतिक प्रश्नोंको हल करनेमें लग गयी। वे प्रश्न थे—शासनका पुनःसंगठन, व्यवस्थाका सुधार, राज्य और धर्मका पृथक्करण, नागरिक स्वतंत्रता, आदि। यह तो सत्य है कि श्रमिकोके संघो (क्लबो) ने नयी सरकारके सदस्योंपर निगाह रखी और कई बार अपने विचार भी उनपर लादे। परंतु इन संघोंमें भी, चाहे नेता मध्यमवर्गके रहे हों या श्रमिक वर्गके, अधिक प्रभाव मध्यम वर्गके विचारोंका ही रहा। वे विविध राजनीतिक प्रश्नोंपर विस्तारके साथ वाद-विवाद करते थे, पर रोटीके सवाल भूल ही गये।

ऐसे अवसरोंपर बड़े-बड़े विचारोंका जन्म हुआ है। वे विचार ऐसे

थे जिन्होंने संसारको हिला दिया। उन अवसरोंपर ऐसे शब्द कहे गये जो आज एक शताब्दीसे अधिक बीत जानेपर भी हमारे हृदयोंमें उत्साह भर देते हैं। परंतु उधर गंदी-तंग गलियोंमें लोग भूखों मर रहे थे।

क्रांतिका प्रारंभ होते ही उद्योग-धंधे अनिवार्य रूपसे रुक गये। मालका क्रय-विक्रय बंद हो गया और पूंजी छिपा ली गई। कारखानोंके मालिकोंको तो ऐसे समय भी किसी बातका भय नहीं था। वे अपने मुनाफे खाकर मोटे होते थे। उनका बस चलता तो वे चारों तरफ फैली हुई दुरवस्थापर भी सट्टा करते। मगर मजदूरोंका गुजारा मुश्किलसे होने लगा। दरिद्रता उनके द्वारपर मुंह बाये आ खड़ी हुई। देशमें चारों ओर दुष्काल फैल गया और दुष्काल भी ऐसा जैसा पुराने शासनमें शायद ही कभी पड़ा हो।

१७९३में श्रमिकोंने यह चिल्लाहट मचाई कि 'जिरोण्डिस्ट'* लोग हमें भूखों मार रहे हैं। इसपर जिरांण्डिस्ट कतल किये गये और शासनकी सारी शक्तियां 'माउण्टेन' और 'कम्यून' सरकारके हाथोंमे दे दी गईं। कम्यून-सरकारने अलबत्ता रोटीके प्रश्नको उठाया और पेरिस-वासियोंका पेट भरनेमें उसने भगीरथ प्रयत्न किया। फूशे और कोलो दरब्वाने लियोंमें अन्न-भण्डार स्थापित किये, पर उनको भरनेमें जो रकम खर्च की गई वह अति अपर्याप्त थी। नगर-समितियोंने अन्न प्राप्त करने के बड़े प्रयत्न किये। जिन दूकानदारोंने आटा गुप्त रूपसे इकट्ठा कर रखा था उनको फांसी दे दी गई। फिर भी लोग रोटीके लिए तरसते ही रहे।

तब वे लोग राजभक्त षड्यंत्र-कारियोंपर टूटे और सारा दोष उनके मत्थे मढ़ा। रोज दस-पंद्रह जागीरदारोंकी पत्नियां या नौकर फांसीपर लटका दिये जाते थे। बेचारे नौकरोंकी ज्यादा कमबख्ती थी, क्योंकि उनकी मालकिनियां तो कोब्लैंत्स (जर्मनी) चली गई। पर यदि वे रोज सौ सरदारोंका भी बध करते तो भी परिणाम उतना ही निराशाजनक होता।

*पहली फ्रेंच क्रांतिका एक प्रमुख नरम दल।

अभाव बढ़ता ही गया। मजदूरीपेशा आदमी बिना मजदूरीके जीवित नहीं रह सकता और मजदूरी मिलती न थी। उसके लिए हजार लाशें गिरीं तो क्या और दो हजार गिरीं तो क्या?

तब लोग ऊबने लगे। क्रांति-विरोधी लोग श्रमिकोंके कानोंमें कहने लगे—"तुम जिस क्रांतिकी इतनी डींग मारते थे देख लिया उसका मजा! तुम्हारी हालत तो पहलेसे भी खराब है।" धीरे-धीरे धनवानोंको भी साहस हुआ। वे अपने बिलोंसे निकल-निकलकर बाहर आने लगे और भूखों मरती हुई जनताके सामने अपनी विलासिताका प्रदर्शन करने लगे। वे छैलोंकी-सी पोशाकें पहन-पहनकर श्रमिकोंसे कहने लगे—"इस मूर्खताको बस करो। तुम्हें इस क्रांतिसे क्या मिला?

क्रांतिकारियोंका दिल बैठ गया। उनका धैर्य छूट गया और अन्तमें उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि इस बार फिर वे बाजी हार गये। वे फिर अपने झोंपड़ोंमें जा बैठे और बड़ी-से-बड़ी मुसीबतकी प्रतीक्षा करने लगे।

तब प्रतिक्रिया गर्वके साथ उठी और मरती हुई क्रांतिकी पीठपर एक और लात जमादी। क्रांति मर चुकी थी, अब उसकी लाशको पैरों-तले रौंदने के अतिरिक्त कुछ बाकी न था।

अब क्रांति-विरोधियोंका आतंक प्रारम्भ हुआ। पानीकी भांति खून बहाया गया। फांसीका तख्ता कभी खाली न रहा। कारागार भर दिये गये और धनवान लोगोंकी तड़क-भड़क फिरसे सामने आयी। सब काम पहलेकी भांति चलने लगा।

इसी चित्रको हमारी सारी क्रांतियोंका नमूना समझना चाहिए। १८४८ में प्रजातंत्र शासनकी खातिर पेरिसके श्रमिकोंने तीन मासकी भूख सहन की। जब आगे बस न चला तो उन्होंने एक अंतिम जी-तोड़ प्रयत्न किया। वह प्रयत्न भी रक्त-पातके बाद निष्फल हो गया। १८७१ में युद्ध करनेवालोंकी कमीके कारण कम्यून-शासन नष्ट हो गया। उसने धर्म और राज्यको पृथक करनेके उपाय तो किये, परन्तु खेद है कि समय निकल जानेसे पहले लोगोंको रोटी देनेके प्रबन्धकी और ध्यान नहीं दिया। पेरिसमें तो यहांतक हुआ कि बड़े आदमियोंने क्रांतिमें भाग

लेने वालोंको ठोकरें मारीं और कहा—हम बड़े सुन्दर भोजनगृहोंमें भोजन करते हैं, तुम यहां क्यों बाधा देते हो ? जाकर कहीं मजदूरी क्यों नहीं करते ?

आखिर कम्यून-सरकारने अपनी भूल समझी और सार्वजनिक भोजनालय खोल दिये। पर समय बीत चुका था। उसके दिन इने-गिने रह गये थ और वरसेईकी सेनाएं नगरकी दीवारोंतक पहुँच गयीं थीं।

"रोटी! क्रांतिकारियोंको तो बस रोटी चाहिये।" अन्य लोग भले ही शानदार घोषणाएं निकालते रहें, सुनहरी सरकारी वर्दियोंसे अपनेको सजाते रहें और राजनीतिक स्वतंत्रताकी बातें करनेमें समय बिताते रहें!

हमें तो यह प्रबन्ध करना है कि स्वतंत्रताके लिए लडनेवाले सब प्रांतोंमें, क्रांतिके प्रथम दिनसे अंतिम दिनतक, एक भी ऐसा आदमी न हो जिसके पास रोटीकी कमी हो; एक भी ऐसी स्त्री न हो जिसे मोटी-झोंटी खैरातमें फेंकी हुई रोटीके लिए रोटीकी दूकानोंके दरवाजेके सामने परेशान भीड़के साथ खड़ा रहना प९; एक भी ऐसा बालक न हो जो रोटी के लिए चिल्लाता हो।

मध्यमवर्ग सदा यह चाहता रहता है कि बड़े-बड़े सिद्धान्तों अथवा यों कहिए कि बड़े-बड़े असत्योंके विषयमें लंबे-लंबे भाषण किये जायं। पर जनता तो यह चाहेगी कि सबको रोटी मिले। जिस समय मध्यमवर्गके नागरिक और उन्हींके विचारोंसे प्रभावित मजदूर लोग सभा सम्मेलनोंमें किये हुए अपने लच्छेदार भाषणोंकी प्रशंसा करते होंगे और जिस समय "व्यावहारिक आदमी" शासन-संगठनके तरीकोंपर वाद-विवादमें उलझे होंगे उस समय हम लोगोंको तो भोजनके प्रश्न पर ही विचार करना पड़ेगा, भले ही आज हमें कोई स्वप्न-संसारका प्राणी कहे।

हम यह घोषणा करनेका साहस करते हैं कि रोटी पानेका हक सबको है, रोटी इतनी काफी है कि सबका पेट भर सके और "सबके लिए रोटी" का नारा ऐसा है जिसके सहारे क्रांति सफल हो जायगी।

२

कहा जाता है कि हम हवाई किले बनानेवाले लोग हैं। ठीक है। हम तो यहांतक मानते हैं कि क्रांति सबको रोटी-कपड़ा और घर दे सकती है और उसे देना चाहिए। यह एक ऐसा विचार है जिसे मध्यमवर्गके नागरिक, चाहे वे किसी भी दलके हों, बिल्कुल नापसन्द करते हैं, क्योंकि वे यह बात खूब जानते हैं जिनके पेट भरे हुए हैं उन्हें दबाये रखना सहल नहीं है!

फिर भी हम अपनी बातपर कायम हैं। क्रांति करनेवालोंके लिए रोटी मिलनी ही चाहिए। रोटीका सवाल ही दूसरे सारे सवालोंसे पहले हल किया जाना चाहिए। यदि यह प्रश्न इस प्रकार हल होगया कि उससे सारी जनताका हित हो तो समझना चाहिए कि क्रांति ठीक रास्तेपर लग गयी, क्योंकि रोटीका सवाल हल करनेमें हमें समानताका सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ेगा। इस मसलेको हल करनेका और कोई उपाय हो ही नहीं सकता।

यह निश्चय है कि १८४८ की क्रांतिकी भांति आगामी क्रांतिका उदय भी ऐसे समय होगा जब हमारे उद्योग-धन्धोंपर महान् विपत्तिके बादल छाये होंगे। पचास वर्षसे फोड़ा पक रहा है। वह फूटकर ही रहेगा। सारी घटनाएं संसारको क्रांतिकी ओर ले जा रही हैं। नये-नये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके अखाड़ेमें उतर रहे हैं और दुनियाके बाजारोंपर अधिकार करनेके लिए लड़ रहे हैं। युद्ध हो रहे हैं। टैक्स बढ़ रहे हैं। राष्ट्रोंपर कर्ज लद रहा है। कलकी चिन्ता सबपर सवार है! विदेशोंमें उपनिवेशोंका खूब विस्तार किया जा रहा है।

इस समय यूरोपमें लाखों श्रमजीवी बेकार हैं। जब क्रांति आ धमकेगी और बारूदकी गाड़ीमें लगायी हुई आगकी तरह फैल जायेगी तो हालत और भी बुरी होगी। ज्योंही यूरोप और अमरीकामें रोककी दीवारें खड़ी कर दी जायंगी, बेकारोंकी संख्या दुगुनी हो जायगी। इन बहुसंख्यक लोगोंको रोटी देनेके लिए क्या उपाय करना होगा?

यह तो मालूम नहीं कि जो लोग अपनेको 'अमली आदमी' कहते हैं उन्होंने कभी अपने आपसे इस प्रश्नका उत्तर मांगा है या नहीं। पर हम यह जरूर जानते हैं कि वे मजदूरी-प्रथा कायम रखना चाहते हैं, और इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि 'राष्ट्रीय कारखाने' और पब्लिक वर्क्स खुलेंगे और इनके जरिये बेकारोंको रोटी देनेका ढोंग रचा जायगा।

१७८९ और १७९३ में राष्ट्रीय कारखाने खुले थे। १८४८ में भी यही साधन काममें लाये गये थे। नेपोलियन तृतीयने सार्वजनिक कारखाने कायम करके अठारह वर्ष तक पेरिसके श्रमजीवियोंको संतुष्ट रखा था, भले ही इसके कारण आज पेरिसपर आठ करोड़ पौंडका ऋण और तीन-चार पौंड प्रति व्यक्ति म्युनिसिपल कर है।* 'जानवरको पालतू बनाने' का यह बढ़िया तरीका रोममें भी बरता जाता था, और शक्ति संगठित करनेका समय प्राप्त करनेके लिए लोगोंको रोटीका टुकड़ा फेंकनेकी चाल सदासे स्वेच्छाचारी शासक, राजा और सम्राट चलते रहे हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अमली या व्यावहारिक लोग मजदूरी या वेतनकी प्रथाको स्थायी बनानेके इस उपायकी प्रशंसा करें। जब सत्ताधीशोंके सनातनसे चले आये हुए ये उपाय हमारे पास मौजूद हैं तो हमें अपने मस्तिष्कोंको कष्ट देनेकी आवश्यकता ही क्या है?

क्रांति अगर शुरूसे ही गलत रास्तेपर लगायी गयी तो इसका जहाज़ किनारे कैसे लगेगा?

२७ फरवरी सन् १८४८ को जब राष्ट्रीय कारखाने खुले थे, पेरिसके बेकारोंकी संख्या ८००० थी। दो सप्ताहके बाद वे ४९,००० हो गये। प्रांतोंसे आनेवालोंकी बड़ी संख्याको शामिल किये बिना भी, उनकी संख्या शीघ्र ही १,००,००० हो जाती।

फिर भी उस समय फ्रांसके व्यवसायों और कारखानेमें लगे हुए मजदूर आजसे आधे थे। हम जानते हैं कि क्रांतिमें विनिमय और

*सन् १९०४ में पेरिसका म्युनिसिपल ऋण २,२६,६५,७९,१०० फ्रांक था और उसके व्याज आदिपर होनेवाला व्यय१२१,०००,००० फ्रांक था

उद्योग-धन्धोंको ही अधिक हानि पहुँचा करती है । वास्तवमें हमें उन्हीं श्रमजीवियों की चिन्ता करनी है। जिनकी मजदूरी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे निर्यात-व्यापारपर अवलम्बित है या जो उस विलास-सामग्रीको बनानेमें लगे रहते हैं जिनकी खपत अल्पसंख्यक मध्यमवर्ग में होती है।

तो यूरोपमें क्रांति हो जानेका अर्थ यह है कि कम-से-कम आधे कारखानोंका अनिवार्य रूपसे बन्द हो जाना, लाखों श्रमजीवियों और उनके परिवारोंका सड़कोंपर मारे-मारे फिरना। 'अमली आदमी' लोगोंके कष्ट-निवारणार्थ तत्काल नये राष्ट्रीय कारखाने खोलकर इस भयंकर परिस्थिति को हटाना चाहेंगे। वे बेकारोंको काम देनेके लिये उसी वक्त नये उद्योग-धन्धे खोलेंगे।

जैसा कि प्रूडोन ने लगभग ५० वर्ष पहले बता दिया था, यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिपर हल्का-सा हमला करनेसे भी उसके साथ ही व्यक्तिगत व्यवसाय और मजदूरी प्रथापर आश्रित सारी प्रणाली-का पूर्ण विघटन हो जायगा। समाजको विवश होकर सम्पूर्ण उत्पादन अपने हाथमें लेना पड़ेगा और सारी जनताकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करने के लिए उसका पुनःसंगठन करना पड़ेगा। परन्तु यह कार्य एक दिनमें या एक मासमें पूरा नहीं हो सकता। माल तैयार करनेका ढांचा बदलनेमें कुछ समय लगेगा। और इतने काल तक लाखों आदमी जीवन-निर्वाह के साधनों से वंचित रहेंगे। तो फिर क्या किया जाय?

यह समस्या एक ही तरहसे हल हो सकती है। जो महान् कार्य हमारे सामने है उसे हम साहसके साथ हाथमें ले लें और जिस परिस्थितिको हमने बिगाड़ दिया है उसमें पैबन्द लगाने का प्रयत्न न करके बिलकुल नए आधारपर पुनःसंगठन प्रारम्भ करें।

इसी प्रकार हमारी समझसे काम करनेका सच्चा व्यावहारिक रास्ता यही होगा कि लोग विद्रोह प्रदेशोंकी सारी भोजन सामग्रीपर तत्काल अधिकार करलें। उस सारी सामग्रीका पूरा-पूरा हिसाब रखा जाय, ताकि उसमेंसे थोड़ीका भी नुकसान न हो, और इस इकट्ठी की हुई शक्तिसे हरएक व्यक्ति विपद-कालको पार करने योग्य हो जाय। उसी बीच,

कारखानोंमें काम करने वालोसे एक समझौता करना होगा। उन्हें आवश्यक कच्चा माल देना होगा, उन्हें जीवन-निर्वाहके साधन मिलनेकी पक्की व्यवस्था कर देनी होगी, और वे किसानोकी जरूरतकी चीजें तैयार करनेका काम करेंगे। अन्तमें, पड़ती भूमिको जो बहुत-सी है, खूब उपजाऊ बनाना पड़ेगा, कम उत्पन्न करने वाली भूमिको अधिक उत्पन्न करनेवाली बनाना पड़ेगा, और अच्छी जमीनको भी जिसकी उपज आज जितनी हो सकती है उसकी चौथाई या दशांश भी नहीं है, कीमती बाग या फूलोकी क्यारीकी तरह मेहनतसे जोतकर तैयार करना पड़ेगा। और किसी तरह इस गुत्थीको सुलझानेकी बात सोची ही नहीं जा सकती। हम चाहे या न चाहे, परिस्थिति बलात् यही कराके रहेगी।

३

वर्तमान पूंजीवादकी सबसे बड़ी विशेषता है मजदूरी-प्रथा। वह संक्षेपमें इस प्रकार है—

कोई आदमी या कई आदमियोंका गुट्ट, जिसके पास आवश्यक पूंजी होती है, कोई औद्योगिक कारबार शुरू करता है। कारखानोको कच्चा माल देनेका भार वही ले लेता है और उत्पत्तिका प्रबन्ध भी वही करता है। काम करनेवालोको तो बंधी मजदूरी-भर दे देता है और सारा मुनाफा खुद हड़प कर जाता है। इसके लिए बहाना यह बनाया जाता है कि कारबार का प्रबन्ध करना, इसकी सारी जोखिम उठाना और मालका दाम घटने-बढ़नेकी झोंकी लेना, यह सब जो हमींको करना पड़ता है।

इस प्रथाको बनाये रखनेके लिए पूंजीपर वर्तमान एकाधिकार रखने वाले लोग कुछ रियायत देनेको तैयार हो जायेंगे। मसलन् वे श्रम-जीवियोंको लाभका कुछ भाग देना मंजूर कर लेंगे, अथवा मंहगीके समय मजदूरी बढ़ा दिया करेंगे। गरज यह कि यदि उन्हें कारखाने अपने हाथमें रखने और उनके अच्छे फल खा लेने दिया जाय तो वे थोड़ा-सा त्याग करना भी स्वीकार कर लेंगे।

हम जानते हैं कि समष्टिवाद ( Collectivism ) मज़दूरी-प्रथाको मिटाता नहीं, हां वर्तमान व्यवस्थामें वह बहुत-कुछ सुधार अवश्य सुझाता है। समष्टिवादके अनुसार कारखानेदार न रहेंगे, उनके बदले राज्य या प्रतिनिधि-शासन रहेगा। राष्ट्रके प्रतिनिधि या प्रदेशोंके प्रतिनिधि और उनके सहकारी या अधिकारी लोग ही उद्योग-धंधोंका संचालन करेंगे। बचे हुए मालके सबके हितके लिए उपयोगका हल भी ये लोग अपने ही पास रखेंगे। इसके अतिरिक्त समष्टिवाद मजूर और कारीगरके बीच एक बड़ा सूक्ष्म पर महत्त्वपूर्णभेद करता है। समष्टिवादीकी दृष्टिमें मजदूरका काम 'साधारण' श्रम है। परंतु एक कारीगर, मिस्तरी, इंजीनियर, विज्ञावेत्ता आदिका काम वह काम है जिसे मार्क्सने 'पेचीदा काम' कहा है और इसलिए उसका वेतन भी ऊंचा होना चाहिये। पर मजदूर और कारीगर, बुनकर और विज्ञानवेत्ता, सभी राज्यके वेतन-भोगी नौकर हैं।

परंतु आनेवाली क्रान्तिसे यदि सब प्रकारकी मजदूरीकी प्रथा मिट जाय और ऐसे साम्यवादकी स्थापना हो जाय जिसमें इस प्रकारकी गुलामीकी गुंजाइश ही न रहे तो मनुष्य-समाजकी इससे बड़ी और क्या सेवा हो सकती है ?

यह मान लेनेपर भी कि संपन्नता और शांतिके समयमें वर्तमान व्यवस्थामें समष्टिवादी सुधार धीरे-धीरे किया जा सकता है—यद्यपि मुझे इसमें संदेह है—पर क्रांति-कालमें, जब युद्धके प्रथम आह्वानके साथ लाखो भूखे लोगोंको खिलानेकी आवश्यकता खड़ी हो जायगी, इस प्रकारका सुधार करना असंभव होगा। उद्योग-धंधोकी जड़ोंको हिलाये बिना राजनीतिक क्रांति तो हो सकती है, परंतु जिस क्रांतिमें लोग संपत्तिपर हाथ डालेंगे उसमें सारा विनिमय और सारा उत्पादन बंद हुए बिना नहीं रह सकता। सार्वजनिक कोषमें आनेवाला करोड़ोंका धन भी लाखों बेकारोंको मजदूरी चुकानेके लिए काफी न होगा।

इस बातपर जितना भी जोर दिया जाय कम होगा। नये आधार पर उद्योग-धंधोंका पुनःसंगठन कुछ ही दिनोंमें पूरा नहीं हो सकता।

और, न लोग मजदूरी-प्रथाका समर्थन करनेवाले सिद्धान्तवादियोंपर कृपा करके वर्षोंतक आधे पेट रहना ही स्वीकार करेंगे। कष्ट-कालको पार करनेके लिए उनकी वही मांग होगी जो ऐसे अवसरोंपर सदा हुआ करती है! वे चाहेंगे कि भोजन-सामग्री सार्वजनिक संपत्ति बना दी जाय और उसमेंसे लोगोंको रसद बांट दी जाया करे।

धैर्यका उपदेश देना व्यर्थ होगा। लोग धैर्य न रख सकेंगे। यदि भोजन न मिलेगा तो वे रोटीकी दुकानोंको लूट लेंगे।

इसके बाद यदि लोग सफल न हो सके तो वे गोलियोंसे मार दिये जायंगे और समष्टिवादके लिए मैदान साफ कर दिया जायगा। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए किसी भी प्रकार 'व्यवस्था' स्थापित करनी पड़ेगी। और अनुशासन और आज्ञापालकता उत्पन्न करनी होगी। जब क्रांतिकारी कहे जानेवाले लोग ही जनतापर गोलियां दागेंगे तो जनताकी दृष्टिमें क्रांति घृणित हो जायगी। पूंजीपति लोग यह बात शीघ्र ही समझ जायंगे। वे अवश्य ही 'व्यवस्था' कायम करनेवाले वीरोंका समर्थन करेंगे, भले ही वे वीर समष्टिवादी ही क्यों न हों। वे समझेंगे कि इस उपायसे बादमें हम समष्टिवादियोंको भी दबा लेंगे। यदि इस विधिसे 'व्यवस्था' स्थापित हो गयी तो परिणामका अनुमान करना सरल है। 'व्यवस्था' करने वाले लोग 'लूट मचानेवालों' को ही मारकर संतुष्ट न हो जायगे। वे 'भीड़के सरगना' लोगोंको भी पकड़ेंगे। वे फिरसे न्यायालय स्थापित करेंगे और जल्लाद मुकर्रर करेंगे। ज्यादा जोशीले क्रांतिकारी फांसीके तख्तेपर चढ़ा दिये जायंगे। सन् १७९३ की पुनरावृत्ति हो जायगी।

पर सारे लक्षणोंसे हमें तो यही विश्वास होता है कि लोगोंका जोश उन्हें काफ़ी दूर ले जायगा और जब क्रांति होगी तबतक अराजक साम्यवाद के विचार जड़ पकड़ लेंगे। ये विचार बनावटी नहीं हैं। लोगोंने स्वयं ही इन विचारोंको प्रकट किया है। और, जैसे-जैसे यह मालूम होता जाता है कि इसका दूसरा उपाय नहीं है वैसे-वैसे समाजवादी लोगोंकी संख्या बढ़ती जाती है।

अगर लोगोंमें जोश काफी ज्यादा हुआ तो परिस्थिति बिलकुल दूसरी ही होगी। विप्लवकारी नगरोंके लोग तब ऐसा न करेंगे कि पहले दिन तो रोटीवालोंकी दूकानोंको लूट लें और दूसरे ही दिन भूखों मरें। वल्कि वे गोदामोंपर, पशुओंके बाजारोंपर—वस्तुतः खानेकी चीजों के सारे भण्डारों और समस्त प्राप्य भोजनपर—अधिकार कर लेंगे। भले-भले नागरिक स्त्रियां और पुरुष दोनों, अपने स्वयंसेवक दल बना लेंगे और सारी दूकानों और गोदामोंकी चीजोंकी एक सरसरी साधारण सूची बना लेने के काममें लग जायेंगे।

यदि ऐसी क्रांति पेरिस में हुई तो खाद्य-सामग्रीका परिणाम कम्यूनको चौबीस घण्टोंमें ही मालूम हो जायगा, जो गणना-कमेटियोंके होते हुए भी आज नगरको मालूम नहीं है और जिस बातका पता १८७१ के घेरेमें भी उसे लग न पाया था। अड़तालीस घण्टेमें तो ऐसे नक्शोंकी लाखों प्रतियां छपकर बंट भी जायगी जिनमें प्राप्य सामग्रीका ठीक-ठीक हिसाब दिया होगा और यह लिखा होगा कि कहां-कहां वे रखी हैं और कैसे-कैसे बांटी जायंगी।

हर चालमें, हर गलीमें, हर मुहल्लेमें स्वयंसेवकों के दल संगठित हो जायंगे। ये सामान पहुँचाने वाले स्वयंसेवक आसानीसे दूसरोंसे मिलकर और उनसे संपर्क रखकर काम कर सकेंगे, बशर्ते कि उद्दण्ड राजनीतिज्ञोंकी तलवारोंकी बाधा मार्गमें न आये और अपनेको वैज्ञानिक' सिद्धांतवादी कहने वाले लोग अपनी उलटी सलाहें देनेको बीचमें न कूदें। वे अपने कूड़ा-भरे मगजोंसे निकाल निकाल कर कैसे ही सिद्धांतों का प्रतिपादन क्यों न करते रहें, उन्हें कोई अधिकार या सत्ता न मिलनी चाहिये। जनतामें संगठन करनेकी अद्‌भुद् शक्ति है, पर उसे काममें लानेका उसे कभी अवसर न दिया गया। उपर्युक्त बाधायें न आयीं तो उसी शक्तिसे बड़े-से-बड़े नगरमें और क्रांतिके मध्यमें भी अवैतनिक कार्यकर्ताओंका ऐसा बड़ा संघ बन जायगा जो सब लोगोंको भोजन पहुँचानेको तैयार हो जायगा।

यदि लोगोंको आप स्वतन्त्र छोड़ दें तो दस दिनमें ही भोजन-प्रबन्ध

बड़ी नियमबद्धतासे चलने लगेगा। जिन्होंने लोगोंको जी-जानसे काम करते कभी नहीं देखा, जिन्होंने दफ्तरों के कागजोंमें ही अपना सारा जीवन बिता दिया है, केवल वे ही लोग इस बातमें शंका कर सकते हैं। घेरे के दिनोंमें पेरिसके लोगोंने जिस संगठन-शक्ति का परिचय दिया था, और डकके मजदूरोंकी हड़तालके समय, जब पाच लाख भूखों मरते आदमियोंको खिलाना पड़ता था, लदनमें जो संगठन-शक्ति लोगोंने दिखाई थी, उसको देखने वाले लोग बता सकते हैं कि वह कोरी दफ्तरी योग्यतासे कितनी बड़ी चीज है।

यदि हम मान लें कि हमें थोड़ी असुविधा और गड़बड़ एक पक्ष या मासतक सहन करनी पड़ेगी, तो भी क्या ? साधारण जनताके लिए तो वह हालत उसकी पिछली हालतसे अच्छी ही होगी। और फिर क्रातिके दिनोंमें घटनाओंपर गरमागरम बहस करते हुए दो टुकड़ा नमक-रोटी खाकर भी मनुष्य संतोष मान सकता है।

कुछ भी हो, अनेक कमेटियां बनाने वाले अप्रगतिशील सिद्धांतवादी लोग चहारदीवारियोंके बीच बैठकर जिस बातका आविष्कार करेंगे उसकी अपेक्षा तो सामयिक आवश्यकतासे अपने आप निकल आनेवाली व्यवस्था हजार दर्जे अच्छी होगी।

## ४

बड़े नगरोंके लोगोंको तो सारे नागरिकोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति के लिए परिस्थितिसे विवश होकर सारी खाद्य-सामग्रीपर कब्जा करना पड़ेगा—पहले परम आवश्यक वस्तुओंपर, फिर दूसरी चीजोंपर। यह काम जितनी जल्दी होगा उतना ही अच्छा होगा। लोगोंकी उतनी ही कम दुर्दशा होगी और झगड़ा भी कम होगा।

परन्तु समाजको किस आधारपर संगठित करना चाहिए जिससे भोजनकी वस्तुओंका उचित भाग सबको मिल सके ? यही प्रश्न हमारे सामने पहले आता है।

हमारा उत्तर तो यह है कि इससे दो भिन्न उपाय नहीं हो सकते।

साम्यवाद (कम्यूनिज़्म) को ठीक तरहसे स्थापित करनेवाला और हमारी न्याय-बुद्धिको संतुष्ट करनेवाला एक ही मार्ग है। यही व्यावहारिक भी है। यह वही तरीक़ा है जिसे आज भो यूरोपकी साम्यवादी किसान पंचायतों (कम्यूनों) ने ग्रहण कर रखा है।

उदाहरणके लिए किसी जगहके एक कृषक गाँवको लीजिए। फ्रांसकी ही मिसाल लीजिए, जहाँ कि उद्दण्ड राजनीतिज्ञोंने सारे शराकती रिवाजोंको मिटानेकी भरसक कोशिश की है। यदि गांवकी हदमें जलानेकी लकड़ी है तो जबतक सबके लिए भरपूर लकड़ी रहेगी तबतक हर एक आदमी चाहे जितनी ले सकता है। उनके लिए अपने पड़ोसियोंके लोकमतके अतिरिक्त अन्य कोई रोक-टोक नहीं होती। कामकी लकड़ी तो सदा थोड़ी ही होती है, इसे वे सावधानीसे आपसमें बांट लेते हैं।

शराकती चरागाहकी भी ऐसी ही बात है। जबतक चरनेको खूब है तबतक एक घरके कितने पशु चरते हैं या भूमिपर कितने पशु चरते हैं, इसकी कोई हद नहीं बांधी जाती। जबतक कि कमी न मालूम पड़े तबतक चरागाह बंटते नहीं और न चारा ही बंटता है। स्विट्ज़रलैंडके सारे गांवोंमें और फ्रांस और जर्मनीके हज़ारों गांवोंमें, जहां-जहां शराकती या पंचायती चरागाह हैं, यही प्रथा है।

पूर्वीय यूरोपके देशोंमें, जहां बड़े-बड़े जंगल हैं और ज़मीनकी कमी नहीं है, आप देखेंगे कि जिसको जब आवश्यकता होती है, पेड़ काट लाता है, और किसान जितनी भूमि चाहते हैं, जोत लेते हैं। इस बातका ख़याल नहीं किया जाता कि लकड़ी या ज़मीनमें किसका कितना हिस्सा है। परंतु ज्योंही लकड़ी या ज़मीन दोनोंमें से किसीकी कमी मालूम होती है त्योंही प्रत्येक परिवारकी आवश्यकताके अनुसार बटवारा कर लिया जाता है। रूसमें पहलेसे ही यही होता आ रहा है।

संक्षेपमें व्यवस्था यह है कि समाजके पास जो चीज़ बहुतायतसे है उसके विषयमें तो कोई सीमा या बंधन नहीं है, पर जिन चीज़ोंकी कमी है या हो जानेकी संभावना है उनका बराबर बटवारा कर

लिया जाता है। यूरोपके ३५ करोड़ निवासियोंमें से २० करोड़ तो आज भी स्वाभाविक साम्यवादकी इस प्रणालीपर चलते हैं।

बड़े कस्बोंमें भी कम-से-कम एक चीज ऐसी है जो इफरातसे पायी जाती है। वह चीज़ है पानी। उसके विषयमें भी यही प्रणाली प्रचलित है। जबतक पानीके कम पडनेका डर नहीं होता तबतक कोई भी कंपनी किसी घरमें पानीका खर्च रोकना नहीं चाहती। जितना चाहिए उतना ले लीजिए। पर अनावृष्टिकी अवस्थामें यदि पानीके कम पड़नेका डर होता है तो कंपनियां सिर्फ इतना करती हैं कि समाचारपत्रोंमें एक छोटा विज्ञापन छपाकर इस बातकी सूचना जनताको दे देती हैं, और नगर वाले पानीका खर्च कम कर देते हैं। वे उसको व्यर्थ नष्ट होने नहीं देते। परंतु पानी यदि वास्तवमें कम हो जाय तो क्या किया जायगा? उस समय नियत परिमाणमें पानी देनेकी प्रणाली काममें लायी जायगी। यह उपाय इतना स्वाभाविक है और साधारण-बुद्धिमें इतना बैठा हुआ है कि १८७१ के दोनों घेरोंमें पेरिसने दो बार इस व्यवस्थाको खुद अपनाया था।

यह दिखानेके लिए कि पानी या भोजन बाँटनेकी व्यवस्था किस प्रकार चलेगी और यह सिद्ध करनेके लिए कि वह वर्तमान अवस्थासे बहुत अधिक न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होगी, तफ़सीलवार नक्शे तैयार करनेकी जरूरत नहीं है। ये सारे नक्शे और तफसीलें भी उन लोगोंको विश्वास नहीं दिला सकतीं जो मध्यमवर्गके हैं, या जो मध्यमवर्गके से विचार रखनेवाले श्रमजीवी हैं और जो यह समझते हैं कि कोई नियंत्रक शक्ति न रहेगी तो लोग एक-दूसरे पर टूट पड़ेंगे या जंगली आदमियोंकी भांति एक-दूसरेको खा जायंगे। यदि साधारण जनताके हाथमें परिस्थिति आजाये तो वह पूर्ण न्याय और निष्पक्षतासे भोजनका बंटवारा कर सकेगी या नहीं, यह आशंका उन्हीं लोगोंको होती है जिन्होंने कभी जनताको स्वयं निश्चय करते और तदनुसार काम करते नहीं देखा है।

जनताकी किसी सभामें यदि आप अपनी यह राय प्रकट करें कि नफ़ीस खाने तो अकर्मण्य अमीरोंकी लोलुप जिह्वाकी तृप्तिके लिए रहें

और अस्पतालके बीमारोंको काली रोटी दी जाय, तो आपको धिक्कार मिलेगा। पर उसी सभामें गली-कूचों और हाट-बाजारमें आप यह कहें कि सबसे उम्दा खाने बीमारों और कमजोरोंके लिए, खासकर बीमारोंके लिए रहें; बीमारोंके बाद बालकोंकी बारी है, अगर गायों और बकरियों का दूध सबको देनेभर न हो तो वह भी बच्चोंके लिए ही रखा जाय; और यदि समाज बिलकुल हीन-दशाको ही पहुँच गया हो तो घी-दूध केवल बालकों और बूढ़ोंको ही और मजबूत आदमियोंको सूखी रोटी मिला करे। संक्षेपमें, आप यह कहें कि यदि कोई वस्तु कम रह जायगी और उसका बंटवारा करना होगा तो वह उनको अधिक दी जायगी जिनको अधिक आवश्यकता होगी और फिर देखें कि आपकी बात किस तरह सर्वमान्य होती है।

जिस आदमीका पेट खूब भरा हुआ है वह इन बातोंको नहीं समझ सकता। परन्तु जनता इनको समझती है और उसने सदा समझा है। विलासितामेंसपला हुआ व्यक्ति भी अगर गरीब होकर मारा-मारा फिरने लगे और जनताके सम्पर्कमें आये तो वह भी समझने लगेगा।

जिन सिद्धान्तवादी लोगोंके लिए सैनिककी वर्दी और छावनीके भोजनालयकी मेज ही सबसे बड़ी सभ्यता है वे तो निस्सन्देह राष्ट्रीय रसोईघरोंकी भरमार करना चाहेंगे। वे यही बतायेंगे कि यदि बड़े-बड़े रसोई-घर कायम हो जायं और वहीं सब लोग अपनी-अपनी रोटी-तरकारी लेने आयें तो इससे बहुतसे लाभ होंगे और ईंधन और भोजनकी बड़ी बचत होगी।

हमें इन लाभोंके विषयमें सन्देह नहीं है। हम खूब जानते हैं कि जबसे हर घरमें अलग-अलग चूल्हा और अलग-अलग चक्कीका रिवाज उठ गया तबसे बड़ी मितव्ययिता हुई है। हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि सौ जगह अलग-अलग चूल्हा न जलाकर एक ही जगह सौ परिवारोंके लिए शाक-भाजी बना लेनेमें अधिक किफ़ायत है। हम यह भी जानते हैं कि आलू पकानेके सैकड़ों तरीके हैं। पर यदि सौ परिवारोंके लिए एक ही बड़े बर्तनमें वे उबाल लिये जायं तो भी उतने ही अच्छे बनेंगे।

वास्तवमें खाना पकानेके विविध प्रकार तो इसलिए हैं कि रसोइये या गृहिणियाँ अलग-अलग ढंगसे मसाले और बघार देती हैं। फिर भी यदि एक मन आलू एक ही जगह पक जायं तो रसोइयों या गृहस्वामिनियोंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उसीको विशेष प्रकारसे बनानेसे कौन रोकेगा ?

पर इन सब बातोंको जानते हुए भी हम यह मानते हैं कि यदि कोई गृहस्वामिनी अपने ही चूल्हेपर अपने ही बर्तनमें अपने आलू पकाना चाहती है तो उसे सार्वजनिक रसोईघरसे ही आलू लेनेको मजबूर करनेका अधिकार किसीको नहीं है। और सबसे बड़ी बात तो हम यह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने कुटुम्ब या अपने मित्रोंके साथ या उसे पसन्द आये तो होटलमें जाकर भी भोजन करनेकी स्वतन्त्रता रहे।

वर्तमान समयके होटलोंके स्थानोंपर, जहाँ आजकल लोगोंको जहरीला खाना खिलाया जाता है, अपने आप बड़े-बड़े सार्वजनिक रसोईघर खड़े हो जायंगे। जब भविष्यकी सार्वजनिक पाठशालाएं स्थापित हो जायंगी और जब लोगोंको न तो धोखा दिया जायगा न दूषित पदार्थ खिलाये जायंगे और उन्हें अपना भोजन वहां पकवा लेनेका सुभीता हो जायगा, तब भोजनकी मूल वस्तुओंके लिए वहीं जानेका रिवाज आम हो जायगा, केवल उन चीजों-को मसाले आदि देकर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार बना लेनेका ही काम बाकी रह जायगा।

परन्तु सबको वहांसे पका-पकाया भोजन ही लेना चाहिए, इस विषयमें कोई कड़ा नियम बनाना हमारे आधुनिक मनको उतना ही बुरा लगेगा जितना कि मठों या बारिकोंमें रहनेका विचार। ये विचार अत्याचार या अन्धविश्वाससे दिमागोंसे निकले हुए हैं और दूषित हैं।

पंचायती भोजनालयसे भोजन पानेका अधिकार किसको होगा और किसको नहीं, इस प्रश्नपर हमें पहले विचार करना पड़ेगा। प्रत्येक नगर या बस्ती अपना उत्तर खुद निकाल लेगी और हमें विश्वास है कि सारे उत्तर न्याय-प्रेरित ही होंगे। जबतक श्रम-विभाजन फिरसे न हो जायगा, जबतक अशांतिका काल बना रहेगा और जबतक असाध्य अकर्मण्यों

और काम न मिलनेसे बेकार बने श्रम-जीवियोंका भेद करना असंभव रहेगा, तबतक तो प्राप्त भोजन-सामग्रीमेंसे सबको बिना अपवादके खाना मिलना ही चाहिए। जो लोग नयी व्यवस्थाके शत्रु रहे होंगे वे तो स्वयं ही वहांसे चले जायंगे। पर हमारा अनुमान है कि जन-साधारण सदा उदार होते हैं। उनके स्वभावमें कभी बदला लेनेकी प्रवृत्ति नही होती। वे अपने साथ रहने वाले—विजित और विजेता—सभी लोगोंके साथ बांटकर खानेको तैयार हो जायंगे। ऐसा विचार रखनेसे क्रांतिको कोई हानि न होगी, और जब फिर काम चलने लगेगा तो पहलेके विरोधी भी उनके साथ कारखानोंमें काम करने लगेंगे। जिस समाजमें काम करना अपनी इच्छाकी बात होगी उसे आलसियोंसे कोई डर न रहेगा।

इसपर आलोचक तुरत कह देते हैं कि "खाद्य-सामग्री तो एक मासमें ही समाप्त हो जायगी।"

हम कहते हैं कि "यह तो और भी अच्छा होगा।" इससे सिद्ध होगा कि इतिहासमें पहली बार लोगोंको भरपेट खानेको तो मिला। नया सामान किस प्रकार प्राप्त किया जाय इसपर हम अगले प्रकरणमें विचार करेंगे।

## ५

वे कौन-से उपाय हैं जिनसे क्रांतिके समय किसी नगरको भोजन-सामग्री प्राप्त हो सकती है? हम इस प्रश्नका उत्तर देंगे, पर यह स्पष्ट है कि वहांके प्रांतों और समीपवर्ती देशोंमें क्रांतिका जो रूप होगा उसीके अनुसार उपाय करने होंगे। यदि कोई पूरा देश, अच्छा तो यह है कि सारा यूरोपही, समाजवादी क्रांति कर डाले और पूर्ण साम्यवादी सिद्धांतको लेकर चले, तो हमारा तरीका और भी सरल हो जायगा। परंतु यदि वहांकी कुछ थोड़ी-सी ही बस्तियाँ या समुदाय प्रयत्न करें तो उपाय दूसरे ही चुनने पड़ेंगे। जैसी अवस्था होगी वैसी व्यवस्था करनी होगी।

इसलिए पहले हमें यूरोपकी दशापर एक निगाह डालनी होगी और भविष्यवाणीका दावा न करते हुए भी हम इसका अंदाजा लगा सकते हैं कि क्रांतिकी दिशा, या कम-से-कम उसके मुख्य लक्षण क्या होंगे ?

निस्संदेह यह तो बड़ी अच्छी बात होगी कि सारा यूरोप एक-बारगी उठ खड़ा हो, निस्स्वत्वीकरण सार्वत्रिक हो जाय और हरएक व्यक्ति समाजवादके सिद्धांतोंसे प्रेरित हो जाय। ऐसे व्यापक विप्लवसे तो हमारी शताब्दिका काम बहुत आसान हो जायगा।

पर सारे लक्षणोंसे हमें यही विश्वास होता है कि ऐसा होगा नहीं। इसमें तो हमें संदेह नहीं कि क्रांति सारे यूरोपमें फैल जायगी। महाद्वीपकी चारों बड़ी राजधानियों—पेरिस, ब्रुसेल्स, वियेना और बर्लिन में से एक भी यदि क्रांति करके सरकारको उलट दे तो यह प्रायः निश्चित है कि अन्य तीन राजधानियां भी कुछ ही सप्ताहोंके भीतर उसका अनुसरण करेंगी। बहुत संभव है कि स्पेन, इटली, यूनान आदि और लंदन पीटर्सबर्ग (अब लेनिनग्राड) भी यही मार्ग ग्रहण करें। परंतु क्रांतिका सब जगह एक ही रूप होगा, इसमें बहुत संदेह है।

बहुत संभव है कि सर्वत्र निस्स्वत्वीकरण बहुत विस्तृत रूपमें हो। यूरोपका कोई भी बड़ा राष्ट्र ऐसा करेगा तो उसका प्रभाव औरोंपर भी पड़ेगा ही, परंतु क्रांतिके प्रारंभिक रूपोंमें बड़े-बड़े स्थानीय भेद रहेंगे और देश-देशमें क्रांतिका मार्ग भी पृथक्-पृथक् होगा। १७८९-९३ में फ्रांसके किसानोंको जागीरदारोंके हक्कोंसे अपनेको मुक्त करने और मध्यमवर्ग वालोंकी राजसत्ताको उखाड़ फेंकनेमें चार वर्ष लग गये। यही बात हमें ध्यानमें रखनी चाहिए, और क्रांतिके धीरे-धीरे अपनेआप विकसित होनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि कहीं-कहीं उसका कदम कुछ धीमा पड़ रहा हो तो हम अपना दिल न छोटा करें।

इसमें तो संदेह करनेकी गुंजाइश ही नहीं कि भविष्य में जो क्रांति होगी वह पहलेकी क्रांतियोंसे बढ़कर होगी। फ्रांसकी अठारहवीं शताब्दिकी क्रांति इंगलैंडकी सत्रहवीं शताब्दिकी क्रांतिकी अपेक्षा आगे बढ़ी हुई थी। उसने एक ही प्रहारमें राजाकी सत्ता और भूमिपतियोंकी

शक्ति मिटा दी थी, पर इंगलैंडमें इनका प्रभाव आज भी बना है।

इन अनुमानोंको हम अनुमानसे अधिक नहीं मानते। फिर भी हम इनसे सरलतासे यह नतीजा निकाल सकते हैं कि यूरोपकी भिन्न-भिन्न जातियोंमें क्रांति भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करेगी और सम्पत्तिको सामाजिक बना लेनेमें सब जगह एक-सी प्रगति न होगी।

तो क्या इस आंदोलनके अग्रगामी राष्ट्रोंको पीछे रह जानेवाले राष्ट्रोंके लिये रुके रहना होगा? क्या हमको तबतक रुके रहना पड़ेगा जबतक कि सारे सभ्य देशोंमें साम्यवादी क्रांतिकी तैयारी न हो जाय? कदापि नहीं। हम ऐसा करना भी चाहें तो संभव नहीं है। इतिहास पिछड़े हुओंके लिये नहीं ठहरा करता।

कुछ साम्यवादी लोगोंकी यह कल्पना है, पर हमें विश्वास नहीं होता कि क्रांति एकदम ही, एक ही क्षणमें हो जायगी। यह बहुत संभव है कि यदि फ्रांसके बड़े नगरोंमेंसे एक नगर भी समाजवादी शासनकी घोषणा करे तो अन्य नगर और कस्बे भी वैसा ही करेंगे। संभवतः बहुतसे खानोंवाले प्रदेश या औद्योगिक केन्द्र भी 'स्वामियों' या मालिकों से अपना पिंड छुड़ाकर अपने स्वाधीन संघ बना लेंगे।

पर बहुत-से देहाती इलाके इतना आगे बढ़े हुए नहीं होते। क्रांति कर डालनेवाले नगरोंकी बगलमें होते हुए भी ऐसे स्थान प्रतीक्षा-वृत्तिमें रहेंगे और व्यक्तिवादी प्रणालीपर चलते रहेंगे। जब जमींदारके कारिन्दे या कर वसूल करनेवालेका आना बंद हो जायगा तो वे कृषक क्रान्तिकारियोंके विरोधी न रहेंगे। इस प्रकार नई व्यवस्थासे लाभ उठाते हुए ये लोग स्थानीय लुटेरे पूंजीवालों का हिसाब चुकानेमें भी टालमटोल करेंगे। परन्तु कृषकोंके विप्लवोंमें सदा एक खास अमली जोश हुआ ही करता है। उसी जोशके साथ वे भूमिको जोतनेके काममें लग पड़ेंगे, क्योंकि करों और बंधकोंके भारसे मुक्त हो जानेपर ज़मीन उन्हें और भी प्यारी हो जायगी।

दूसरे देशोंमें भी क्रांति होगी, पर उसके रूप भिन्न-भिन्न होंगे। कसी देशमें राज्यनियंत्रित समाजवाद स्थापित होगा और उत्पत्तिके साधन

उसके अधीन रहेंगे। कहीं छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्योंका संघ बनेगा। पर हर जगह वह होगी न्यूनाधिक समाजवादी ही। हां, सब जगह किसी एक ही नियमका अनुसरण न करेगी।

६

अब हमें क्रांतिकी अवस्थासे गुजरनेवाले नगरके उदाहरणपर फिर वापस आजाना चाहिए और इस बातपर विचार करना चाहिए कि नगरवासी किस प्रकार अपने लिए खाद्य-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। यदि सारे राष्ट्रने ही साम्यवाद स्वीकार न किया हो तो आवश्यक सामग्री किस प्रकार मिल सकेगी? इसी मसलेको हल करना है। फ्रांसके किसी बड़े नगर या राजधानीका ही उदाहरण लीजिए। पेरिस प्रतिवर्ष हज़ारों मन गल्ला, चार लाख बैल, तीन लाख बछड़े, चार लाख सुअर, बीस लाखसे अधिक भेड़ें भक्षण कर जाता है। शिकारके जानवरोंका मांस इसके अलावा है। इसके अतिरिक्त यह नगर २ करोड़ पौंडसे अधिक मक्खन, २० करोड़ अंडे और इसी हिसाबसे दूसरी चीजें खा जाता है।

वह अमेरिका, रूस, हंगरी, इटली, मिस्र और ईस्ट तथा वेस्ट-इंडीजसे आटा और गल्ला मंगाता है, जर्मनी, इटली, स्पेन, रूमानिया और रूसतक से पशु मंगाता है और किरानेकी चीज़ें तो संसारके सभी देशोंसे थोड़ी-बहुत आती हैं।

अब यह देखना चाहिए कि देशकी पैदावारसे ही, जिसे सूबे खुशीसे भेजेंगे, पेरिस या किन्हीं दूसरे बड़े नगरोंको भोजन सामग्री फिरसे कैसे पहुंचाई जा सकती है।

जो लोग 'अधिकार'में विश्वास रखते हैं, उन्हें तो यह प्रश्न बड़ा सीधा दिखाई देगा। वे पहले एक सबल केंद्रीय सरकार कायम कर लेंगे, जिसके पास पुलिस, फौज, फांसी, आदि सारे दमनास्त्र मौजूद हों। वह सरकार फ्रांसके सारे मालकी फेहरिस्त तैयार करेगी। सारे देशको सामग्री-प्राप्तिके लिए कई विभागोंमें विभाजित करेगी और 'आज्ञा' देगी कि इतनी-इतनी भोज्य-सामग्री, इस स्थानपर, इस दिन, इस

स्टेशनपर पहुंच जानी चाहिएं। वहां एक विशेष अधिकारी मौजूद होगा, जो उस सामग्रीको लेगा और खास भंडारोंमें इकट्ठा करके रखेगा।

पर हम पूर्ण विश्वासके साथ कहते हैं कि यह उपाय न केवल अवांछनीय ही है, किंतु इसको काममें लाना भी असम्भव है। यह अत्यन्त अव्यावहारिक है।

पुस्तक या निबंध लिखने बैठें तो कोई भी आदमी ऐसे स्वप्न देख सकता है। पर वास्तविकताके सामने ये टिक नहीं सकते, १७६३ में यह सिद्ध हो चुका है। अन्य काल्पनिक सिद्धांतोंके समान इस सिद्धांतमें भी यह बात भुला दी गयी है कि मनुष्यमें स्वतन्त्रताकी वृत्ति भी हुआ करती है। इस प्रयत्नका परिणाम यह होगा कि सर्वत्र विप्लव हो जायगा। ग्राम नगरोंके विरुद्ध विद्रोह कर देंगे, राजधानी इस प्रणालीको देशपर लादनेकी मूर्खता करेगी तो सारा देश उसके विरुद्ध शस्त्र उठा लेगा।

अबतक ऊटपटांग कल्पनाएं तो बहुत हो चुकी हैं। अब हमें देखना चाहिए कि क्या और किसी प्रकारके संगठनसे काम चल सकेगा।

फ्रांसकी महान् राज्य-क्रांतिके समय प्रांतोंने बड़े नगरोंको भूखों मारा और क्रांतिका गला घोंट दिया था। और १७६२-६३ में फ्रांसमें अनाजक उपज घटी न थी, बल्कि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि वह और बढ़ी थी। परन्तु जमींदारोंकी जमीनपर कब्जा पाने और फ़सल काट लेनेके बाद किसान कागजी रुपयेके बदलेमें अनाज देनेको तैयार न हुए। इस आशासे कि या तो कीमत बढ़े या सोनेका सिक्का चले, उन्होंने अपना माल रोक रखा। अस्थायी सरकारने कड़े-से-कड़े उपायोंसे काम लिया, पर सब निष्फल हुए। फांसियोंसे भी कोई नतीजा न निकला। किसान अपना अनाज बेचनेको मजबूर न किये जा सके। अस्थायी सरकारके प्रतिनिधियोंने बाजारमें अनाज न लानेवालों और सट्टा करनेवालोंका बड़ी निर्दयतासे वध किया। फिर भी अन्न प्राप्त न हुआ और नगरवासियोंको अकालके कष्ट भोगने पड़े।

पर कृषकोंको उनकी कठिन मेहनतके बदलेमें दी कौन-सी चीज

गई थी ? उन्हें वादेके नोट दिये गये। पर उनकी कीमत तो गिरती ही चली गयी। चालीस पौंडका नोट देकर एक जोड़ा जूता भी न मिलता था। जिस कागज़के टुकड़ेसे एक कमीज भी न खरीदी जा सके, उसके बदलेमें किसान अपनी सालभरकी कमाई कैसे दे सकता था ?

जबतक निकम्मा कागज़ी रुपया ही किसानको मिलेगा तबतक सदा यही हाल होगा। देहात अपना माल रोक रखेंगे और नगर भूखों मरेंगे, फिर चाहे अवश्य करनेवाले किसान पूर्ववत् फांसीपर ही क्यों न चढ़ा दिये जायं।

हमें चाहिए कि किसानको उसकी मेहनतके बदलेमें निरर्थक नोट न देकर उसकी परम आवश्यकताकी चीजें बनाकर दें। उसके पास खेतीके अच्छे औजार और सर्दी-गरमीसे बचाव करनेवाले कपड़े नहीं हैं। उसके पास रद्दी चिमनी या दिया है, लैंप और तेल नहीं है। उसके पास फावड़ा, पचांगुरा और हल नहीं हैं। आजकल इन चीजोंके बिना ही उसे काम चलाना पड़ता है। यह बात नहीं है कि वह इनकी ज़रूरत न समझता हो। मगर हजारों उपयोगी चीजें उसके सामर्थ्यसे बाहर हैं। बेचारेके पास उन्हें खरीदनेके लिए पैसा ही नहीं है।

शहरोंको चाहिए कि अमीर लोगोंकी स्त्रियोंके वास्ते तड़क-भड़ककी चीजें न बनाकर शीघ्र उन वस्तुओंके बनानेमें लग जायं जिनकी किसानको ज़रूरत है। पेरिसकी सिलाईकी मशीनें ग्रामवासियोंके लिए कपड़े सीनेमें लग जायं। इंगलैंड और रूसके जमींदारों या अफ्रीकाके करोड़पतियोंकी स्त्रियोंके लिए कीमती पोशाकें बनानेकी जरूरत नहीं है। मज़दूरोंके लिए कामपर जाने और छुट्टीके दिनके कपड़े तैयार करने चाहिए।

इसकी ज़रूरत नहीं कि शहरोंसे गांवोंमें लाल-पीले या पचरंगे पट्टे लगाये हुए इंस्पेक्टर भेजे जायं और यह हुक्म दिया जाय कि किसान अपना-अपना माल फलां-फलां मुकामपर पहुंचा दें। बल्कि चाहिए तो यह कि ग्रामवासियोंके पास मित्रतापूर्ण संदेश भेजे जायं और उनसे

भाईचारेके ढंगपर कहलाया जाय कि आप अपना माल हमारे पास पहुँचा दें और हमारे भण्डारों और दुकानोंसे जो तैयार माल चाहें ले जायं। तब तो खाने-पीनेकी चीजें सब ओर से ढेर-की-ढेर आने लगेंगी। किसान केवल उतना माल रोक रखेगा जितना उसको अपने कुटुम्बके लिए आवश्यक होगा, बाकी सब शहरोंको भेज देगा। वह इतिहास-कालमें पहली ही बार यह अनुभव करेगा कि शहरोंके मजदूर उसके साथी, उसके भाई हैं, उसको लूटनेवाले नहीं।

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि इसके लिए कारखानोंकी तो काया-पलट ही कर देनी पड़ेगी। हां, कई विभागोंमें तो पूरा परिवर्तन ही करना पड़ेगा। पर कुछ कारखाने तो थोड़े सुधारसे ही किसानके लिए ऐसे कपड़े, घड़ियां, फर्नीचर और मामूली औजार बनाने लगेंगे जिनके लिए आज उसे बहुत मंहगे दाम देने पड़ते हैं। जुलाहे, दर्जी, मोची, लुहार, बढ़ई, कारीगर और दूसरे धन्धोंवाले सरलतासे उपयोगी और आवश्यक वस्तुएं बनाने लगेंगे और केवल विलासकी वस्तुएं बनाना बन्द कर देंगे। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि जनता यह अच्छी तरह समझ ले कि उद्योग-धन्धोंकी शकल बिल्कुल बदल देना जरूरी है और ऐसा करना न्याय तथा समाजकी उन्नतिका कार्य है। सिद्धान्तवादी लोग अक्सर यह भ्रम फैलाया करते हैं कि यदि उत्पादन और व्यापार आज-कलकी तरह व्यक्तियों के हाथमें रहें और समाज सिर्फ उनका नफा ले लिया करे तो इस ढंगकी क्रांतिसे भी काम चल जायगा। पर जनताको इस धोखेमें नहीं आना चाहिए।

हमारा मत तो इस सारे प्रश्नपर यह है कि किसानको कागजके टुकड़ों से धोखा मत दीजिए—चाहे उन कागजोंपर कितनी ही बड़ी रकम क्यों न लिखी हो। परन्तु उसको मालके बदलेमें वही 'वस्तुएं' तैयार करके दीजिए जिनकी उसे खेतीके लिए जरूरत है। तभी खेतोंकी पैदावार शहरोंमें धड़ल्लेसे आने लगेगी। ऐसा न किया गया तो शहरोंमें खाद्यका अकाल हो जायगा और फिर निराशा और प्रतिक्रिया भी उसके पीछे-पीछे चली आयेंगी।

७

हम बता चुके हैं कि सभी बड़े नगर गल्ला, आटा और मांस न केवल अपने देहाती इलाकोंसे ही बल्कि बाहरसे भी मंगाते हैं। अन्य देश पेरिस को मसाले, मछली और तरह-तरहकी जायकेदार चीजें तो भेजते ही हैं, बहुत-सा गल्ला और मांस भी भेजते हैं।

परन्तु क्रांतिके समय वे बाहरके देशोंका अधिक भरोसा न रख सकेंगे यद्यपि रूसका गेहूँ, इटली या भारतका चावल, स्पेन या हंगरीकी शराब पश्चिमी यूरोपके बाजारोंमें बहुतायतसे मिलती है, पर इसका कारण यह नहीं है कि उन देशोंमें इन चीजोंकी इफरात है या ये जङ्गलमें अपने आप घास-फूंसकी तरह उग आती हैं। मिसालके लिए रूसमें किसान प्रतिदिन १६ घण्टे काम करता है और सालमें तीनसे छः महीनेतक आधे पेट रहता है। यह उसे इसलिए करना पड़ता है कि वह अपना अनाज विदेशोंको भेजकर उसकी कीमतसे जमींदार और राज्यका कर चुका सके। वहां आजकल ज्योंही फसल कट चुकती है, गांवमें पुलिस पहुँच जाती है और उसके सारे घोड़ों और गायोंको सरकारी कर तथा जमींदारके लगानका बकाया चुकानेके वास्ते नीलाम कर देती है। हां, बेचारा किसान व्यापारीके हाथ अपना गल्ला बेचकर खुद ही अपना गल्ला काट ले तो यह नौबत नहीं आती। साधारणतः यह होता है कि वह नुकसान उठाकर अपने पशु नहीं बेचता। वह नौ महीनेके खाने भर अन्न रख लेता है और बाकी बेच देता है। फिर अगली फसलतक गुजारा करनेके लिए वह, यदि फसल अच्छी हुई तो तीन मासतक और खराब हुई तो छः मासतक, अपने आटेमें छाल मिला-मिलाकर काम चलाता है। और उधर लन्दनमें लोग उसीके भेजे हुए गेहूँके बिस्कुट बना-बनाकर खाते हैं।

परन्तु क्रांति होते ही रूसका किसान अपने और अपने बच्चोंके लिए काफी अन्न रख लेगा। इटली और हंगरीके किसान भी ऐसा ही करेंगे। हमें आशा करनी चाहिए कि भारतके किसान भी यही मार्ग

ग्रहण करेंगे। और अमेरिकाके किसान सारे यूरोपके गल्लेकी कमीको पूरा न कर सकेंगे। इसलिए यह समझना व्यर्थ है कि इन देशोंसे जितना गेहूं या बाजरा आयेगा उससे आवश्यकता पूरी हो जायगी।

मध्यम वर्गकी हमारी सारी सभ्यता तो नीचे दर्जेकी जातियों और कम उद्योग-धंधेवाले देशोंकी लूटपर आश्रित है। इसलिए क्रांति उठते ही उस 'सभ्यता' को नष्ट कर देगी और हीन कही जानेवाली जातियोंको स्वाधीन बननेका अवसर देगी। उन जातियोंके लिए तो क्रांति एक वरदान होगी।

परंतु इस महान् लाभका परिणाम यह होगा कि पश्चिमी यूरोपके बड़े-बड़े शहरोंमें खाद्य-सामग्रीका आना निरंतर घटता ही जायगा।

देहातका क्या हाल होगा, यह नहीं कहा जा सकता। एक ओर तो कठोर परिश्रम करनेवाला किसान क्रांतिका लाभ उठाकर अपनी झुकी हुई कमरको सीधा करेगा। आज-कलकी तरह दिनमें चौदह या पंद्रह घंटे काम न करके वह केवल इसके आधे समय ही काम करेगा। इसका परिणाम यही होगा कि खानेकी मुख्य वस्तुओं—अनाज और मांस—की उत्पत्तिमें कमी हो जायगी।

पर दूसरी ओर ज्योंही वह यह समझ जायगा कि अब उसे अपने श्रमसे निठल्ले अमीरोंका पोषण नहीं करना है, उत्पत्ति फिर बढ़ जायगी। नयी जमीन साफ करली जायगी। नयी और बढ़िया मशीनें चलने लगेंगी।

फ्रांसकी महान् राज्यक्रांतिका वर्णन करते हुए मीशले कहता है—"१७९२ में जब किसानोंने ज़मीदारोंसे अपनी प्यारी ज़मीन वापस लेली थी, खेती बड़े उत्साहसे की गयी। उससे पहले किसानोंमें इतना उत्साह कभी नहीं देखा गया था।"

थोड़े ही समयमें वैज्ञानिक ढंगकी खेती करना सबके लिए संभव हो जायगा। बढ़िया मशीनें, रासायनिक खाद और ऐसी दूसरी चीज़ें शीघ्र ही प्रादेशिक या म्युनिसिपल सरकार (कम्यून) की ओरसे दी जाने लगेंगी। परंतु प्रत्येक लक्षणसे अनुमान यही होता है कि प्रारंभमें तो फ्रांस और दूसरे देशोंमें भी खेतीकी पैदावार कुछ घट ही जायगी।

हर हालतमें यही समझना अच्छा होगा कि देहात और विदेश दोनोंसे आनेवाले मालमें कमी होगी। तब यह कमी किस तरह पूरी की जायगी?

उपाय यह है कि हम खुद काम करने लग जायं। जब इलाज हमारे हाथमें ही है तो दूर-दूर दवाइयां ढूंढनेमें परेशान होनेकी क्या जरूरत?

बड़े शहरोंको चाहिए कि वे भी गांवोंकी तरह खेती करनेमें लग जायं। जिसे प्राणि-शास्त्र में "कर्तव्योंका एकत्रीकरण" कहा है उसीपर हमें आजाना चाहिए। अर्थात् पहले श्रम-विभाजन किया जाय, फिर सबको एकमें मिला दिया जाय। प्रकृतिका काम सर्वत्र इसी क्रमसे होता है।

यह केवल दर्शनशास्त्रकी बात नहीं है। परिस्थिति भी हमें यही करनेको मजबूर करेगी। जब पेरिस यह समझ लेगा कि आठ महीनेके बाद रोटीकी कमी पड़ जायगी तो वह गेहूं उत्पन्न करनेके काममें जुट जायगा।

जमीनकी तो कमी न पड़ेगी, क्योंकि बड़े शहरोंके, और खासकर पेरिसके, चारो तरफ ही अमीरोंके बाग-बगीचे मिलते हैं। पेरिसके आस-पास हजारों बीघे जमीन है। यह जमीन दक्षिण रूसके सूखे मैदानोंसे भी कई गुना अधिक उपजाऊ हो सकती है। केवल कुशल कृषकोंके इस काममें लग जानेकी देर है। श्रमिकोंकी भी कमी न रहेगी। जब पेरिसके बीस लाख निवासियोंको रूसके जागीरदारों, रूमानियाके बड़े आदमियों और बर्लिनके महाजनोंकी बीबियोंके विलास और शौक़के सामानके लिए काम न करना पड़ेगा तब आखिर वे करेंगे क्या?

इस शतीमें यंत्र-संबंधी कितने आविष्कार हो चुके हैं; मजदूर पेचीदा मशीनोंपर भी कितनी कुशलताके साथ काम कर लेते हैं; देश और नगरमें आज कितने आविष्कारक, रसायनशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री और व्यावहारिक वनस्पतिशास्त्रके पंडित बागबान विद्यमान हैं। नई-नई कलें बनाने और उनकी उन्नति करनेका कितना सामान आज

उपलब्ध है और सर्वोपरि है पेरिस-निवासियोंकी स्वाभाविक प्रबन्धशक्ति, साहस और कर्मण्यता। इतने सब साधन-सुविधाएं उपलब्ध होते हुए भी क्या अराजक पेरिसकी कृषि प्रांतोंकी पुराने ढंगकी खेतीसे भिन्न न होगी?

कुछ ही दिनोंमें भाप, बिजली, सूर्य-ताप और वायु-वेगसे भी काम लिया जाने लगेगा। भापसे चलनेवाले हल और पटेला खेतकी तैयारीका मोटा काम शीघ्रतासे कर देंगे और इस प्रकार अधिक साफ़ और तैयार की हुई जमीनपर सालमें एक ही बार नहीं, तीन या चार बार तक जोरदार फ़सलें पैदा की जा सकेंगी। इसके लिए, केवल पुरुषों, को—और उनसे ज्यादा स्त्रियोंको—समझदारीके साथ देख-भालभर करनी पड़ेगी।

इस प्रकार वहांके स्त्री-पुरुष और बालक विशेषज्ञोंसे बाग़बानीकी कला सीखते, छोटे-छोटे अलग भूमि-खंडोंपर भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रयोग करते और अधिक-से-अधिक माल पैदा करनेमें परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए खुशीसे खेतीके काममें जुट जायंगे। उन्हें इसमें थकावट या आयास न मालूम होगा, बल्कि शारीरिक व्यायामसे स्वास्थ्य और बल मिलेगा, जो शहरोंमें अक्सर गिरा हुआ रहता है। उस समय खेती करना बेगार और कष्टदायक श्रम न रहेगा, बल्कि उत्सव, आनन्द और सुख-स्वास्थ्यकी वृद्धि करनेवाली वस्तु बन जायगा।

"भूमि कोई भी बांझ या ऊसर नहीं है। जमीनकी कीमत तो किसान-की कीमतके बराबर होती है। यही वर्तमान कृषि-विद्याका अंतिम निर्णय है। जमीनसे आप रोटी मांगिये, वह आपको रोटी देगी—बशर्ते कि आपको ठीक तरहसे मांगना आता हो। यदि किसी बड़े नगरके पास छोटा-सा भी देहाती इलाका हो और बाहरसे उसके लिए खाद्य-सामग्री न आ सकती हो, तो वह इलाका भी अपने यहांकी पैदावारसे ही उस शहरको पूरी खूराक दे सकता है।

यदि अराजक साम्यवाद ठीक तरहसे निस्संपत्तीकरण शुरू करे तो उसका अनिवार्य परिणाम कृषि और उद्योगका संयोग होगा, एक ही व्यक्तिको किसान और कारीगर दोनों बनना पड़ेगा।

यदि क्रांति इस मंजिलतक भी पहुँच जाय तो अन्नके अकाल से डरनेकी उसे जरूरत न होगी। खतरा हो सकता है तो लोगोंकी साहसहीनता, कुसंस्कार और समझौतेकी प्रवृत्तिसे। साहस-भरे विचार पहले होने चाहिए, फिर साहसपूर्ण कार्य उसके पीछे अपने-आप आजायंगे।

## : ६ :

# मकान

### १

श्रमजीवियोंमें समाजवादी विचार बढ़ते चले जा रहे हैं और उनके विचारोंके विकासको देखनेवाले लोग जानते हैं कि घरोंकी व्यवस्थाके विषयमें तो अपने-आप धीरे-धीरे उनकी एक पक्की राय होती जा रही है। फ्रांसके बड़े-बड़े और कई छोटे शहरोंमें तो उनका एक प्रकारसे यह निश्चित मत ही हो गया है कि मकान वास्तवमें उन लोगोंकी सम्पत्ति नहीं हैं जिन्हें राज्य आजकल उनका मालिक मानता है।

यह विचार लोगोंके दिमागमें अपने-आप विकसित हुआ है। घर भी 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' है, यह बात तो उन्हें अब फिर समझायी ही नहीं जा सकती।

मकान मकान-मालिकोंने कब बनाये थे! न जाने कितने मजदूर लकड़ियाँ चीरते-काटते रहे, ईंटें पकाते रहे, कारखानोंमें काम करते रहे—तब कहीं जाकर ये सजे-सजाये सुन्दर भवन खड़े हुए हैं।

जो रुपया मालिकने खर्च किया है, वह भी उसकी कमाई नहीं था। वह उसी तरह जमा किया गया था जिस तरह और सब प्रकारका धन इकट्ठा किया जाता है। अर्थात् श्रमिकोंको उचितकी दो-तिहाई या आधी ही मजदूरी दी गयी, बाकी पैसा अपनी जेबमें रख लिया गया।

इसके सिवाय जितना मुनाफा मकानसे मालिक उठा सकता है उतना ही उसका मूल्य हुआ करता है। और यह ऐसी बात है जिससे इस मामलेकी जघन्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। उसे यह मुनाफा तो इसी कारण होता है कि उसका मकान एक शहरमें बना हुआ है। शहर हजारों मकानोंका ऐसा समुदाय है जिसमें पक्की सड़कें हैं, पुल हैं,

बाट हैं और सुन्दर-सुन्दर सार्वजनिक भवन हैं, जिनमें प्रकाशका बढ़िया प्रबन्ध है और निवासियोंको हजारों ऐसी सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं जो गांवोंमें नहीं मिलतीं। उस शहरका दूसरे शहरोंसे आने-जाने और खबर-रसानीका अच्छा सम्बन्ध है। वह स्वयं उद्योग-धन्धों, व्यापार, विज्ञान और कलाका केन्द्र है। वह २० या ३० पीढ़ियोंकी मेहनतसे निवासयोग्य, स्वास्थ्यकर और सुन्दर बना है।

पेरिसके किसी खास हिस्सेमें बने हुए एक मकानका मूल्य लाखों रुपया समझा जाता है। पर यह बात नहीं है कि सचमुच लाखों रुपयेकी मेहनत उस मकानको तैयार करनेमे लगी है, बल्कि वह पेरिसमें स्थित है इसीसे उसका इतना मूल्य है। कई शताब्दियोंमें कारीगरों, कलाकारों, विचारकों और विद्वानोंने मिलकर पेरिसको उद्योग-धन्धों, व्यापार, राजनीति, कला और विज्ञानका केन्द्र बना दिया है। पेरिसका एक ऐतिहासिक भूत-काल रहा है। साहित्यकी कृपासे देश और विदेशमे उसकी गलियोंके नाम बोल-चालके शब्द बन गये हैं। वह नगर अठारह शताब्दियोंके परिश्रमका फल है; फ्रेंच जातिकी पचास पीढ़ियों का काम है।

फिर ऐसा कौन है जो न्यायपूर्वक कह सके कि इस शहरमें इतनी जमीन या मकान मेरा ही है? और कौन आदमी है जो इस सम्मिलित उत्तराधिकारकी सम्पत्तिका छोटा-सा भी हिस्सा बेचनेका हक रखता हो?

हम कह चुके हैं कि इस प्रश्नपर श्रमजीवी एकमत होने लगे हैं। पेरिसके घेरेके समयमें ही मकान-मालिकोंकी शर्तोंको बिलकुल उड़ा देनेकी माग की गयी थी। मकानोंमें मुफ्त रहनेका खयाल तो तभी पैदा हो चुका था। सन् १८७१ के कम्यून-शासनके समयमें यही विचार फिर सामने आया। पेरिसके श्रमजीवी चाहते थे कि कौंसिल दृढ़ता-पूर्वक मकान-भाड़ेके नियमको मिटा दे। और भविष्यमें जब नयी क्रांति आयेगी तब भी गरीब लोग तो इसी सवालको हल करनेमें सबसे पहले लग जायंगे।

चाहे क्रांतिका समय हो या शांतिका, मजदूरको तो किसी-न-किसी प्रकार रहनेको घर मिलना ही चाहिए। उसका कोई-न-कोई आश्रय तो होना ही चाहिए। मगर हाल यह है कि उसका घर कितना ही टूटा-फूटा और गन्दा क्यों न हो, मकान-मालिक उसको किसी भी समय निकाल सकता है। यह तो सच है कि क्रांति-कालमें श्रमजीवीके कपड़े और सामान सड़क पर निकाल फेंकनेके लिए कोई मकान-मालिक किसी अधिकारी या पुलिस सार्जेण्टको न बुला सकेगा, पर दूसरे ही दिन नई सरकार क्या करेगी, इसका किसे पता है ? कौन कह सकता है कि वह बल-प्रयोग न करने और किरायेदारको उसकी गन्दी कोठरीसे निकाल बाहर करनेके लिए पुलिसके भेड़ियोंको उसपर न चढ़ा देगी ? हमने देखा है कि पेरिसकी कम्यून-सरकारने केवल पहली अप्रैलतकके ही बकाया किरायेकी रकम मंसूख की थी। उसके बाद यद्यपि शहरमें अव्यवस्था मची थी और उद्योग-धन्धे बन्द पड़े थे, फिर भी मकानोंका किराया चुकाना पड़ता था। फल यह हुआ कि जिन क्रांतिकारियोंने पेरिस की स्वतन्त्रता बचानेके लिए युद्ध किया था, उनके और उनके परिवारके भरण-पोषणके लिए पन्द्रह आने रोजके भत्तेके सिवाय और कोई सहारा न था।

तो मजदूरको यह साफ तौरपर समझा देना चाहिए कि मकानका किराया न चुकाना कोई ऐसा लाभ नहीं है जो केवल व्यवस्थाके कारण ही हुआ हो। उसे यह जानना चाहिए कि किरायेकी प्रथा एक सर्वमान्य सिद्धान्तके कारण मिटायी गयी है। जनताने उच्च स्वरसे घोषित कर दिया है कि रहनेके लिए घर मुफ्त मिलना ही चाहिए। यह मनुष्यका अधिकार है।

तो क्या मध्यमवर्गमें बिखरे हुए थोड़े-से साम्यवादी लोगोंकी ही अस्थायी सरकार बनेगी और जबतक वे इस न्यायानुमोदित उपायको हाथमें न लेंगे तबतक हमें प्रतीक्षामें ही बैठे रहना चाहिए ? ऐसा हुआ तो जनता-को बहुत देरतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और तबतक चक्र उलटा घूम जायगा—प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जायगी।

इसी कारण सच्चे क्रांतिकारी तो अधिकार और गुलामीके बाहरी

चिह्नों—वर्दी और बिल्लों—को त्यागकर, जनसाधारणमें जन-साधारण बनकर, लोगोंके साथ मिलकर काम करेंगे। वे प्रयत्न करेंगे कि मकान जनताकी संपत्ति हो जायं और किरायेकी प्रथा उठ जाय। वे इसके लिए क्षेत्र तैयार करेंगे और इस प्रकारके विचारोंको प्रोत्साहन देंगे। ऐसे सिद्धांत भी उनके सामने आयेंगे कि मकान-मालिकोंको हर्जाना दिया जाय और पहले हर्जाना चुकानेके लिए रुपयेका इंतजाम कर लिया जाय। पर वे इनकी परवाह न करते हुए मकानोंकी ज़ब्ती करने लग जायंगे।

जिस दिन मकानोंपरसे व्यक्तिगत स्वामित्वका अंत हो जायगा, उस दिन सदासे लुटता रहनेवाला श्रमजीवी अनुभव करेगा कि अब नये युगका उदय हुआ है और अब श्रमिकोंको धनाढ्यों तथा बलवानोंका जुआ न उठाना पड़ेगा। उस दिन वह अनुभव करेगा कि सबकी समानताकी खुले तौरपर घोषणा हो गई है। और यह क्रांति तो सच्ची क्रांति है, पिछली अनेक क्रांतियोंकी तरह ढोंग या दिखावा नहीं है।

## २

यदि एक बार जनताने निस्संपत्तीकरणके विचारको पकड़ लिया तो कितनी ही 'अलंघ्य' बाधाएं क्यों न आयें, वह विचार कार्यमें परिणत होकर रहेगा।

नई वर्दियां पहने हुए और आरामकुर्सियोंपर बैठे हुए भलेमानस तो अड़चन-पर-अड़चन खड़ी करते ही रहेंगे। वे कहेंगे कि मालिकोंको हर्जाना दिया जाय, आंकड़े तैयार किये जायं और बड़ी-बड़ी रिपोर्टें तैयार कराई जायं। हां, वे इतनी लंबी-लंबी रिपोर्टें निकाल सकेंगे कि बेचारी जनता निराश हो जाय। लोग मजबूरन् बेकार बैठे रहेंगे, भूखों मरते रहेंगे और समझ जायंगे कि इन सरकारी जांचोंसे कुछ नतीजा न निकलेगा। उनको न तो क्रांतिमें उत्साह रहेगा और न विश्वास। वे क्रांतिके शत्रुओंके लिए मैदान खाली कर देंगे। नई नौकरशाही जनताकी दृष्टिमें निस्संपत्तीकरणको ही घृणित बनाकर रहेगी।

वह जरूर एक ऐसी चट्टान है जो हमारी आशाओंके जहाजको

चकनाचूर कर सकती है। परन्तु लोगोंको चक्करमें डालनेके लिए पेश की हुई दलीलें सुननेकी जरूरत नहीं है। लोगोंको समझ लेना चाहिए कि नये जीवनके लिए नयी परिस्थितिकी आवश्यकता हुआ करती है। यदि इस कार्यको वे स्वयं हाथमें ले लेंगे तो निस्संपत्तीकरण बिना किसी कठिनाईके ही हो सकेगा।

मगर आप पूछेंगे कि "यह कैसे हो सकता है?" हम इस प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न करेंगे। पर एक बात अवश्य कहनी है। हमारा यह इरादा नहीं है कि हम निस्संपत्तीकरणकी तफसीलवार योजना बतायें। किसी व्यक्ति या समुदायकी आजकी सारी तजवीजें वस्तुस्थितिके सामने बहुत कम टिक सकेंगी। पहलेसे ही जितना बताया जा सकता है, मौकेपर मनुष्य उससे बड़ा कार्य करेगा। इसलिए हम तो यह बतायेंगे कि किस प्रकार सरकारके दखल दिये बिना ही निस्संपत्तीकरण किया जा सकेगा। जो लोग यह कहते हैं कि बिना किसी सरकारके जायदादोंकी जब्ती होना असंभव है, उनको उत्तर देनेकी जरूरत हम नहीं समझते। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हम किसी विशेष प्रकारके संगठनके समर्थक नहीं हैं। हमारा काम तो इतना ही सिद्ध करना है कि निस्संपत्तीकरण जनताके यत्नसे ही हो सकेगा, किसी भी अन्य प्रकारसे नहीं हो सकेगा।

संभव है कि जब निस्संपत्तीकरणका काम चल निकले तो हर मुहल्ले और गलीमें स्वयंसेवकोंके दल बन जायं। वे इन बातोंकी जांच करेंगे कि कितने मकान और खंड खाली हैं, कितने खूब भरे हुए हैं, तंग और अंधेरी कोठरियां कितनी हैं और ऐसे मकान कितने हैं जो उनमें रहनेवालोंकी आवश्यकतासे बहुत बड़े हैं और उनमें वे लोग आ सकते हैं जो दूसरी जगह कठिनाईसे कसमकसमें गुजर कर रहे हैं। थोड़े ही दिनोंमें ये स्वयंसेवक सारी गलियों और मुहल्लोंके सारे तल्लों, कमरों, हवेलियों और शहरके बाहरके बंगलोंकी सूची, स्वास्थ्यकर और अस्वास्थ्यकर, छोटे और बड़े कमरोंकी सूची, तहखानों और बढ़िया मकानोंकी सूची बना डालेंगे।

ये स्वयंसेवक एक-दूसरेसे मिलते और बातचीत करते रहेंगे ही। इन्हें अपनी गणना पूरी करनेमें देर न लगेगी। कमेटियों और दफ्तरोंमें बैठकर आंकड़े बनाये जा सकते हैं; पर सच्ची और सही गणना तो व्यक्तिसे ही प्रारम्भ हो सकती है। फिर उससे बड़े एकआई नक्शे तैयार होने चाहिएं।

फिर ये नागरिक किसीकी आज्ञाके लिए न ठहरेंगे। वे ऊपरी मंजिलोंके छोटे-छोटे कमरों या बन्द कोठरियोंमें रहने वाले दुर्दशाग्रस्त भाइयोंको जाकर ढूंढ़ेंगे। उनसे सरल भावसे कहेंगे "भाइयो, इस बार की क्रांति सच्ची क्रांति है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। आज शामको तुम अमुक स्थानपर आना। सारे पड़ोसी वहीं मिलेंगे। घरोंका नया बंटवारा होनेवाला है। यदि तुम अपनी बन्द अन्धेरी कोठरी से तंग आ गये हो तो आकर किसी पांच कमरोंवाले खंडको पसंद कर लेना। तुम वहां निर्भय होकर रह सकते हो। लोगोंने हथियार उठा लिये हैं और जो कोई तुम्हें निकालनेका साहस करेगा उसे इस कामजा चखाना पड़ेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि हर आदमी फिर तो बढ़िया मकान या लंबा-चौड़ा खंड मांगेगा। मेरा जवाब है कि जनाब, आपने बिल्कुल गलत समझा है। लोग असंभव बात नहीं चाहा करते। बल्कि जब-जब जनताने किसी अन्यायका प्रतिकार किया है तब-तब जनसाधारणकी सद्भावना और न्याय-बुद्धिको देखकर हमें चकित होना पड़ता है। क्या हमने कभी उन्हें असंभव मांगें करते हुए देखा है? पेरिसके दोनों घेरोंमें या १७९२-९४ के भयानक वर्षोंमें लोग भोजन या ईंधन लेनेके लिए आकर खड़े रहते थे। वे खूब जानते थे कि जो कोई पीछे आयेगा, उसे उस दिन न तो भोजन मिलेगा और न आग। फिर भी उस समय वे आपसमें लड़ते न थे। जो व्यापक धैर्य और त्याग उनमें १८७१ में पाया गया, उसका वर्णन विदेशी संवाददाताओंने बड़ी प्रशंसाके साथ किया है।

इस बातको हम अस्वीकार नहीं करते कि किसी-किसी व्यक्तिमें बहुत अधिक स्वार्थ-भावना रहती है। हमें यह बात अच्छी तरह मालूम

है। पर हमारा कहना यह है कि गृह-व्यवस्था करना आदि जनताके प्रश्नोंको किसी बोर्ड या कमेटीके हवाले कर देनेसे या किसी भी प्रकार नौकरशाही-व्यवस्थाकी दयापर छोड़ देनेसे ही यह स्वार्थ-भावना जाग्रत और पुष्ट होती है। उस अवस्थामें सारी दुर्भावनाएं जाग उठती हैं। फिर बाजी उसीके हाथ रहती है जो कमेटीमें सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। जरा-जरा सी असमानता देखनेपर झगड़े और परस्पर-दोषारोपण होने लगते हैं। किसी व्यक्तिके साथ थोड़ी रियायत की गई कि भारी शोरगुल मच जाता है। और वह प्रकारण भी नहीं होता।

परंतु यदि जनसाधारण स्वयं ही गलियों, मुहल्लों और हलकोंमें अपना संगठन बनाकर गंदे या पिछवाड़ेके घरोंमें रहनेवाले लोगोंको मध्यमवर्गके खाली मकानोंमें पहुँचाने लगें तो छोटी-छोटी तकलीफें या असमानताएं सरलतासे दूर हो जायंगी।

जब-जब यह देखा गया कि क्रांतिकी नाव डूबनेवाली है और श्रमजीवियोंसे अपील उसे बचानेकी की गई तब-तब वे पीछे नहीं रहे। आनेवाली क्रांतिमें भी ऐसा ही होगा।

पर सब कुछ करनेपर भी कुछ असमानताएं, कुछ अनिवार्य अन्याय रह ही जायंगे। ऐसे व्यक्ति समाजमें होते ही हैं जिन्हें कोई भी उथल-पुथल, कोई भी संकट स्वार्थके दलदलसे नहीं निकाल सकता। पर प्रश्न यह नहीं है कि अन्याय बिलकुल रहेगा या नहीं, प्रश्न तो यह है कि वह किस प्रकार कम किया जाय?

सारे इतिहास, मानव-जातिके सारे अनुभव और सारे सामाजिक मनोविज्ञानसे सिद्ध है कि किसी कामको करनेका सबसे अच्छा और सुन्दर उपाय यही है कि जिन लोगोंसे उस कामका संबंध है उन्हींके ऊपर उसका निर्णय छोड़ दिया जाय। सैकड़ों छोटी-छोटी तफसीलोंपर सरकारी बंटवारेमें विचार नहीं हो पाता। उनपर विचार और उनका प्रबंध करनेका अधिकार उन्हीं लोगोंको है जिनसे उनका संबंध है।

## ३

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि घरोंका शुरूसे ही बिलकुल बराबर-बराबर बँटवारा किया जाय। पहले-पहल तो कुछ तकलीफें होंगी ही, पर निस्संपत्तीकरणको अपनानेवाले समाजमें सब बातें शीघ्र ही ठीक हो जायंगी।

जब राज, बढ़ई और गृह-निर्माणका काम जाननेवाले दूसरे लोग यह समझ लेंगे कि अब हमे भोजनकी चिंता नहीं करनी है तो वे अपने कामको ही रोज कुछ घटे क्यो न करना चाहेंगे? जिन बढ़िया मकानोंको साफ-सुथरा रखनेके लिए अनेक नौकरोंकी आवश्यकता रहा करती थी उनको वे कई परिवारोंके रहने-योग्य बना डालेंगे और कुछ ही महीनोंमे आज-कलके मकानोंसे अधिक आरामदेह और कहीं अधिक स्वास्थ्यकर घर तैयार हो जायगे। फिर भी जिन लोगोंको अच्छा घर न मिल पायेगा उनसे अराजक साम्यवादी यह कहेगा कि "भाइयो, धीरज धरो। अब हमारे स्वाधीन नगरमें ऐसे-ऐसे महल खड़े होंगे जो पूंजीपतियोंके महलोंसे भी सुन्दर और बढ़िया होंगे। वे उन्हींके होंगे जिनको उनकी अधिक आवश्यकता होगी। अराजक पंचायत आमदनीकी दृष्टिसे मकान नहीं बनवायेगी। नागरिकोंके वास्ते बनाये गये वे भवन सामुदायिक भावनाके फल होंगे और सारी मनुष्य-जातिके लिए नमूनेका काम देंगे। और उनपर अधिकार होगा आपका।"

यदि क्रांति करनेवाले लोग घरोंकी जब्ती करेंगे और यह घोषणा करेंगे कि सारे मकान समाजके हैं और प्रत्येक परिवारको अच्छे घरमें मुफ्त रहनेका अधिकार है, तो कहा जायगा कि प्रारंभसे ही क्रांतिने समाजवादी रूप ग्रहण किया है और वह ऐसे मार्गपर आगई है जिससे उसे हटाना सरल नहीं है। यह व्यक्तिगत संपत्तिपर एक घातक प्रहार होगा।

घरोंके निस्संपत्तीकरणमें ही सारी समाजवादी क्रांतिका बीज है। उस क्रांतिको संपादित करनेके तरीकेपर ही आगे होनेवाली घटनाओंका रूप अवलंबित है। या तो हम सीधे अराजक समाजवादतक पहुँचने

वाली सुन्दर सड़कपर चलने लगेंगे, या फिर निरंकुश व्यक्तिवादके दल-दलमें ही धसे रहेंगे।

सिद्धांत और व्यवहारकी कई आपत्तियोका हमें सामना करना पड़ेगा। विरोधी तो हर प्रकार असमानता बनाये रखना चाहेंगे। वे "न्यायकी दुहाई" देकर भी विरोध करेंगे। कहेंगे कि "क्या यह घोर लज्जाकी बात नही है कि शहरके लोग तो इन बढ़िया मकानोपर कब्जा करलें और देहातमें किसानोंको रहनेके लिए केवल टूटी फूटी झोपड़िया हो ?" पर इन न्यायके ठेकेदारोकी स्मरण शक्ति तब कहा चली जाती है जब वे यह भूल जाते हैं कि जिस चीजका वे अप्रकट रूपसे रक्षा करना चाहते हैं वह कैसी 'घोर लज्जा' की वस्तु है। वे भूल जते है कि उसी नगरमें मजदूर, उसकी स्त्री और बालक सब एक गदी कोठरीमें घुट रहे हैं और उनके सामने ही अमीरोके महल खड़े हैं। वे यह भूल जाते है कि छोटी-छोटी गदी कोठरियोंमें पीढ़ियोंसे लोग सड़ रहे हैं, हवा और रोशनीके लिए तरसते हुए मर रहे हैं। इस अन्यायको मिटाना ही क्रातिका प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।

इस चक्रमेंमें हमें न आना चाहिए। क्रातिके प्रारम्भिक दिनोमें शहर और देहातके बीच जो असमानता रहेगी वह अस्थायी होगी और दिन-ब दिन स्वय घटती जायगी। ज्यो ही किसान खेतका मालिक, व्यापारी, साहूकार और राज्यका जुआ उठानेवाला बैल न रहेगा त्योंही गावोंमें भी घरोका सुधार होने लगेगा। एक आनुषगिक और अस्थायी असमानतासे बचे रहनेके लिए क्या हम पुराने जमानेसे चले आनेवाले एक अन्यायको न मिटायेंगे ?

जो आक्षेप व्यावहारिक कहलाते हैं वे भी ठोस नहीं हैं। वे उदाहरण देते हैं कि एक ऐसा आदमी है जो बेचारा अपने साधारण सुखोंको त्यागकर बड़ी मुश्किलसे अपने परिवारके ही योग्य एक घर खरीद पाया है और हम उसके मेहनतसे कमाये हुए उस सुख-साधनको छीन लेंगे, उसको निकाल बाहर करेंगे! नहीं, ऐसा हर्गिज न होगा। यदि उसका घर इतना ही बड़ा है कि उसमें उसका ही परिवार रह सकता है तो

वह खुशीसे वहीं रहे। वह अपने छोटेसे बगीचेमें भी काम करता रहे। हमारे स्वयंसेवक उसे न रोकेंगे, बल्कि आवश्यकता होगी तो सहायता भी देंगे। पर मान लीजिए कि वह कियायेपर कमरे देता है या उस मकानमें कुछ कमरे खाली हैं। तब लोग उस किरायेदारसे कहेंगे कि तुम अपने मकान-मालिकको किराया मत दो। जहां तुम रहते हो वहीं रहो, परन्तु बिना किराया दिये। अब तकाजेवाले और टैक्स वसूल करनेवाले नहीं रहे। समाजवादने सब झगड़ा पाक कर दिया।

अथवा कल्पना कीजिए कि एक सेठ साहबके पास तो बीस कमरे हैं और पड़ोसमें एक गरीब स्त्री अपने पांच बच्चोंको लेकर एकही कोठरीमे रहती है। ऐसी अवस्थामें लोग यह प्रयत्न करेंगे कि खाली कमरे, कुछ अदल-बदल करके, उस गरीब स्त्री और उसके पांच बच्चोंके रहनेयोग्य बन जायं। वह मां और उसके पांच बच्चे एक कोठरीमें सड़ा करें और करोड़ीमल एक खाली महलमें गुलछर्रे उड़ाते रहें, इससे तो वह अधिक ही न्यायसंगत बात होगी। सम्भव है कि कोई भले सेठजी खुद ही उस स्त्री और उसके बच्चोंको अपने खाली घरमें जगह दे दें। जब नौकर-चाकर न रहेंगे तो सेठानीजी भी इतने बड़े मकानको साफ-सुथरा रखने के झंझटसे छुटकारा पाकर खुश ही होंगी।

कानून और व्यवस्थाके हिमायती कहते हैं कि "तुम तो सब कुछ उलट-पुलट देना चाहते हो। फिर तो मकानोंसे निकालने और हटाये जानेका चक्र सदा ही चलता रहेगा। इससे क्या यह अच्छा होगा कि नये सिरेसे प्रबन्ध शुरू किया जाय? पहले तो सभी लोगोंको घरों से निकाल दें और फिर चिट्ठी (लाटरी) डालकर उनका बंटवारा करें।" यह तो हुआ आलोचकोंका कहना। पर हमें तो दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई सरकार हस्तक्षेप करे और सारे परिवर्तन उन्हीं स्वयंसेवक-संघों द्वारा हों जो इस कामके लिए बने हैं, तो भी घरोंसे लोगोंको निकालने और हटानेकी घटनाएं उतनी न होंगी जितनी वर्तमान प्रणालीमें मकान-मालिकोंके लोभके कारण हर साल हुआ करती हैं।

पहिले तो सभी बड़े शहरोंमें गंदी अंधेरी गलियोंके रहनेवालोंके रहने-

योग्य घर और खंड-मंजिले काफी खाली हैं। महलों और बढ़िया मकानोंमें तो श्रमजीवी यदि रह भी सकें तो न रहेंगे। ऐसे मकानोंकी संभालके लिए अनेक नौकर-चाकर चाहियें। उनमें रहनेवाले शीघ्र ही लाचार होकर अपने लिए छोटे मकान बनाया करेंगे। बड़े घरोंकी स्त्रियां समझ जायंगी कि जब खाना ही अपने हाथसे पकाना पड़ता है तो महलोंकी संभाल कौन करेगा? धीरे-धीरे लोग दूसरी जगह चले जायेंगे। अमीरों-को छोटे मकानोंमें और गरीब कुटुम्बोंको बड़े घरोंमें पहुंचानेके लिए जब-र्दस्ती करनेकी नौबत न आयेगी। संघर्ष और गड़बड़ बहुत ही कम होगा। जैसा भी घर मिल जायगा लोग प्रसन्नतासे उसमें चले जायंगे। पंचा-यती या साम्यवादी गांवके उदाहरण हमारे सामने हैं। वहां जब खेतोंका नया बंटवारा होता है तो उनकी अदला-बदली कम होती है। किसानोंकी समझदारी और सद्भावना प्रशंसनीय होती है। जहां व्यक्तिगत संपत्तिका राज्य है और झगड़े सदा कचहरियोंमें पहुँचते रहते हैं वहांकी अपेक्षा रूसके पंचायती गांवोंके प्रबन्धमें खेतोंकी अदला-बदली कम ही होती है। तो क्या हमें समझना चाहिए कि यूरोपके नगरोंके लोगोंमें रूस और भारतके किसानोंसे भी कम बुद्धि और संगठन-शक्ति है?

फिर हमें यह बात भी न भूल जानी चाहिए कि क्रांतिसे दैनिक जीवन क्रममें कुछ-न-कुछ गड़बड़ होती ही है। जो लोग यह आशा करते हैं कि पुरानी व्यवस्था नष्ट होकर बिना थोड़ी-सी भी गड़बड़के क्रांति हो जायगी वे गलती करते हैं। रईस लोगोंके ऐशो-आराममें कुछ भी खलल पड़े बिना ही सरकारोंका बदल जाना तो संभव है, परन्तु समाजका अपना पोषण करने और बोझ उठानेवालोंपर जो अत्याचार है वह राजनीतिक दलोंकी बाजीगरी से दूर नहीं हो सकता।

कुछ गड़बड़ तो होगी ही, पर उससे हानि-ही-हानि न होनी चाहिए। हानि तो कम-से-कम होनी चाहिये। और इसका तरीका यह है कि हम बोर्डों या कमेटियोंसे काम न लेकर खुद उन लोगोंसे सीधे बात करें जिनका हानि-लाभसे संबंध है। इस सिद्धांतपर जितना जोर दिया जाय कम होगा।

चुनावका एक चंचल-मति उम्मेदवार कहता है—"मैं सब कुछ

जानता हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूं और मैं सब बातोंको ठीक करनेका ठेका लेता हूँ; बस मुझे अपने प्रतिनिधित्वका गौरव प्रदान कीजिए।" जो लोग उसको चुनते हैं वे गलती-पर-गलती करते हैं, पर जिस काम को लोग जानते हैं, जिस कामका उनसे सीधा संबंध है उसको जब वे स्वयं करने लगते हैं तो वह उन कमेटियों और कौंसिलोंके सारे कार्यसे बहुत अच्छा होता है। पेरिसके कम्यून-शासन और बन्दरगाहके मजदूरों की बड़ी हड़तालके समय यही तो हुआ था। पंचायती गांवोंमें भी इसके प्रमाण नित्य मिलते हैं।

## : ७ :

# कपड़े

## १

जब मकानोंपर नागरिकोंका सम्मिलित अधिकार हो जायगा और जब सब आदमियोंको भोजन मिलने लगेगा, तो एक कदम और आगे बढ़ना होगा। इसके बाद सवाल होगा कपड़े का। इसका उपाय भी यही हो सकता है कि जिन-जिन दुकानों और गोदामोंमें कपड़ा बिकता या इकट्ठा रहता है उनपर जनता कब्जा कर ले। वहां सबको आज़ादी रहे कि जिसे जितना चाहे उतना ले सके। वस्त्रोंका समाजीकरण अर्थात् पंचायती भंडारसे अपनी आवश्यकताके अनुसार कपड़े ले लेने या दर्जियोंसे कटवा-सिलवा लेनेका अधिकार तो मकान और भोजनके समाजीकरणका स्वाभाविक परिणाम है।

हमारे समालोचक मजाक और चालाकीसे कहा करते हैं कि तब नगरवासियोंके कोट छीन लेने पड़ेंगे, सारे वस्त्रोंका ढेर करना पड़ेगा और उसमेंसे चिट्ठी डालकर कपड़े बांटने पड़ेंगे। मगर दर-असल इसकी जरूरत न होगी। जिसके पास एक कोट है वह उसे उस समय भी रख सकेगा—बल्कि यदि उसके पास दस कोट भी होंगे तो भी लोग उससे छीनना न चाहेंगे, क्योंकि किसी बड़ी तोंदवाले सफेदपोशके 'उतारन' की अपेक्षा तो अधिकांश लोग नये कोटको ही अधिक पसंद करेंगे। क्या कपड़ा ही इतना अधिक होगा कि पुराने कपड़ोंके बिना भी काम चल जाय। शायद बच भी रहे।

यदि हम बड़े शहरोंकी दूकानों और भंडारोंके सारे कपड़ोंकी सूची बनायें तो शायद हमें ज्ञात होगा कि पेरिस, लियों, बोर्दो और मार्सेल्जमें इतना काफी कपड़ा है कि समाज सभी स्त्रियों और पुरुषोंको पोशाकें दे

सकता है । और यदि तैयार कपड़े सबको तत्काल मिल सकें तो पंचायती दर्जी शीघ्र बना देंगे। आजकल बढ़िया मशीनों की मददसे सिलाई के कारखाने कपड़े सीकर कितनी जल्दी तैयार कर देते हैं, यह हम जानते ही हैं।

हमारे विरोधी कहते हैं—"मगर सब पुरुष बढ़िया ऊनी कोट और सब स्त्रियां मखमली साया जो मांगेंगी ?"

हम ऐसा नहीं मानते। हर एक स्त्री मखमलके लिए मरी नहीं जाती, न हर एक पुरुष बढ़िया सर्ज या जामेवारका ही स्वप्न देखा करता है। आज भी यदि हम प्रत्येक स्त्रीसे अपने कपड़े पसंद करनेको कहें तो कुछ स्त्रियां तड़क-भड़कवाले कपड़ोकी अपेक्षा सादे कामकाजी कपड़े लेना ही अधिक पसंद करेंगी।

फिर समयके साथ रुचि भी बदलती रहती है। अतः क्रांतिके समय प्रचलित पहनावा सादगीकी तरफ़ जरूर झुकेगा। व्यक्तियोंकी भांति समाजोंका भी बुजदिलीका जमाना होता है। पर वीरताका भी काल आता है। यद्यपि आजकलका समाज संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थों और तुच्छ विचारोंमें डूबा हुआ है, पर जब महान् आपद्काल आते हैं तब उसका रूप भिन्न हो जाता है। उसकी महानता और उत्साहके दिन भी हुआ करते हैं। जो शक्ति आजकल स्वार्थवादियोंके हाथमें है वह उदार प्रकृतिके मनुष्योंके हाथमें आजायगी। लोगोंमें आत्म-त्यागकी भावना उत्पन्न हो जायगी। महान् कार्यसे महान् कार्य ही उत्पन्न होते हैं। उस समय अहम्मन्य स्वार्थी व्यक्ति भी पीछे रहने से लज्जित होंगे और यदि वे उनका अनुकरण न करेंगे तो कम-से-कम उदार और वीर व्यक्तियों की सराहना तो अवश्य करने लगेंगे।

फ्रांस की सन् १७९३ की महान् क्रांतिमें इस प्रकारके उदाहरण भरे पड़े हैं। उच्च भावनाओंके युग व्यक्तियोंकी भांति समाजोंमें भी अपने आप उपस्थित होते हैं। उत्साहके जिस ज्वरसे मानव-जाति आगे बढ़ती है वह ऐसे ही युगोंमें आया करता है।

इन उच्च भावनाओं के प्रभावको अधिक बढ़ाकर वर्णन करनेकी हमारी

इच्छा नहीं है और न इसके आधारपर हम अराजक आदर्श स्थापित करेंगे। पर यदि हम आशा करें कि इन भावनाओंकी सहायतासे प्रारंभिक कठिनाईके दिन निकल जायेंगे तो यह कोई असंगत बात न होगी। हम यह आशा तो नहीं कर सकते कि हमारा दैनिक जीवन निरंतर ऐसे पवित्र उत्साहसे प्रेरित रहेगा, पर प्रारंभमें हम उसकी सहायताकी आशा अवश्य कर सकते हैं। और इतना ही काफी है।

जमीन साफ करने और शताब्दियोंकी दासता और अत्याचारसे इकट्ठे हुए ठीकरों और कूड़े-करकटका झाड़-बुहार कर फेंक देनेके लिए ही नये अराजक समाजको इस भ्रातृप्रेमकी लहरकी आवश्यकता होगी। बादमें आत्म-त्यागकी भावनाके बिना भी समाजको अस्तित्व रह सकेगा, क्योंकि तब अत्याचार मिट जायगा और एकताकी नवीन व्यापक चेतना उत्पन्न हो जायगी।

यदि क्रांतिका रूप वैसा ही हुआ जैसा हमने बताया है तब तो स्वार्थियोंके प्रयत्न विफल हो जायंगे और व्यक्ति अपनी बुद्धि और प्रयत्नसे इस दिशामें खूब काम कर सकेंगे। कपड़ेके प्रबंधका भार लेनेके लिए हर गली और मुहल्लेमें स्वयंसेवक दल बन जायंगे। वे ऐसी फेहरिस्तें बना लेंगे जिनमें नगरके सारे मालका इंदराज होगा और वे यह भी मोटे तौरपर जान लेंगे कि उनके पास कितना माल है। बहुत संभव है कि कपड़ेके बंटवारेके विषयमें भी नगरवासी उसी सिद्धांतको ग्रहण करें जो भोजनके विषयमें अपनाया जाय। जो चीज सार्वजनिक भंडारमें बहुतायतसे होगी उसे वे चाहे जितनी लेलेने देंगे और जो चीज थोड़ी होगी उसको थोड़ा-थोड़ा देंगे।

प्रत्येक पुरुषका बढ़िया कोट और प्रत्येक स्त्रीको साटन या मखमलके कपड़े तो न दिये जा सकेंगे, संभवतः समाज फालतू और जरूरी चीजोंमें भेद करेगा। शायद कुछ समयतक तो पशमीना और मखमल फालतू चीजोंमें ही गिने जायं। जो चीजें आज विलासक वस्तुएं कहलाती हैं शायद आगे वे ही सबके उपयोगकी मामूली चीजें बन जायं।

अराजक नगरके सब निवासियोंके लिए कपड़ोंका प्रबंध तो किया ही

जायगा, पर जो चीजें उस समय विलास-सामग्री समझी जायंगी वे बीमारों और कमजोरोंके वास्ते रहेंगी। साधारण नागरिकोंके रोजके काममें न आनेवाली चीजें भी कमजोरोंके लिए रहेंगी।

पर कुछ लोग कहेंगे कि "इससे तो सबके कपड़े एक-से हो जायंगे और जीवन और कलाकी सारी सुन्दरता ही नष्ट हो जायगी।

पर हमारा उत्तर है कि ऐसा कदापि न होगा। वर्तमान साधनोंसे भी अराजक समाजमें, कलाकी ऊंची-से-ऊंची रुचियां तृप्त हो सकती हैं और इसके लिए बड़े-बड़े करोड़पतियोंकी संपत्तिकी जरूरत भी नहीं है। यह कैसे होगा, यह हम आगे दिखानेवाले हैं।

## : ८ :

# उपाय

## १

यदि कोई समाज, नगर या प्रदेश अपने निवासियोंके जीवनकी समस्त आवश्यकताओंका प्रबन्ध करना चाहे तो उसको उन चीजोंपर अधिकार करना पड़ेगा जो उत्पादनके लिए अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं, अर्थात् जमीन, यंत्र, कारखाने, माल लाने-लेजानेके साधन, आदि। व्यक्तियोंके हाथसे छीनकर पूंजी समाजको वापस दे दी जायगी।

हम पहले कह चुके हैं कि मध्यवित्त समाजसे केवल यही बड़ी हानि नहीं हुई है कि उद्योग-धन्धों और व्यापारका अधिकांश मुनाफा पूंजीपति खा जाते हैं और बिना श्रम किए ही जीवित रह सकते हैं, किन्तु यह भी एक बड़ी हानि हुई है कि सारी उत्पत्ति गलत रास्ते पर चल रही है। आजकल उत्पादनका ध्येय यह नहीं है कि सब सुखी हों, बल्कि कुछ दूसरा ही है। इसी कारण यह निंदनीय है।

व्यापारिक उत्पादन सबके हितकी दृष्टिसे हो भी कैसे सकता है? पूंजीपति तो अपने लिए पैसा पैदा करनेवाला कारखानेदार है। उससे यह आशा करना कि वह सबके हितके लिए उत्पत्ति करे, उससे ऐसी बातकी इच्छा करना है जो वह कर नहीं सकता और करे तो वह जो कुछ है—धनराशि एकत्र करने का इच्छुक व्यवसायी—वह रह नहीं सकता। हां उसने एक बात की है उसने श्रमजीवियोंकी उत्पादन-शक्ति बढ़ा दी है। व्यक्तिगत लाभके लिए बने हुए पूंजीवादी संगठनसे इतना मिल गया, यही क्या कम है? पूंजीपतिने वाष्प-शक्ति, रसायनशास्त्र, यंत्र-कला और इस शताब्दीके अन्य आविष्कारोंकी उन्नतिसे लाभ उठाया, अपने फायदेके लिए मजदूरोंकी उत्पादन-शक्ति बढ़ायी और अभीतक इसमें

बहुत-कुछ सफल भी हुआ है। पर उससे दूसरी बातोंकी आशा करना अनुचित होगा। उदाहरणार्थ, उससे यह आशा करना कि वह अपने मजदूरोंकी इस बढ़ी हुई उत्पादन-शक्तिका सारे समाजके हितार्थ उपयोग करेगा, उससे मानव-जातिके प्रेम और त्यागकी मांग करना है। पूंजीवादी व्यवसाय भी कहीं त्यागके आधारपर खड़ा रह सकता है!

यह बढ़ी हुई उत्पादन-शक्ति कुछ खास-खास उद्योग-धन्धोंमें ही सीमित है। इसको विस्तृत करने और सार्वजनिक हितमें लगानेका काम समाजके लिए रह जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि मजदूरोंकी इस महान् उत्पादन-शक्तिको सबके सुख-सम्पादनमें लगानेके लिए समाजको उत्पत्तिके सारे साधनोंपर ही कब्जा करना पड़ेगा।

अर्थशास्त्रज्ञ अपने अभ्यासके अनुसार कहेंगे कि देखिए, वर्तमान प्रणालीने खास-खास उद्योग-धन्धोंके विशेषज्ञ ये कितने जवान और तगड़े श्रमिक पैदा किये हैं और इस प्रणालीकी बदौलत ही ये लोग सुखसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। जब कभी जिक्र आता है तो इन्हीं थोड़ेसे आदमियोंकी ओर गर्वसे संकेत किया जाता है। पर यह सुखी जीवन भी, जो बहुत थोड़े ही लोगोंके बाटे पड़ता है, कितने दिन टिक पाता है! संभव है, कल ही लापरवाही, अविचार या कारखानेदारके लोभके कारण इन विशेषाधिकार रखनेवाले लोगोंका काम छूट जाय और जो थोड़ेसे दिन इन्होंने आरामके साथ बिताये उसके बदलेमें इन्हें कितनेही महीने और वर्ष दुःख और दरिद्रतामें गुजारने पड़ें। अल्पजीवी व्यवसायोंकी बात जाने दीजिए, कपड़े, लोहे, शक्कर आदिके प्रधान उद्योग-धन्धोंको ही लीजिए। कभी सट्टे के कारण और कभी पूंजीवालोंकी ही आपसकी प्रतिस्पर्धाके कारण ऐसे कितने ही कारखाने गिरते या बन्द होते गये हैं।

माना कि थोड़े-से विशेष श्रेणीके कारीगरोंका जीवन कुछ अंशोंमें सुखी हो जाता है, पर उसके लिए कीमत कितनी भारी देनी पड़ती है! थोड़ा-सा सुख भोगनेवाले इन इने-गिने कारीगरोंके मुकाबिलेमें कितने लाख ऐसे मनुष्य हैं जो रोजका कमाया रोज खाते हैं, जिन्हें स्थायी काम

नहीं मिलता और जहां उनकी आवश्यकता होती है वहीं जानेको तैयार हो जाते हैं। नाम-मात्रकी आमदनीके लिए कितने किसान दिनमें चौदह-चौदह घण्टे पिसा करते हैं ? पूंजीवाद देहातकी जनसंख्या घटाता है, जिन उपनिवेशो और देशोंमें उद्योग-धन्धे उन्नत नहीं हैं उनका शोषण करता है, अधिकांश श्रमजीवियोंको शिल्प-शिक्षासे वंचित रखता है और उन्हें अपने खास कामकी जानकारी भी बढ़ाने नहीं देता।

यह अवस्था संयोगमात्र नहीं है, यह तो पूंजीवादी प्रणालीका अनिवार्य फल है। विशेष श्रेणीके कारीगरोंको अच्छा वेतन देनेके लिए लाजिमी है कि किसान समाजका भार-वाहक पशु बने। शहरोंकी आबादी बढ़ानेके लिए जरूरी यह है कि देहातका रहना त्याग दिया जाय। बड़े-बड़े कारखानों का माल छोटी-छोटी आमदनीवाले खरीदारोंको आसानीसे मिल सके, इसके लिए आवश्यक है कि बडे शहरोंके बाहरी गन्दे भागोंमें छोटे-छोटे व्यवसायवाले लोग इकट्ठे हों और नाम मात्रकी मजदूरी लेकर हजारों छोटी-मोटी चीजें बनाते रहें। घटिया कपड़ा कम तनख्वाहवाले श्रमिकोंके हाथ बेचा जा सके, इसलिए तो बहुत थोड़ी मजदूरीसे संतुष्ट हो जानेवाले दर्जी उनके कपड़े सिया करते हैं। पिछड़े हुए पूर्वीय देश पश्चिमवालोंके हाथों इसीलिए लुटते हैं कि कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त कारखानोंके हाथोंसे कारीगरोंका जीवन थोड़ा अधिक सुखी हो सके।

अतः वर्तमान प्रणालीकी बुराई केवल यही नहीं है कि मालका 'अतिरिक्त मूल्य'* पूंजीवालेकी जेबमें जाता है, जैसा कि राबर्ट्स और मार्क्स ने कहा है। इससे तो पूंजीवाद-प्रणालीपर साम्यवादी कल्पना और साधारण दृष्टि संकुचित हो जाती है। खुद 'अतिरिक्त मूल्य' ही अनेक गहरे कारणोंका नतीजा है। हरएक पीढ़ीके कुछ फाजिल माल अगली पीढ़ीके लिए छोड़ जानेके बदले पूंजीपतिके लिए 'अतिरिक्त मूल्यके' रूपमें नफा

*'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) वस्तुका वह मूल्य है जो कच्चे मालकी कीमत और मजदूरको दी गयी मजदूरी निकाल देनेके बाद बच रहता है और जो मजदूरके ।।) पाकर १)का काम कर देनेसे ही उत्पन्न होता है। यह अतिरिक्त मूल्य ही मालिकके मुनाफेका स्रोत है।

खानेकी गुंजाइश रहना ही बुराई है; क्योंकि इस अतिरिक्त मूल्यकी उत्पत्तिके लिए स्त्री-पुरुषों और बच्चोंको भूखसे मजबूर होकर अपना श्रम, वह जितने मूल्यका माल उत्पन्न करता है या कर सकता है उससे बहुत कमपर, बेच देना पड़ता है। पर यह बुराई तबतक बनी रहेगी जबतक उत्पत्तिके साधन मुट्ठीभर आदमियोंके हाथ में रहेंगे। आज किसान या मजदूरको जमीन जोतने या मशीन चलानेका हक तब मिलता है जब वह जमींदार या कारखानेदारको उत्पत्तिका बड़ा हिस्सा भेंट करदे। उधर जमींदार और कारखानेदारको उपयोगी वस्तुओंके बदले ऐसा माल पैदा करनेकी पूरी स्वतन्त्रता है जिससे उनको अधिक-से-अधिक लाभ हो। जबतक यह अवस्था रहेगी तबतक तो सुखी-जीवन इने-गिने व्यक्तियोंके भाग्यमें ही होगा। वह भी चन्दरोजा होगा और समाजके बड़े भागकी दरिद्रतासे ही सम्भव होगा। किसी रोजगारके नफेको बराबर हिस्सोंमें बांट देना ही काफी नहीं है, जब दूसरी ओर हजारों मजदूरोंका खून चूसा जा रहा हो। ठीक तो यही है कि सबका जीवन सुखी बनानेके लिए जिस मालकी आवश्यकता है वही अधिक-से-अधिक उत्पन्न किया जाय और जन-शक्तिका अपव्यय भी कम-से-कम हो।

संपत्तिके व्यक्ति-स्वामीका उद्देश्य इतना व्यापक कैसे हो सकता है? इसी कारण यदि समाजको उत्पत्तिका यही आदर्श रखना है तो उन सारे साधनोंपर उसे कब्जा करना पड़ेगा जिनसे संपत्ति और सुख दोनोंकी वृद्धि होती है। समाजको जमीन, कारखानों, खानों, रेल, जहाज, तार, डाक आदिपर अधिकार करना पड़ेगा। उसे इस बातको भी सोचना-समझना होगा कि किन वस्तुओंसे सर्वसाधारणका सुख बढ़ सकेगा और किन उपायों से काफी माल तैयार हो सकेगा।

## २

एक आदमीको अपने परिवारके वास्ते अच्छा भोजन, आरामदेह मकान और जरूरी कपड़े प्राप्त करनेके लिए कितने घंटे रोज काम करना पड़ेगा? इस प्रश्नपर साम्यवादी लोगोंने काफी माथापच्ची की है और

साधारणतः इस नतीजेपर पहुँचे हैं कि केवल चार-पांच घंटे रोजका काम काफी होगा। पर इसमें शर्त यह है कि सब आदमी काम करें। १८ वीं शताब्दीके अन्तमें अमेरिकन नीतिज्ञ बेंजमिन फ्रैंकलिनने पांच घंटेका समय नियत किया था। और इस समय अगर सुखसुविधाकी जरूरत बढ़ गयी है तो उत्पादनकी शक्ति और गति भी और अधिक हो गयी है।

आगे कृषिके वर्णनमें हम बतायेंगे कि आदमी आजकल जिस प्रकार प्रायः आड़े-टेढ़े ढंगसे जुती हुई भूमिमें बीज फेंक देता है वैसा न करके यदि वह उचित ढंगसे खेती करे तो जमीनसे बहुत ज्यादा पैदा किया जा सकता है। पश्चिमी अमेरिकाके फार्मोंमें कोई-कोई तो ३०-३० वर्ग मीलके हैं, पर उनकी जमीन सभ्य देशोंकी खादसे तैयार की हुई जमीनकी अपेक्षा हलकी है। उन बड़े फार्मोंमें एक एकड़ जमीनमें ८ से लगाकर १२ मनतक ही पैदा होता है, अर्थात् उनमें यूरोप और पूर्वीय अमेरिकाके फार्मों से आधी ही पैदावार होती है। फिर भी ऐसी मशीनोंकी कृपासे जिनसे दो आदमी ही दिनभरमें ४ एकड़ भूमि जोत सकते हैं, एक वर्षमें १०० आदमी इतना अन्न उत्पन्न कर सकते हैं कि वह सालभरतक १०,००० आदमियोंका पेट भर सके।

तो उत्पत्तिके इसी हिसाबको प्रमाण मानते हुए सालभरका अन्न प्राप्त करनेके लिए एक आदमीका ३० घंटे, अथवा ५-५ घंटेके ६ अर्धदिन मेहनत करना काफी होगा। ५ व्यक्तियोंके परिवारके लिए अन्न प्राप्त करनेके वास्ते ३० अर्ध दिनकी मेहनत काफी होगी।

आजकल वैज्ञानिक या उद्योग-प्रधान ( Intensive ) ढंगसे खेती करनेके जो फल प्राप्त किए हैं उनसे हम यह भी सिद्ध करेंगे कि यदि हम अधिक उपज देनेवाले ढंगकी खेती करें तो एक पूरे परिवारके रोटी, मांस, शाक और बढ़िया फल प्राप्त करनेके लिए ६ अर्ध दिनोंसे भी कम काम करना काफी होगा।

आजकल बड़े शहरोंमें श्रमिकोंके लिए जिस प्रकारके घर बनते हैं वैसे घर बनानेके लिए १४०० या १८०० ( पांच-पांच घंटेके ) अर्ध-दिनोंका काम काफी होगा। इंगलैंडके बड़े-बड़े शहरोंमें मजदूरोंके लिए

जैसे एक-दूसरेसे सटे हुए छोटे-छोटे घर होते हैं वैसा एक मकान २५० पौंडमें बन आता है। और चूंकि इस प्रकारके घरोंकी आयु कम-से-कम ५० साल होती है, इसलिए नतीजा यह निकलता है कि हरसाल २८ से २६ अर्ध-दिनों की मेहनतसे ऐसा मकान तैयार हो सकता है जो जरूरी सामान, तन्दुरुस्ती और आराम सब बातोंके लिहाजसे एक परिवारके रहनेलायक हो। पर उसी घरके किरायेमें मजदूर अपने मालिकको ७५ या १०० दिनकी कमाई नजर कर देता है।-

और यह तो इंगलैंडकी आजकी स्थिति है, जब समाजका संगठन दोष-पूर्ण है। बेल्जियममें मजदूरोंके घर इससे बहुत कम लागतमें बने हैं। इस-लिए सब बातोंपर विचार करते हुए हम यह मान सकते हैं कि एक सुसंगठित समाजमें एक पूर्ण सुविधायुक्त घर प्राप्त करनेके लिए वर्षमें ३० या ४० अर्ध-दिनोंकी मेहनत काफी होगी।

अब रह जाता है कपड़ा। कपड़ेका ठीक-ठीक मूल्य निर्धारित करना असंभव-सा है, क्योंकि बहु-संख्यक बाचवाले लोगोंके मुनाफेका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। किसी कपडेको लीजिए। यदि हम उस सारे करका हिसाब लगाएं जो भूस्वामी, मेड़ोंके मालिक, ऊनके व्यापारी और उनके भी बीच वाले एजेंट, फिर रेलवे कंपनियां, मिल-मालिक, बुननेवाले, तैयार कपडेके व्यापारी, विक्रेता और दलाल आदिने उसके प्रत्येक गजपर लगा रक्खा है, तो हमें मालूम होगा कि अपने पहननेकी एक-एक चीजपर हमें पूंजीवालोंके गिरोहको कितना पैसा देना पड़ता है। इसीलिए तो यह बताना पूर्णतया असंभव है कि जो ओवरकोट आप लंदनकी एक बड़ी दूकानसे ३ या ४ पौंडमें खरीदते हैं वह वास्तवमें कितने दिनके श्रमका कार्य है।

इतना तो निश्चय है कि आजकलके यंत्रोंसे बहुत अधिक माल सस्तेमें और शीघ्रतासे तैयार किया जा सकता है। इसे दिखानेके लिए एक-दो मिसालें ही काफी होंगी। संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) में सूती कपडेकी ७५१ मिलोंमें १,७५,००० पुरुष और स्त्रियां २,०३,३०,००,००० गज सूती माल तैयार करते हैं और इसके अतिरिक्त बहुत-सा धागा भी

बनाते हैं। औसतन ६॥ घंटेके ३०० दिनोंकी मेहनतसे १२००० गज अथवा १० घंटेकी मेहनतसे ४० गज सूती कपड़ा तैयार होता है। यदि यह मान लें कि एक परिवारके लिए २०० गज कपड़ा एक वर्षमें चाहिए तो यह ५० घंटेका, अथवा ५-५ घंटेके १० अर्ध-दिनोंका काम हुआ। सूत-मिले ऊनी वस्त्र बुननेके लिए सूत और सीनेके लिए धागा इसके अलावा होगा।

संयुक्तराष्ट्रके केवल बुनाईके सरकारी आंकड़े बतलाते हैं कि १८७० में श्रमिक १३-१४ घंटे रोज काम करके वर्षमें १०,००० गज सफेद सूती कपड़ा बना लेते थे। सोलह वर्ष बाद ( १८८६ ) में वे हफ्तेमें ५५ घटे काम करके ही ३०,००० गज बुन लेते थे।

छपाई वाला सूती कपड़ा भी बुनाई और छपाई मिलाकर २६७० घंटेके कामसे वे ३२,००० गज तैयार कर लेते थे, अर्थात् १ घंटेमें १२ गज। इस प्रकार सफेद और छपे हुए २०० गज सूती कपड़ेके लिए सालमें १७ घंटेका परिश्रम काफी होगा। यह भी जान लेना आवश्यक है कि इन कारखानोंमें कच्चा माल प्रायः उसी अवस्थामें पहुँचता है जिस अवस्थामें वह खेतोंसे आता है और माल तैयार होनेतककी सारी प्रक्रियाएं तथा परिवर्तन इन्हीं १७ घंटोंमें हो जाते हैं। पर इस २०० गज कपडेको दुकानदारसे खरीदनेमें एक अच्छा वेतन पानेवाले श्रमिकको कम-से-कम १० घंटेके १५ दिनोंका, अर्थात् १०० या १५० घंटेका श्रम खर्च करना पड़ता है। इंगलैंडके किसानको तो यह शौककी चीज उसे खरीदनेके लिए महीने-सवा-महीने घोर परिश्रम करना पड़ेगा।

इस उदाहरणसे प्रकट है कि व्यवस्थित समाजमें हम वर्षमें ५० अर्ध-दिन काम करके आज-कलके सफेद-पोश लोगोंसे अच्छा कपड़ा पहन सकते हैं।

इस हिसाबसे हमारे ५-५ घंटेके ६० अर्ध-दिन भूमिसे उपजनेवाली चीजें प्राप्त करनेमें, ४० अर्ध-दिन घर तैयार करनेमें और ५० अर्ध-दिन वस्त्रकी प्राप्तिमें लगे, जो कुल मिलाकर आधे ही वर्षका काम हुआ, क्योंकि छुट्टीके दिनोंको घटा देनेपर वर्ष ३०० श्रम-दिवसोंका ही होता है।

इसके बाद भी १५० अर्ध-दिनोंका श्रम बच रहता है, जो

अन्य आवश्यक वस्तुओं—शकर, मसाले, फर्नीचर, सवारी आदिके वास्ते काममें लाया जा सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ये गणनाएं केवल करीब-करीब सही हैं। पर ये दूसरे प्रकारसे भी प्रमाणित की जा सकती हैं। जब हम यह हिसाब लगाते हैं कि सभ्य कहलानेवाले राष्ट्रोंमे कितने आदमी तो कुछ भी मेहनत नहीं करते, कितने लोग ऐसे हानिकर और अनावश्यक व्यवसायोंमें लगे हुए हैं जिनका नाश निश्चित है, और कितने निरे निरुपयोगी बिचुए हैं, तब हमें मालूम होता है कि प्रत्येक राष्ट्रमे सच्चे उत्पादक लोगोंकी संख्या दुगुनी हो सकती है। यदि १० आदमीकी जगह २० आदमी उपयोगी वस्तुएं उत्पन्न करनेमें लग जायं और समाज मानव-शक्तिके खर्चमें किफायत करने लगे तो उन २० आदमियोंको केवल ५ घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ेगा और उत्पत्ति कम न होगी। अमीर घरानोंमें बीसियों नौकर रखे जाते हैं और शासन-प्रबंधमे आठ-दस प्रजाजन पीछे एक राज-कर्मचारी रखा जाता है। इससे जन-शक्तिका अपव्यय होता है। यह शक्ति राष्ट्रकी उत्पत्ति बढ़ानेमें लगाई जा सकती है। वास्तवमें जितना माल आज तैयार हो रहा है उतना तो, यदि सब आदमी रोज तीन या चार घंटे काम करें, तो भी तैयार हो सकता है।

इन सारी बातोंपर विचार करनेके बाद हम नीचे-लिखे नतीजे-पर पहुँचते हैं। कल्पना कीजिए कि एक ऐसा समाज है जिसमें कई लाख जन हैं और वे कृषि और विविध उद्योग-धंधोंमें लगे हुए हैं। मान लीजिए कि इस समाजमें सारे बच्चे अपने हाथों और अपने मस्तिष्कसे काम करना सीखते हैं, और सिवाय उन स्त्रियोंके जो अपने बच्चोंके शिक्षणमें लगी रहती हैं, बाकी सब स्त्री-पुरुष बीस-बाईस वर्षसे लेकर पैंतालीस-पचास वर्षकी उम्रतक, ५ घंटे प्रति-दिन काम करते हैं। वे इस नगरमें आवश्यक समझे जानेवाले धंधोंमेंसे किसी एकको खुद पसंद कर लेते हैं। ऐसा समाज अपने सारे सदस्योंको खुशहाल रखनेका वादा कर सकता है और वह खुशहाली आजकलके मध्यमवर्गकी सुख-समृद्धिसे अधिक ठोस होगी। इसके सिवाय इस समाजके प्रत्येक श्रमिक-

के पास कम-से-कम ५ घंटे बच रहेंगे। अपने इस समयको वह विज्ञान, कला और अपनी निजी आवश्यकताओंपर खर्च कर सकेगा, जो आज-कल आवश्यकताकी कोटिमें नहीं आते, पर जब मनुष्यकी उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी और जब वे दुष्प्राप्य या विलासकी वस्तु न समझे जायंगे तब सम्भवतः आवश्यक वस्तुओंकी श्रेणीमें आ जायंगे।

: ६ :

# विलास-सामग्रीकी आवश्यकता

## १

मनुष्य ऐसा प्राणी नहीं है जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य खाना, पीना और घर बनाकर रहना ही हो। ज्यों ही उसकी भौतिक आवश्यकताएं पूरी हो जायंगी, दूसरी आवश्यकताएं, जो साधारणतः कलात्मक कही जा सकती हैं, उसके आगे आ खड़ी होंगी। ये आवश्यकताएं अनेक प्रकारकी होंगी और व्यक्ति-व्यक्तिके लिए भिन्न-भिन्न होंगी। समाज जितना ही अधिक सभ्य होगा, व्यक्तित्व उतना ही अधिक विकसित होगा और आकांक्षाएं भी उतनी ही अधिक विभिन्न होंगी।

वर्तमान अवस्थामें भी हम देखते हैं कि स्त्रियां और पुरुष छोटी-छोटी चीजोंके लिए, किसी विशेष इच्छाकी पूर्तिके लिए या किसी मानसिक या भौतिक आनंदकी प्राप्तिके लिए, आवश्यक वस्तुओंका भी त्याग कर देते हैं। एक धर्मात्मा या त्यागी व्यक्ति विलास-वस्तुओंकी आकांक्षाको बुरा बता सकता है, पर इन छोटी-मोटी चीजों या बातोंसे ही तो जीवनकी एकरसता भंग होती है और वह सरस बनता है। जिस जीवनमें इतनी बेगार और इतने क्लेश हैं उसमें यदि रोजके कामके अलावा मनुष्यको अपनी व्यक्तिगत रुचियोंके अनुसार कुछ भी आनंद न मिल सके तो क्या वह जीवन धारण योग्य होगा?

हम समाजवादी क्रांति इसलिए चाहते हैं कि उसका उद्देश्य सर्व-प्रथम तो सबको रोटी देना है। उसका उद्देश्य उस घृणित समाजको बदल देना है जिसमें हर समय अच्छे-अच्छे कारीगर किसी लुटेरे कार-खानेदारके यहां काम पानेके लिए मारे-मारे फिरते हैं, जिसमें कुनबे-का-कुनबा सूखी रोटियोंपर गुजर करता है, जिसमें स्त्रियां और बच्चे रातमें

इधर-उधर आश्रयके अभावमें भटकते हैं और जिसमें पुरुषों, स्त्रियों और बालकोंकी कोई खोज-खबर लेनेवाला नहीं, जिसमें उनको भोजन भी नहीं मिलता। इन अन्यायोंका अंत करनेके लिए ही तो हम विद्रोह करते हैं।

परंतु हम क्रांतिसे केवल इतनी ही आशाएं नहीं रखते। हम देखते हैं कि एक मजदूर है जो बड़ी मुश्किलसे किसी तरह अपना गुजारा कर पाता है। उसे मनुष्यकी शक्तिमें जो उच्चतम आनंदकी वस्तुएं हैं—विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कार, कला और कला-सृष्टि—उन्हें भुला ही देना पड़ता है। ये चीजें उस बेचारेको मिल ही कहा सकती हैं? जो आनंद आज थोड़े-से लोगोंके लिए ही है वह हम सबको मिल सके, प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक योग्यता बढ़ा सके, और उसके लिए उसको मौका मिल सके, इसीलिए तो समाजवादी क्रांतिको सबके भोजनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी। पेट भर चुकनेके बाद अवकाशकी प्राप्ति ही मुख्य साध्य है।

आज-कल लाखों आदमियोंको रोटी, कपड़े, ईंधन और आश्रयका अभाव है। ऐसी अवस्थामें भोग-विलास निस्संदेह अपराध है। उसे प्राप्त करनेके लिए मजदूरोंके बच्चोंको भूखों मरना पड़ता है। पर जिस समाजमें सबको भर-पेट खाना और रहनेको घर मिलता हो उसमें तो जिन चीजोंको आज हम विलास-सामग्री समझते हैं, उनकी और भी अधिक जरूरत महसूस होगी। और सब आदमी एकसे नहीं हैं और न हो सकते हैं। विविध प्रकार की रुचियां और आवश्यकताएं होना तो मानव-प्रगतिकी सबसे बड़ी गारंटी हैं। इसलिए ऐसे स्त्री-पुरुष तो सदा रहेंगे और उनका रहना अच्छा भी है जिनकी इच्छाएं किसी विशेष दिशामें साधारण लोगोंसे आगे जाती हों।

दूरबीनकी जरूरत हर आदमीको नहीं हुआ करती। चाहे शिक्षा सर्वसाधारणमें कितनी ही क्यों न फैल जाय, ऐसे लोग तो रहते ही हैं जो आकाशके नक्षत्रोंको दूरबीनसे देखना उतना पसंद नहीं करते जितना सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे सूक्ष्म वस्तुओंका निरीक्षण करना। किसीको मूर्त्तियां अच्छी लगती हैं, किसीको चित्र। एक आदमी अच्छे हारमो-

नियमकी ही चाह रखता है, दूसरेको सितारसे प्रसन्नता होती है। रुचियां भिन्न-भिन्न हैं, पर कलाकी चाह सबमें मौजूद है। आज-कलके अभागे पूंजीवादी समाजमें आदमी कलाकी अपनी आवश्यकताएं तबतक पूरी नहीं कर सकता जबतक वह किसी बड़ी संपत्तिका उत्तराधिकारी न हो जाय, या कड़ी मेहनत करके डाक्टरी, वकालत आदि अच्छा धंधा करने लायक काफी दिमागी पूंजी इकट्ठी न करले। फिर भी वह यह आशा लगाये रहता है कि मैं किसी-न-किसी दिन अपनी रुचियोंको थोड़ा-बहुत तृप्त कर ही लूंगा। इसी कारण जब उसे मालूम होता है कि आदर्शवादी साम्यवादी समितियोंने भौतिक सुखको ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना रखा है तब वह उन्हें कोसता है। वह हमसे कहता है—"शायद अपने साम्यवादी भंडारमें तुम सबके लिए रोटियां रखोगे। परंतु तुम्हारे पास सुंदर चित्र, दृष्टि-सहायक यंत्र, बढ़िया फर्नीचर, कलापूर्ण आभूषण आदि, अर्थात् मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न अनंत रुचियोंको तृप्त करनेवाली विविध वस्तुएं न होंगी। पंचायती समाजसे तो रोटी और तरकारी तथा नगरकी भली स्त्रियोंतकके पहननेको सिर्फ मोटी खादी ही मिल सकेगी। तुम इसके अलावा और सब चीजोंका मिलना बंद कर दोगे।"

सब साम्यवादी व्यवस्थाओंको ऐसी शंकाओंका समाधान करना ही पड़ेगा। अमेरिकन मरुभूमियोंमें स्थापित होनेवाले नये समाजोंके संस्थापक इन शंकाओंको नहीं समझ पाये थे। उनका खयाल था कि समुदायके सब व्यक्तियोंके पहनने-लायक काफी कपड़ा प्राप्त हो जाय और एक ऐसा संगीत-गृह तैयार हो जाय जिसमें सब 'भाई' गा-बजा सकें या नाटक खेल सकें; बस इतना काफी है। और अधिक क्या चाहिए? पर वे इस बातको भूल गये कि कलाकी प्रवृत्ति तो किसानमें भी उतनी ही पाई जाती है जितनी शहरातीमें। समाजने सबके जीवनकी सामान्य आवश्यकताओंका प्रबंध किया, व्यक्तिवाद बढ़ानेवाली शिक्षा-प्रणालीका दमन किया और बाइबिलके सिवाय और सब विषयोंका पढ़ना बंद कराया। पर सब व्यर्थ हुआ। व्यक्तियोंमें भिन्न-

भिन्न रुचियां उत्पन्न हो गयीं और उनसे व्यापक असंतोष पैदा हो गया। जब किसी व्यक्तिने एक-आध पियानो या वैज्ञानिक यंत्र खरीदना चाहा तभी झगड़ा खड़ा होगया और प्रगतिके मूल तत्त्व शिथिल पड़ गये। ऐसे समाजका अस्तित्व तभी रह सकता था जब वह सारी व्यक्तिगत भावना, सारी कला-प्रवृत्ति और सारे विकासको कुचल देता।

क्या अराजक समाज भी उसी दिशाकी ओर बढ़ेगा? इसका स्पष्ट उत्तर है, 'नहीं'। वह समझता है कि आधिभौतिक जीवनके लिए आवश्यक सामग्री उत्पन्न करनेके साथ-साथ उसे मनुष्यकी सारी मानसिक वृत्तियोंको तृप्त करनेका प्रयत्न भी करना पड़ेगा। शरीरकी आवश्यकताएं पूरी करनेके साथ-साथ दिल और दिमागकी भूख भी बुझानी होगी।

## २

"जिस समाजमें सबके भोजनकी उचित व्यवस्था हो चुकी हो उसका कोई आदमी यदि चाइना-सिल्क या मखमलका कोट पानेकी इच्छा करे तो उसकी तृप्तिके लिए क्या उपाय किया जायगा?" जब हमें सब तरफ फैली हुई दरिद्रता और पीड़ाकी अथाह खाईका खयाल आता है और जब हम मजदूरी ढूंढ़ते फिरने वाले श्रमिकोंका हृदय-विदारक चीत्कार सुनते हैं, तब तो इस प्रश्नपर विचार करनेतककी इच्छा नहीं होती। हम इसका यह उत्तर देना चाहते हैं कि पहले तो हमें रोटीका ही पक्का उपाय कर लेना चाहिए, फिर चाइना-सिल्क या मखमलकी बात सोची जायगी।

पर हम यह मानते हैं कि भोजनके अतिरिक्त मनुष्यकी और आकांक्षाएं भी होती हैं। अराजकवादकी आधार-शिला इसी बातपर है कि वह मनुष्यकी समस्त शक्तियों, समस्त आकांक्षाओं और मनोवृत्तियोंका ध्यान रखता है, एकको भी भुलाता नहीं। इसलिए संक्षेपमें हम यह बतायेंगे कि किस उपायसे मनुष्य अपनी मानसिक और कला-विषयक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकता है।

यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि ४५-५० वर्षकी उम्रतक रोज ४ या ५ घंटे काम करके मनुष्य आसानीसे उन सब वस्तुओंको पा सकता है जिनसे समाज सुख-सुविधासे रह सके।

मगर मेहनत-मजदूरी करनेवालेका दैनिक कार्य ५ ही घंटेका नहीं होता। यह तो सालके ३०० दिनोंमें १० घंटे रोजका होता है और यही हाल जिंदगी भर रहता है। इसमें शक नहीं कि अगर कोई आदमी किसी मशीनमें जुता रहे तो उसका स्वास्थ्य शीघ्र गिर जायगा और बुद्धि मंद पड़ जायगी। पर जब उसे कई तरहके काम करनेकी स्वतंत्रता हो और विशेषतः जब वह शारीरिक कामके बाद मानसिक काम बदल-बदल कर कर सके, तब तो वह बिना थके बल्कि आनन्दके साथ रोज १० या १२ घंटे भी काम कर सकेगा। फलतः जो मनुष्य जीवित रहनेके लिए आवश्यक ४-५ घंटे श्रम कर चुका हो उसके पास ५ या ६ घंटेका समय बच रहेगा। वह इसका उपयोग अपनी रुचिकी तृप्तिके लिए करेगा। यदि वह दूसरोंके साथ मिलकर काम करेगा तो इस ५-६ घंटे रोजके कामसे वह अपने सब शौक पूरा कर सकेगा।

सार्वजनिक उत्पादनमें भाग लेना मनुष्यका सामाजिक कर्त्तव्य है। अतः पहले तो वह खेत, कारखाने आदिमें जाकर अपने हिस्सेका काम करके उसे पूरा करेगा। इसके बाद वह अपना बाकी आधा दिन, आधा हफ्ता या आधा साल अपनी कला या विज्ञानकी आवश्यकताएं या अपना शौक पूरा करनेमें लगायेगा।

उस समय हजारों संस्थाएं प्रत्येक रुचि और प्रवृत्तिकी तृप्तिके लिए पैदा हो जायंगी।

उदाहरणके लिए, कुछ लोग अपने अवकाशके समयको साहित्यमें लगायेंगे। वे ऐसे संघ बना लेंगे, जिनमें लेखक, कंपोजीटर, मुद्रक, ब्लाक और नकशे बनानेवाले आदि होंगे और जिनका सामान्य उद्देश्य होगा अपने प्रिय विचारोंका प्रचार करना।

आजकल तो लेखक इस बातको जाननेकी शायदही कोशिश करता है कि छापाखाना होता कैसा है। वह इतना ही जानता है कि एक आदमी

है, जिससे वह कुछ आने रोज देकर अपनी किताब छापनेका काम ले सकता है। यदि कंपोजीटर टाइपके सीसेके विषसे बीमार हो जाय या मशीनपर से कागज उठानेवाला लड़का रक्तहीनतासे मर जाय, तो उसकी बलासे ! उसका काम करनेके लिए दूसरे अभागे बहुतेरे मिल जायंगे।"

पर जब एक भी भूखों-मरता आदमी न होगा जो थोड़ेसे पैसेपर अपना श्रम बेचनेको तैयार हो, जब आजका शोषित श्रमिक शिक्षित-जन होगा और जब उसके पास भी अपने निजके विचार होंगे जिन्हें लिखकर दूसरोंतक पहुचाये, तो मजबूरन लेखकों और वैज्ञानिकोंको आपसमें और छापेखानेवालोंसे भी सहयोग करना होगा, जिसमें उनकी गद्य-पद्य रचनाएं प्रकाशित हो सकें।

जबतक लोग मोटे कपड़े और शारीरिक श्रमको नीचे दर्जेकी चीज समझते रहेंगे तबतक तो उन्हें इस बातपर आश्चर्य होगा कि एक लेखक खुद ही अपनी किताब कंपोज करे। वे सोचेंगे कि क्या उसके मनोरंजन-के लिए व्यायामशाला या खेल-कूद नहीं हैं ? पर जब शारीरिक श्रमके प्रति अनादर-बुद्धि नष्ट हो जायगी, जब सबको अपने हाथों काम करना पड़ेगा, क्योंकि उनका काम करनेवाला दूसरा कोई न होगा, तब लेखक और उनके प्रशंसक लोग शीघ्र ही कंपोजिंग स्टिक और टाइप पकड़ना सीख जायंगे। तब छपनेवाली किताबके प्रशंसकोंको मालूम होगा कि आपसमें मिलकर टाइप जोड़ने, पेज बांधने और अछूती पुस्तकको प्रेससे लेकर पढ़नेमें क्या आनंद होता है। आज-कलकी सुंदर-सुंदर मशीनें तो सुबहसे रात्तक उनपर बैठनेवाले लड़कोंके लिए यातनाके साधन मात्र हैं, पर उस समय जो लोग अपने प्रिय-लेखकके विचारोंको प्रकाशित करनेके लिए उनसे काम लेंगे उनके लिए तो वे आनंदकी वस्तु हो जायंगी।

क्या इससे साहित्यको हानि पहुंचेगी ? क्या अपनी रचनाके लिए बाहर जाकर काम करने या उसकी छपाईमें हाथ बटा देनेसे कविका कवित्व कुछ घट जायगा ? एक उपन्यासकार जंगल या कारखानेमें, सड़क

या रेल-लाइन बनानेमें, दूसरे आदमियोंके साथ मिलकर काम करे तो क्या वह मानव-प्रकृतिके अपने ज्ञानको भूल जायगा ? इन प्रश्नोंके दो उत्तर हो ही नहीं सकते ।

संभव है कि कुछ पुस्तकें देखनेमें बहुत बड़ी न हों, पर तब थोड़े ही पृष्ठोंमें अधिक सामग्री रहेगी । संभव है कि रद्दी कागज कुछ कम छप पाये, पर जो कुछ छपेगा वह अधिक ध्यान देकर पढ़ा जायगा और अधिक आदर प्राप्त करेगा । उन पुस्तकोंके पाठक आजसे अधिक अधिक शिक्षित और उसका मूल्य आंकनेके अधिक अधिकारी होंगे।

इसके अतरिक्त छपाईकी कला तो अभी बचपनमें ही है । उसमें गृटेनबर्गके* कालके पश्चात् बहुत ही थोडी उन्नति होपायी है । जितना दस मिनिटमें लिख लिया जाता है उसे कंपोज करनेमें दो घंटे लग जाते हैं । परंतु विचारोंको और जल्दी छाप लेनेके उपाय ढूंढे जा रहे हैं और ढूंढ़ लिये जायंगे ।†

कितनी शोचनीय बात है कि लेखक अपनी पुस्तकोंकी छपाईके काममें स्वयं हाथ न बंटाये ! ऐसा न होता तो अबतक छपाईकी कलाने न जाने कितनी उन्नति कर ली होती ! सत्रहवीं शताब्दीकी तरह आज हमे हाथसे उठाये जानेवाले टाइपोंसे ही काम न चलाना पड़ता ।

३

सभी लोग आवश्यक वस्तुओंके उत्पादक हों, सभी विज्ञान और कलाकी वृद्धि करने योग्य शिक्षा पाये हुए हो, सबके पास इसके लिए अवकाश भी हो और फिर वे शारीरिक श्रममें अपना-अपना हिस्सा देकर अपनी पसंदकी पुस्तकोंके प्रकाशनके लिए सहयोग करें—क्या ऐसे समाजकी कल्पना स्वप्नमात्र है ? इस समय भी विद्वानों, साहित्यिकों तथा अन्य प्रकारके व्यक्तियोंकी सैकड़ों समितियां या सभाएं हैं। और ये समितियां या सभाएं हैं क्या ? वे ज्ञानकी भिन्न-भिन्न शाखाओंमें दिलचस्पी रखने-

*मुद्रण-कलाका प्रसिद्ध जर्मन आविष्कारक ।

†अधिक शीघ्रतासे कंपोज करने और छापनेके उपाय अब निकल चुके हैं ।

वाले तथा अपने-अप ग्रंथने प्रकाशित करनेके लिए सम्मिलित होने वाले लोगोंकी स्वेच्छासे बनाये हुए अलग-अलग समुदाय हैं। इन संस्थाओंके सामयिक पत्रोंमें लेखलिखनेवालोंको पुरस्कार नहीं मिलता, और इन सामयिक पत्रोंकी केवल थोड़ी-सी ही प्रतियां बिक्रीके लिए होती हैं। उनकी प्रतियां संसारमें सब स्थानोंपर उन दूसरी संस्थाओंको बिना मूल्य भेजी जाती हैं जो उन्हीं ज्ञान-शाखाओंकी वृद्धिमें लगी हुई हैं। ऐसे पत्रमें संस्थाका एक सदस्य समालोचनास्तंभमें अपने निष्कर्षोंके संबंधमें एक पृष्ठका नोट दे सकता है। दूसरा, जिसने वर्षोंतक किसी विषयका अध्ययन किया है, उसपर अपना ग्रंथ कायम करा सकता है। अन्य सदस्य और आगे अन्वेषण करते हैं और उसको आलोचनाओंसे अपना अध्ययन प्रारंभ करते हैं। पर इस सबसे कोई अंतर नहीं पड़ता। ये लेखक और पाठक अपनी सामान्य रुचिके ग्रंथोंके प्रकाशनके लिए सुसंगठित हुए हैं।

आजकल तो छपाईके लिए जैसे लेखकको वैसे समितियों भी ऐसे छापेखानेकी शरण लेनी पड़ती है जहां छपाईके लिए मजदूर लगे रहते हैं। वर्तमान समयमें जो लोग साहित्यिक सभाओंसे संबंध रखते हैं वे शारीरिक श्रमसे घृणा करते है, क्योंकि श्रमकी अवस्था आज बहुत ही बुरी हो रही है। परंतु जो समाज अपने सारे सदस्योंको उदार, दार्शनिक और वैज्ञानिक शिक्षा देगा वह तो शारीरिक श्रमको इस ढंगसे व्यवस्थित करेगा, जिससे वह मानव-जातिके गर्वकी वस्तु बन जाय। उस समाजकी साहित्यिक सभाएं और विद्वत् परिषदें अन्वेषकों, विज्ञान-प्रेमियों और मजदूरोंके संघ होगी। वे सब लोग शारीरिक-श्रमका कोई धंधा भी जानते होंगे और विज्ञानमें दिलचस्पी भी रखते होंगे।

मान लीजिये, एक संस्था भूगर्भ-विद्याका अध्ययन करती है। तो उस संस्थाके सभी लोग पृथ्वीकी परतोंका अन्वेषण करनेमें योग देंगे। अन्वेषण कार्यमें आजकल जहां सौ विद्वान् लगते हैं उस समय वहां दस हजार विद्वान् लग जायंगे और जितना काम हम बीस वर्षोंमें करते हैं उससे अधिक कार्य वे एक वर्षमें कर दिखायेंगे। और जब उनके ग्रंथ

छपने लगेंगे तो विविध काम जानने वाले दस हजार स्त्री-पुरुष नकशे बनाने, डिजाइन खोदने, कंपोज और छपाई करनेके लिए तैयार रहेंगे। अपने अवकाशके समयको वे बड़ी प्रसन्नताके साथ गांवोंमें बाहर जाकर भौगोलिक अन्वेषण करने या जाडेमें घरमें बैठकर काम करनेमें लगायंगे। और जब उनके ग्रंथ निकलेंगे तो उनके केवल सौ पाठक न होंगे, किंतु अपने शामिल काममे दिलचस्पी रखनेवाले दस हजार पाठक मिल जायंगे।

आज भी इस दिशामे प्रगति हो रही है। जब इंगलैंडको अंग्रेजी भाषाके एक सर्वांगपूर्ण कोषकी आवश्यकता हुई तो इस कार्यके लिए एक साहित्य-महारथीके जन्मकी प्रतीक्षा नहीं की गई। स्वयं-सेवकोंके लिए अपील निकाली गई और एक हजार आदमियोंने अपनी सेवाएं अर्पण करदीं। वे अपने आप बिना कुछ लिये पुस्तकोंमेंसे एक-एक बात ढूंढ़ निकालने, नोट लिखने और जो काम एक आदमी अपने पूरे जीवन-कालमें समाप्त न कर सकता था उसे थोड़े ही वर्षोंमे पूरा कर डालनेमें जुट गये। मानव-ज्ञानकी प्रत्येक शाखामे यही प्रवृत्ति काम कर रही है। यदि हम यह न समझ पाएं कि वैयक्तिक कार्यकी जगहपर अब सहयोग-वाद आरहा है और सहयोगवादके इन प्रयोगोमे ही आनेवाला युग अपने स्वरूपकी झलक देरहा है, तो समझना चाहिए कि मनुष्य-जातिके विषयमें हमारा ज्ञान बहुत परिमित है।

इस कोशको सच्चे अर्थमें सम्मिलित कार्य बनानेके लिए भी यह आवश्यक होता कि कितने ही अवैतनिक लेखक, मुद्रक और संशोधक मिलकर काम करते। समाजवादी पत्रोंने इस दिशामें कुछ काम किया भी है। उससे हमें शारीरिक और दिमागी कामके मिलकर किये जाने के उदाहरण मिलते है। हमारे सभाचार पत्रोंमे ऐसा अकसर होता है कि समाजवादी लेखक खुद ही अपना लेख कंपोज करता है। अवश्य ही ऐसे उदाहरण कम हैं, पर उनसे इतना तो प्रकट होता है कि विकास-धाराका बहाव किस ओरको है।

ये प्रयत्न स्वाधीनताका मार्ग दिखाते हैं। भविष्यमें जब किसी आदमीको कोई कामकी बात कहनेको होगी—कोई ऐसा संदेश देना होगा

जो उसकी शर्तोंके विचारोंसे भी आगे जाता हो—तो उसे किसी संपादक ( प्रकाशक ? ) की तलाश न करनी होगी जो उसे आवश्यक पूंजी उधार दे। वह छपाईका काम जाननेवाले कुछ साथी ढूंढ लेगा जो उसके नये ग्रंथके विचारोंको पंसद करते होंगे और फिर सब मिलकर नयी पुस्तक या पत्रिका प्रकाशित कर डालेंगे।

फिर साहित्य-सेवा और अखबार-नवीसी पैसा कमाने या दूसरोंपर अपना बोझ डालकर जीवित रहनेका धंधा न रहेगी। वर्तमान समयमें तो साहित्य उन लोगोंका गुलाम है जो पहले उसके रक्षक थे पर अब उससे स्वार्थ-साधन करते हैं। साहित्य उस जनताका भी दास है जो उसका उतना ही ज्यादा दाम चुकाती है जितना वह रद्दी होता है, या जितना ही वह अधिकांश जनताकी कुरुचिके अनुसार अपना रूप बना लेता है। पर साहित्य और अखबार-नवीसीकी भीतरी हालतको जाननेवाला क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो उनको इस बंधनसे मुक्त देखनेके लिए बेचैन न हो ?

साहित्य और विज्ञान जब पैसेकी गुलामीसे छूट जायेंगे और जब केवल उनके प्रेमी ही, उनके प्रेमियोंके लिए, उनकी रचना-साधना करेंगे, तभी वे मनुष्य-जातिकी उन्नतिमे वह सहायता दे सकेंगे जो उनसे मिलनी चाहिए।

४

साहित्य, विज्ञान और कलाकी साधना स्वाधीन जनोंके द्वारा ही होनी चाहिए। तभी राज्य और पूंजीके जुए और मध्यमवर्गके गला घोंटनेवाले प्रभावसे वे अपना छुटकारा करा पायेंगे।

आज-कलके वैज्ञानिकके पास ऐसे कौनसे साधन हैं जिनसे वह अपनी पसंदके किसी विषयमें अनुसंधान कर सके ? क्या वह राज्यसे सहायता मांगे ? राज्यकी सहायता तो सौ उम्मीदवारोंमेंसे एकको ही मिलती है और वह भी उसे जिससे पुरानी लकीर पीटते रहनेकी आशा की जाती हो। हमें स्मरण रखना चाहिए कि फ्रांसकी 'एकेडेम'

ऑव साइंसेज' ( विज्ञान-परिषद ) ने डार्विनके मतका खंडन किया था, 'एकेडेमी ऑव सेंटपीटर्सबर्ग'ने मेंडेलीफका तिरस्कार किया और लंदनकी 'रायल सोसायटी' नेजूलके उस लेखको 'अवैज्ञानिक' कहकर उसे प्रकाशित करनेसे इंकार कर दिया जिसमें उसने ताप-शक्तिके व्यय और उससे होनेवाले कार्यका अनुपात निकाला था।*

इसी कारण तो विज्ञानमें क्रांति कर देनेवाले सारे आविष्कार, सारे बड़े अन्वेषण विज्ञान-परिषदों और विश्वविद्यालयोंसे बाहर ही हुए हैं और ऐसे लोगोंके द्वारा हुए जिनके पास या तो डार्विन और लायलकी तरह इतना पैसा था कि स्वतंत्र रह सकें, अथवा जिन्होंने दरिद्रतामें और प्रायः बड़े कष्टमें पड़ते हुए अपना स्वास्थ्य नष्ट कर डाला, जिनका बहुत-सा समय प्रयोगशालाके अभावमें खराब हो गया, जो अनुसंधान चलानेके लिए आवश्यक यंत्र-साधन या पुस्तक भी न जुटा सकते थे, फिर भी निराशासे जूझते हुए अपनी साधनामें लगे रहे और अक्सर अपना लक्ष्य प्राप्त करनेके पहले ही इस लोकसे विदा हो गये। उनके नाम कहांतक गिनाये जायं।

राज्यसे सहायता मिलनेकी प्रणाली इतनी बुरी है कि विज्ञानने सदा अपनेको उससे मुक्त करनेका ही प्रयत्न किया है। यही कारण है कि यूरोप-अमेरिकामें ऐसी हजारों साहित्य-परिषदें और विज्ञान-समितियां हैं जो लोगोंकी स्वेच्छाकृत सहायतासे चल रही हैं। इनमें से कुछ समितिया तो इतनी बढ़ी हुई हैं कि राज्यसे सहायता पानेवाली सारी समितियोंके साधन और करोड़पतियोंके सारे धनसे भी उनकी निधियां खरीदी नहीं जा सकतीं। कोई भी सरकारी संस्था इतनी धनाढ्य नहीं है जितनी लंदनकी 'जूलाजिकल सोसायटी' ( प्राणिशास्त्र-परिषद् ) और वह चंदेसे ही चलती है।

लंदनकी 'जूलाजिकल सोसायटी'के बागमें पशु तो हजारोंकी संख्यामें हैं, पर वह उन जानवरोंको खरीदती नहीं। दूसरी समितियां और दुनिया भरके संग्रह करनेवाले लोग उन्हें भेज देते हैं। कभी बंबईकी 'जूलाजिकल

*यह बात हमें प्लेफेयरसे मालूम हुई जिसने जूलके मरनेपर इसे प्रकट किया।

सोसायटी' उपहार-स्वरूप एक हाथी भेज देती है, कभी मिश्रके प्रकृति-विज्ञानका अध्ययन करनेवाले एक हिपोपोटेमस या गैंडा भेज देते हैं। ये महान् उपहार—पक्षी, रेंगनेवाले प्राणी ( Reptiles ), कीड़े-मकोड़े आदि—संसारके सब स्थानोंसे प्रति-दिन बड़ी संख्यामें आते रहते हैं। इनमें अक्सर ऐसे जंतु भी होते हैं जिन्हें संसारका सारा खजाना भी खरीद नहीं सकता। इसी प्रकार एक पर्यटक अपनी जानको जोखिममें डालकर किसी जानवरका पकड़ता है और उसे बच्चेकी तरह प्यार करने लगता है। वह उसे उस सोसायटीको भेंट करता है, क्योंकि उसे मालूम है कि वहां उसकी ठीक तौरसे देख-भाल की जायगी। उस महान् सस्थामें आनेवाले असंख्य दर्शकोंके प्रवेश-शुल्कसे ही उसका खर्च चल जाता है।

लंदनकी 'जूलाजिकल सोसायटी' और इस तरहकी अन्य संस्थाओंमें कोई कमी है तो यह कि सदस्य-शुल्क श्रमके रूपमें नहीं लिया जा सकता। इस बडी संस्थाके जानवरोंकी देख-रेख करनेवाले और बहुसंख्यक नौकर इसके सदस्य नहीं माने जाते। और अनेक सदस्य तो ऐसे भी हैं जो केवल अपने कार्डोंपर F. Z. S. ( फेलो आव दी जूलाजिकल सोसायटी ) लिखनेके लिए ही इस संस्थाके सदस्य बने हैं। संक्षेपमें कह सकते हैं कि सहयोग और अधिक पूर्ण होना चाहिए।

जो बात हमने वैज्ञानिकोंके बारेमें कही है वही आविष्कार करनेवालोंके विषयमें भी कह सकते हैं। प्रायः सभी बड़े-बड़े आविष्कारोंके लिए उन्हें करनेवालोंको कितना कष्ट उठाना पड़ा है, यह कौन नहीं जानता ? कितनी ही रातें बिना सोये बीत गईं, बीवी-बच्चे भूखे रह गये, प्रयोगोंके लिए औजार और सामान भी न जुड़ सका। यह हैं प्रायः उन सब लोगोंका इतिहास जिन्होंने उद्योग-धंधोंको समृद्ध करने और हमारी सभ्यताका गौरव बढ़ानेवाले आविष्कार किये।

पर जिस परिस्थितिको सभी लोग बुरा बताते हैं उसे बदलनेके लिए हमें करना क्या चाहिए ? ईजादोंको पेटेंट करानेका तरीका भी आजमा लिया गया और जो परिणाम हुआ वह हमें मालूम है। आविष्कारक कुछ

रुपये लेकर अपना पेटेंट बेच देता है और उसपर पूंजी लगानेवाला अक्सर उससे करोड़ों कमा लेता है। पेटेंट करानेवाला अन्य सब आविष्कारकोंसे अलग भी हो जाता है। उसे अपना आविष्कार गुप्त रखना पड़ता है और इससे वह आविष्कार अधूरा रह जाता है। पर कभी-कभी तो साधारण आदमीकी किसी सीधी-सी सूझसे ही वह आविष्कार समृद्ध हो सकता और कामकी चीज बन सकता है। उद्योग-धंधोंको उन्नतिमें जिस तरह राज्यके सब प्रकारके नियंत्रण रुकावट डालते हैं उसी तरह पेटेंट-प्रणालीसे भी रुकावट होती है। विचार पेटेंट किये जानेकी चीज नहीं हैं। इसलिए सिद्धांतकी दृष्टिसे पेटेंट-प्रथा घोर अन्याय है और व्यवहारमें उसका परिणाम यह होता है कि आविष्कारकी शीघ्र उन्नति होनेमें एक भारी बाधा खड़ी हो जाती है।

खोज-आविष्कारकी प्रवृत्ति बढ़ानेके लिए जिस बातकी सबसे पहले, आवश्यकता है, वह है, विचारोंकी जाग्रति, बड़ी-बड़ी कल्पनाएं करनेका साहस। परंतु आजकलकी हमारी सारी शिक्षा इन्हींको निर्जीव बना देती है। वैज्ञानिक शिक्षाका विस्तार होनेसे अन्वेषकोंकी संख्या सौगुनी हो जायगी। सभी बड़े-बड़े आविष्कारकोंको इस विश्वास और आशासे ही स्फूर्ति मिली है कि उनके कार्यसे मानव-समाज एक कदम आगे बढ़ेगा, उसकी भलाई होगी। समाजवादी क्रांतिसे ही विचारकी यह स्फूर्ति, यह साहस, यह ज्ञान, और सबके कल्याणके लिए कार्य करनेका यह विश्वास मिल सकता है।

उस समय हमारे पास बड़ी-बड़ी संस्थाएं होंगी, उनमें मोटर-(चालक) शक्ति और सब प्रकारके औजार होंगे, बड़ी-बड़ी औद्योगिक प्रयोग-शालाएं होंगी जो सब अन्वेषकोंके लिए खुली रहेंगी। समाजके प्रति अपने कर्त्तव्यका पालन कर चुकनेके बाद लोग वहां अपनी कल्पनाओंको कार्य-रूप दे सकेंगे। उस समय हमारे पास बड़े-बड़े यंत्रालय होंगे, जहां लोग अपनी फुरसतके पांच-छः घंटे बिता सकेंगे। वहां उन्हें दूसरे साथी भी मिलेंगे जो किसी गहन विषयका अध्ययन करने आये होंगे और जो किसी दूसरे उद्योग-धंधेके विशेषज्ञ होंगे। वे एक-दूसरेकी सहा-

बता तथा ज्ञान-वृद्धि कर सकेंगे। उनके विचारों और अनुभवोंके संघर्ष-से सबकी समस्या हल हो जायगी और यह कोई स्वप्नकी-सी बात नहीं है। पीटर्सबर्गमें 'सोलेनोय गोरोडोक' नामकी संस्थाने यंत्रों और कला-कौशलके संबंधमें अंशतः इस बातको कर दिखाया है। इस कारखानेमें सब तरहके औजार हैं और वह सबके लिए निःशुल्क है। औजार और चालक-शक्ति मुफ्त दी जाती है। सिर्फ धातुओं और लकड़ीके दाम लिये जाते हैं, वह भी लागतमात्र। दुर्भाग्यसे कारीगर लोग वहां केवल रातको ही जाते हैं। उस समय वे बेचारे वर्कशॉपके दस घंटेके कामसे थके हुए होते हैं। इसके अतिरिक्त वे बड़ी सावधानीके साथ एक-दूसरेसे अपने आविष्कार छिपाते रहते हैं। पेटेंट-प्रणाली और पूंजीवाद, जो वर्तमान समाजका अभिशाप और बौद्धिक तथा नैतिक उन्नतिके रास्तेका रोड़ा है, उनके दिमागमें बुरी तरह घुसा हुआ है।

५

और कलाका क्या हाल है? आज तो सब तरफसे हमें कलाके ह्रासका रोना सुनाई देता है। पुनर्जागरण (Renaissance) के महान कला-कारोंसे सचमुच हम बहुत पिछड़ गए हैं। कलाके नियमोंमें तो इधर बड़ी प्रगति हुई है, हजारों प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष कलाकी प्रत्येक शाखाको आगे बढ़ानेका काम कर रहे हैं, पर हमारी संस्कृतिसे कला दूर भागती हुई दिखाई देती है। नियम-कायदे तो आगे बढ़ रहे हैं, पर कलाकारोंके कलाभवनोंमें स्फूर्ति बहुत ही कम आया करती है।

वह आये भी कहांसे? कोई महान विचार ही तो कलाकी स्फूर्ति दे सकता है। हमारे आदर्शके अनुसार कला-सृष्टि (Creation) का समा-नार्थक शब्द है। उसकी दृष्टि बहुत आगे जानी चाहिए। पर थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर शेष व्यवसायी कलाकार तो इतने जड़वादी हो गये हैं कि कोई नयी कल्पना उनके दिमागमें आ ही नहीं सकती।

इसके अतिरिक्त यह स्फूर्ति पुस्तकोंसे नहीं मिल सकती, वह तो जीवनसे ही आनी चाहिए। पर वर्तमान समाज उसको जगा नहीं सकता।

राफेल* और म्यूरिलो§ उस युगमें चित्रकारी करते थे जब पुरानी धार्मिक परंपराओंकी रक्षा करते हुए भी नये आदर्शकी तलाश चल सकती थी। वे दोनों गिरजाघरोंको सजानेके लिए चित्र बनाया करते थे। ये गिरजाघर भी नगरकी कई पीढ़ियोंके पवित्र श्रमसे बने थे। अपने अद्भुत दृश्य और ऐश्वर्यके सहित गिरजेका बेसीलिक भवन स्वयं नगरके जीवनसे संबद्ध था और चित्रकारके हृदयमें स्फूर्ति उत्पन्न कर सकता था। वह चित्रकार सार्वजनिक इमारतोंके लिए काम करता था। वह अपने साथी नगरवासियोंसे बात-चीत किया करता था और इससे उसे स्फूर्ति मिलती थी। लोगोंको वह उसी प्रकार भाता था जिस प्रकार गिरजाघरका मध्य-भाग, उसके खंभे, रंगी हुई खिड़कियां, मूर्तियां और खुदे हुए किवाड़। आज-कल सबसे बड़ा सम्मान, जिसकी इच्छा एक चित्रकार कर सकता है, यह है कि उसका चित्र सुनहरे फ्रेममें जड़कर किसी अजायबघरमें लगा दिया जाय। अजायबघर तो एक तरहकी प्राचीन अद्भुत वस्तुओंकी दूकान ही होता है। वहां प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कलाकारोंकी सुंदर कृतियां भिखारियों और राजाओंके कुत्तोंके चित्रोंकी बगलमें रखी जाती हैं। मूर्ति-निर्माण कलाके वे उत्कृष्ट नमूने, जो यूनानके नगरोंके सर्वोच्च स्थानपर खड़े रहते थे और लोगोंको स्फूर्ति प्रदान करते थे, अब पेरिसके कला-संग्रहमें लाल पर्दोंके नीचे पड़े हुए हैं!

जब यूनानी मूर्तिकार अपने संगमरमरपर छेनीसे काम करता था तब वह अपने नगरकी भावना और हृदयको प्रकाशित करनेका प्रयत्न करता था। नगरके सारे मनोभाव, उसके गौरवकी सारी परंपराएं उसकी कृतिमें आकर फिरसे सजीव होना चाहती थीं। पर आज तो संयुक्त नगर-की भावना ही नहीं रही। अब विचारोंका वह मिलन—आदान-प्रदान नहीं होता। अब तो नगर ऐसे लोगोंका संयोग-सिद्ध समूहमात्र है जो न तो एक-दूसरेको जानते हैं और न एक-दूसरेको लूटकर धनी बनने के सिवाय जिनका दूसरा कोई सामान्य स्वार्थ है। मातृभूमिका तो

*इटलीका प्रसिद्ध चित्रकार, समय १४८३—१५२० ई०।
§स्पेनका प्रमुख चित्रकार, समय १६१८—१६८२ ई०।

अस्तित्व ही नहीं रहा। एक अंतर्राष्ट्रीय महाजन और सड़कपर चिथड़े बटोरनेवालोंकी कौनसी समान मातृभूमि हो सकती है ? जब नगर, कस्बे, प्रदेश, राष्ट्र या राष्ट्रोंके समुदाय अपने जीवनको फिरसे स्नेह-सामंजस्य-युक्त बना लेंगे तभी सामान्य आदर्श बनेंगे और उनसे कलाको स्फूर्ति मिल सकेगी। उस समय कारीगरी जाननेवाला व्यक्ति नगरके ऐसे स्मारक-भवनका नकशा सोचेगा जो मंदिर, कारागार या किला न होगा। उस समय चित्रकार, मूर्तिकार, नक्काशीका काम करनेवाला और आभूषणकार, सभी यह जान जायंगे कि अपने मित्रों, मूर्तियों और शृंगार-साधनोंको किस स्थानपर लगाना चाहिए। जीवनके उसी स्रोतसे वे सब शक्ति-स्फूर्ति प्राप्त करेंगे और सब मिलकर गौरवके साथ भविष्यकी ओर बढ़ते जायंगे।

पर उस स्वर्ण-युगके आनेतक तो कला केवल अपना अस्तित्व-भर बनाये रखेगी। वर्तमान कलाकारोंके सबसे सुन्दर चित्र प्रकृति, ग्रामों, घाटियों, तूफानी समुद्रों और वैभवशाली पर्वतोंके होते हैं। पर खेतोंमें काम करनेमें जो कवित्व है उसे वह चित्रकार कैसे चित्रित कर सकता है जिसने खेतोंमें काम करके स्वयं कभी उसका आनंद नहीं उठाया, केवल उसका अनुमान या कल्पना भर की है, जिसे उस प्रदेशका ज्ञान उतना ही है जितना कि मौसिमी चिड़ियोंको रास्तेमें पड़नेवाले देशका होता है, जिसने नयी जवानीकी उमंगमें बड़े सवेरे खेतमें जाकर हल नहीं चलाया, जिसने अपने संगीतसे वायुमण्डलको भर देनेवाली सुंदर युवतियोंसे प्रतिस्पर्धा करते हुए मेहनती घसियारोंके साथ हंसिया भर-भरकर घास काटनेका आनंद नहीं लिया ? भूमि और भूमिपर जो कुछ उगा हुआ है उसका प्रेम तो तूलिकासे चित्र बना देने मात्रसे प्राप्त होता नहीं, वह तो उसकी सेवा करनेसे उपजता है। जिससे प्रेम ही नहीं उसका चित्र कैसे बनेगा ? इसी कारण तो अच्छे-से-अच्छे चित्रकारोंने इस दिशामें जो कुछ बनाया है वह भी बिलकुल अपूर्ण है, वास्तविक जीवनसे दूर है और प्रायः भावुकताकी व्यंजनामात्र हैं। उसमें जान नहीं है।

काम करके घर लौटते हुए यदि आपने अस्त होते हुए सूर्यको देखा हो, यदि आप किसानोंके बीच किसान बनकर रहे हैं, तो उस कालका वैभव आपकी आंखोंमें रहेगा। दिन और रातके सब समयोंमें यदि आप मछुओंके साथ समुद्रमें रहे हो, खुद मछली मारी हो, लहरोंसे लड़े हों, तूफानका सामना किया हो और इस परेशानीके बाद जालके बहुत-सी मछलियां समेट लेनेका हर्ष या खाली वापस आनेकी निराशाका अनुभव किया हो, तो आपनाविक जीवनके काव्यको समझ सकते हैं। मनुष्यकी शक्तिको समझने और उसे कलाके रूपमें प्रकट करनेके लिए जरूरी ही है कि आपने कभी कारखानेमें समय बिताया हो, निर्माण-कार्यके सुख-दुःखको जाना हो, बड़ी-बड़ी भट्टियोंके प्रकाशमें धातुको ढाला हो, यंत्र-जीवनका अनुभव किया हो। जनताकी भावनाओंका वर्णन करनेके लिए आवश्यक है कि वास्तवमें वे भावनाएं आपमें ओत-प्रोत हो जायं।

जिस प्रकार प्राचीन कालके कलाकारोंकी कृतियां बेचनेके लिए नहीं बनती थीं उसी प्रकार जनताका ही जीवन बितानेवाले भविष्यके कलाकारोंकी कृतियां भी बिक्रीके लिए तैयार न होंगी। वे तो संपूर्ण जीवनका एक अंग होंगी। जीवन उनके बिना पूर्ण न होगा और न वे उसके बिना पूर्ण होंगी। कलाकारकी कृति देखनेके लिए लोग खुद उसके नगरको जायंगे और इस प्रकारकी रचनाओंकी सजीव तथा शांत सुंदरता हृदय और मस्तिष्कपर अपना हितकर प्रभाव डालेगी।

यदि कलाकी उन्नति करनी है तो उसे बीचकी सैकड़ों कड़ियों द्वारा उद्योग-धंधेसे संबद्ध कर देना पड़ेगा, या जैसा रस्किन और महान् साम्यवादी कवि मॉरिसने अनेक बार सिद्ध कर दिखाया है, दोनोंको एकमें मिला देना होगा। गलियों या बाजारोंमें, सार्वजनिक स्मारकोंके भीतर और बाहर, मनुष्यके आस-पासकी प्रत्येक वस्तु शुद्ध कलामय रूपमें होनी चाहिए।

पर यह बात उसी समाजमें हो सकती है जिसमें हर आदमीको आवश्यक सुख-सुविधा और अवकाश प्राप्त हो। तभी ऐसी कला-परिषदें बन सकेंगी जिनमें प्रत्येक सदस्यको अपनी योग्यताके उपयोगका अवसर मिले; क्योंकि कलाके साथ-साथ सैकड़ों तरहके हाथके और यांत्रिक

काम भी रहेंगे ही। जिस प्रकार एडिनबराके दयालु युवक चित्रकारोंने अपने नगरमें गरीबोंके लिए बने हुए बड़े अस्पतालकी दीवारों और छतोंको चित्रित किया था उसी प्रकार ये कला-समितियां अपने सदस्योंके घरोंको सजानेका काम करेंगी।

एक चित्रकार या मूर्तिकार, जो अपनी आंतरिक भावनाको व्यक्त करनेके लिए कोई चीज बनायेगा, उसे अपनी प्रेयसी या किसी मित्रको देगा। उसकी कृति, जो केवल प्रेमकी खातिर और प्रेमकी ही प्रेरणासे बनी है, क्या उस कृतिसे, जिसपर आजके जड़वादी कलाकारको गर्व है, घटिया होगी—केवल इस कारण कि उसपर अधिक पैसा लगा है ?

जो आनंदकी वस्तुएं जीवनकी आवश्यकताओंमें नहीं आतीं उन सबके विषयमें भी यही करना पड़ेगा। जिसे एक बड़ा हारमोनियम चाहिए वह बाजा बनानेवालोंके संघमें प्रवेश करेगा। उस संघको अपने अर्धदिनोंके अवकाशका कुछ भाग देकर वह अपनी अभीष्ट वस्तु पा सकेगा। यदि किसीको खगोल-विद्याके अध्ययनका शौक है तो वह ज्योतिर्विज्ञान-वेत्ताओंके संघमें सम्मिलित हो जायगा। उस संघमें उस विषयके विचारक, निरीक्षक, गणक, खगोल-संबंधी यंत्रोंके कारीगर, वैज्ञानिक, उस विषयसे रुचि रखनेवाले—सभी होंगे। वह व्यक्ति सम्मिलित कार्यमें अपना हिस्सा देकर अपनी पसंदकी दूरबीन प्राप्त कर सकेगा; क्योंकि वेधशालामें तो विशेषकर मोटे काम—ईंटें जोड़ने, लकड़ीके काम, ढलाई और मिस्त्रीके काम—की ही आवश्यकता होती है। कलाका विशेषज्ञ तो सूक्ष्म यंत्रोंपर 'आखिरी कूंची' भर फेर देता है।

खुलासा यह कि आवश्यक वस्तुओंकी उत्पत्तिमें कुछ घंटे लगा देनेके बाद प्रत्येक व्यक्तिके पास जो पांच-छः घंटे बच रहते हैं वे सब प्रकारके शौक पूरे करनेके लिए काफी होंगे। शौक और आरामके सामान जुटानेके लिए हजारों संस्थाएं तैयार हो जायंगी। जो आज इने-गिने लोगोंका विशेषाधिकार है वह सबको सुलभ हो जायगा। विलास-सामग्री मध्यमवर्गका बेहूदा दिखावा न रहकर कलायुक्त आनंदका साधन बन जायगी।

इससे प्रत्येक व्यक्ति अधिक सुखी हो जायगा। किसी अभीष्टकी सिद्धि,

अपनी इच्छाकी कोई पुस्तक, कोई कला-कृति या कोई शौककी चीज प्राप्त करनेके लिए जो सम्मिलित कार्य खुशी-खुशी किया जायगा उसमें प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं उत्साह होगा और वह कार्य जीवनको सुखद बनानेके लिए आवश्यक मनोरंजन बन जायगा।

मालिक और गुलामका भेद मिटानेकी कोशिश करना दोनोंके ही सुखका, बल्कि सारी मनुष्य-जातिके सुखका प्रयत्न करना है।

: १० :

# मनचाहा काम

१

समाजवादी जब यह कहते हैं कि जब समाज पूंजीपतियोंके शासनसे मुक्त हो जायगा उस समय काम करना सबको रुचेगा, और अरुचिकर, अस्वास्थ्यकर पिसाई मिट जायगी, तो लोग उनपर हंसते हैं। मगर आज भी हम देखते हैं कि इस दिशामें बहुत प्रगति हो रही है। जहां-जहां यह प्रगति हुई है वहां-वहां उसके फलस्वरूप शक्तिकी जो बचत हुई है उसपर मालिकोंने अपने आपको बधाई दी है।

यह स्पष्ट है कि एक कारखाना भी उतना ही स्वास्थ्यकर और सुखद बनाया जा सकता है जितनी एक प्रयोगशाला। और यह भी स्पष्ट ही है कि ऐसा करना लाभदायक होगा। कुशादा और हवादार कारखानेमें काम अच्छा होता है। ऐसे छोटे-छोटे सुधार आसानीसे किये जा सकते हैं जिनसे समय या श्रमकी बचत होती है। आज जो अधिकतर कारखाने गंदे या अस्वास्थ्यकर दिखाई देते हैं, उसका कारण यही है कि कारखानोंके प्रबंधमें मजदूरका कोई मूल्य नहीं समझा जाता और मानव शक्तिकी बुरी तरह बर्बादी होना वर्तमान औद्योगिक संगठनकी एक विशेषता है।

फिर भी समय-समयपर हमें ऐसे सुव्यवस्थित कारखाने देखने को मिलते है जिनमें काम करना सच्चा आनंद हो सकता है, यदि वह प्रति-दिन चार या पांच घंटेसे अधिकका न हो और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार बदला जा सके।

इंगलैंडके एक मध्यवर्ती जिलेमें बहुतसे कारखाने हैं, जो दुर्भाग्यसे युद्ध-सामग्री बनानेके काममें लगे हुए हैं। स्वास्थ्यकर और बुद्धियुक्त प्रबंध

की दृष्टिसे वे सर्वांगपूर्ण हैं। वे पचास एकड़के घेरेमें हैं जिनमेंसे पंद्रह एकड़पर तो कांचकी छत है। फर्श आगसे न जलनेवाली ईंटोंसे जड़ा हुआ है और खान खोदनेवालोंकी कुटियोंकी तरह साफ रखा जाता है। कांचकी छतको बहुतसे श्रमिक सदा साफ करते रहते हैं जिनसे दूसरा काम नहीं लिया जाता। इस कारखानेमें पांच-पांचसौ मनके बल्ले तपाये और बनाये जाते हैं। बड़ी-बड़ी भट्टियोंकी ज्वालामें हजार-हजार डिग्रीसे भी अधिक ताप होता है, पर आप उनसे १० गजपर भी खड़े रहें तो आपको उनके अस्तित्वका पतातक न चलेगा। चलता है तब जब उनका मुंह लोहेके भीमकाय टुकड़ोंको बाहर निकालनेके लिए खुलता है। उस गर्म लोहेके दैत्यको केवल तीन-चार श्रमिक सम्हाल लेते हैं। वे कभी यहां कभी वहां, कोई नल खोल देते हैं और पानीके दबावसे ही विशालकाय क्रेन इधर-उधर घुमा लिये जाते हैं।

इस कारखानेमें प्रवेश करते समय आप सोचते होंगे कि लोहा पीसने वाले यंत्रोंकी कान फोड़देनेवाली आवाज सुनाई देगी, पर वहां वे होते ही नहीं। तीन-तीन हजार मनकी बड़ी-बड़ी तापें और ऐटलांटिक महासागरके पार जानेवाले जहाजोंके लिए पहियोंके भारी-भारी डंडे, सब पानीके दबावसे ढाले जाते हैं। तब लौह-राशिकी मोटाई कितनी ही क्यों न हो, धातुके उस बड़े पिंडको किसी भी शक्लका बनानेके लिए कारीगरको सिर्फ पानीके नलका मुंह उधर कर देना पड़ता है और उससे धातुकी बिलकुल यकसां चीज तैयार हो जाती है।

मैं आशंका करता था कि लोहेको रेतते समय जा घिसाई होती है उसका अति कर्कश शब्द मुझे सुनना होगा। पर मैंने दस-दस गज लंबे इस्पातके भारी टुकड़ोंको काटनेवाली मशीनें देखीं, उनसे उतना ही शब्द होता था जितना आलू काटनेमें होता है। जब मैंने इसकी प्रशंसा उस इंजीनियरसे की जो हमें सब दिखा रहा था तो उसने उत्तर दिया—

"यह तो केवल मितव्ययिताका प्रश्न है। यह मशीन जो इस्पातको रेतकर सम करती है, बयालीस बरससे चल रही है। यदि इसके पुरजे

ठीकसे जुड़े न होते, परस्पर भिड़ते रहते और सम करनेवाले औजारके आने-जानेपर आवाज करते, तो यह दस साल भी न चलती।

"इसी प्रकार लोहा गलानेकी भट्टियोंमें गरमीको फिजूल निकलने देना बड़ा भारी अपव्यय है। जो गरमी भट्टीसे फिरकर बाहर निकल जाती है, वह तो सैकड़ों मन कोयलेसे पैदा होती है। फिर ढालनेवालेको क्यों भूना जाय?"

"जिन लोहा पीटनेवाले यंत्रोंकी धमकसे १५-१५ मीलतककी इमारतें हिल पड़ें वे भी अपव्यय रूप थे। लोहेको पीटकर बनानेकी अपेक्षा दबाकर बनाना अच्छा है, उससे खर्च भी कम होता है और हानि भी कम होती है।"

"इस कारखानेमें हर एक बेंचके लिए जितनी रोशनी, सफाई और खुली जगह रखी गयी है उसमें भी मितव्ययिता ही उद्देश्य है। जो काम आप करते हैं उसको यदि आप अच्छी तरह देख सकें, आपके पास हाथ-पैर हिलानेको काफी जगह हो, तो काम अधिक अच्छा होगा।"

"यह सही है कि यहां आनेसे पहले हमें बड़ी तकलीफ हुई थी। शहरोंके करीब जमीन बहुत महंगी होती है, जमींदार बड़े लालची होते हैं।"

खानोंमें भी यही हाल है। जोलाके वर्णनों और समाचारपत्रोंकी रिपोर्टोंसे हमें मालूम है कि खानें आज-कल कैसी होती हैं। पर भविष्यकी खानोंमें हवाका खूब इंतजाम होगा और उनका ताप उतनी ही सरलतासे नियंत्रित हो सकेगा जितनी सरलतासे पुस्तकालयका होता है। जमीनके नीचे दफन होनेके लिए घोड़े न होंगे। वहां बोझ खींचनेका काम अपने आप चलनेवाले रस्सों (Automatic cables) से लिया जायगा जो खानके मुंहपरसे चलाये जायंगे। 'वेंटिलेटर' (हवा पहुँचानेवाले यंत्र) सदा काम करते रहेंगे और धड़ाके कभी होंगे ही नहीं। यह कोई स्वप्न नहीं है। इंगलैंडमें ऐसी खान मौजूद है और मैं उसमें हो आया हूँ। यहां भी सुंदर प्रबंधमें मितव्ययिता है। जिस खानका मैं वर्णन कर रहा

हूँ वह ४६६ गज गहरी है। पर उससे भी प्रतिदिन अठाईस हजार मन कोयला निकलता है। केवल २०० खनिक हैं—प्रत्येक रोजाना १४ मन कोयला निकालता है। इसके विरुद्ध उस समय इंगलैंडकी दो हजार खानोंका सालाना औसत मुश्किलसे फी आदमी ८४०० मन था।

आवश्यक हो तो इसके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं कि फूरियेके भौतिक संगठनका स्वप्न मनोराज्य नहीं था।

परंतु साम्यवादी समाचार-पत्रोंमें इस प्रश्नपर इतनी बार चर्चा हो चुकी है कि लोगोंको इस विषयमें काफी जानकारी होनी चाहिए। कारखाने, भट्ठियाँ और खानें इतनी स्वास्थ्यकर और सुन्दर बन सकती हैं जितनी वर्तमान विश्वविद्यालयोंकी बढ़िया-से-बढ़िया प्रयोगशालाएं। और प्रबंध जितना अच्छा होगा, मनुष्य-श्रम उतना ही अधिक उत्पन्न करेगा।

यदि यह सत्य है तो समान व्यक्तियोंके जिस समाजमें मजदूर अपने श्रमको बेचने और चाहे जैसा काम करनेको मजबूर न होंगे, उसमें श्रम करना क्या आनंद और मनोरंजन न हो जायगा? अरुचिकर काम न रहेगा, क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि इन अस्वास्थ्यकर अवस्थाओंसे सारे समाजकी ही हानि होती है। गुलाम चाहे इन अवस्थाओंमें रह सकें, पर स्वाधीन लोग तो नयी परिस्थिति पैदा करेंगे और उनका श्रम आनंद-दायक तथा अत्यधिक उत्पादक होगा। आज जो बातें कहीं-कहीं हैं, अपवादरूप हैं, कल वही बातें—वही अवस्थाएं सामान्य, सार्वत्रिक हो जायंगी।

जिस घरेलू कामको समाजने आज दासी रूपमें पिसनेवाली स्त्रीपर डाल रखा है उसके रूपमें भी ऐसा ही सुधार होगा।

## २

जो समाज क्रांतिके द्वारा नवजीवन प्राप्त करेगा वह घरेलू गुलामीको भी मिटा देगा। घरेलू दासता दासताका अंतिम रूप है। शायद यह सबसे ज्यादा सख्त-जान है, क्योंकि यह सबसे प्राचीन भी है। परंतु

यह काम सामूहिक आवास-वादी दलके सोचे हुए मार्गसे न हो सकेगा और न सत्तावादी साम्यवादियोंकी सोची हुई रीतिसे ही।

सामूहिक आवास लाखों आदमियोंको नहीं भाते। इसमें तो सन्देह नहीं कि अधिक-से-अधिक एकांत-सेवी व्यक्ति भी सामान्य काम पूरा करनेके लिए अपने साथियोंसे मिलनेकी आवश्यकता अनुभव करता है और जितना ही वह अपनेको महान् समष्टिका एक भाग समझने लगता है, यह सामान्य श्रम उतना ही आकर्षक हो जाता है। पर अवकाशका समय तो आराम करने और घनिष्ट व्यक्तियोंके साथ रहनेके लिए होता है। सामूहिक आवास-वादी और कुटुम्बवादी या तो इस बात पर विचार ही नहीं करते, या वे अपना एक कृत्रिम समुदाय बनाकर इस आवश्यकताको पूरा करनेका यत्न करते हैं।

संयुक्त आवास वस्तुतः एक बड़े होटलके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह कुछ लोगोंको सब समय या शायद सभी लोगोंको कुछ समयके लिए पसन्द आ सके। पर अधिक लोग तो कुटुम्बका जीवन ही पसन्द करते हैं। अवश्य ही हमारा मतलब भविष्यके पारिवारिक जीवनसे है। लोग पृथक्-पृथक् घर अधिक चाहते हैं। अंग्रेज लोग तो यहांतक बढ़े हुए हैं कि वे छः-सात कमरोंके घर पसन्द करते हैं, जिनमें एक कुटुम्ब या मित्र-समूह पृथक् रह सके। सामूहिक आवास कभी-कभी आवश्यक होते हैं, पर वे सबके और सब समयके लिए बना दिये जायं तो अप्रिय हो जायंगे। मनुष्यकी यह साधारण इच्छा होती है कि कभी तो समाजके बीच रहकर समय बिताये और कभी अलग भी रहे। इसी कारण जेलमें एकांतका न मिलना एक घोरतम कष्ट होता है, और यदि सामाजिक जीवन न मिल पाये, बन्दी तनहाईकी कोठरीमें बन्द कर दिया जाय तो वह भी ऐसा ही असह्य हो जाता है।

सामूहिक आवासके पक्षमें जो मितव्ययिताकी दलील दी जाती है वह तो बनियेपनकी-सी बात है। सबसे अधिक महत्व और बुद्धिमत्ताकी जो मितव्ययिता है वह है सबके जीवनको आनंदमय बनाना, क्योंकि जो आदमी अपनी स्थितिसे प्रसन्न है वह उस व्यक्तिकी अपेक्षा बहुत अधिक

उत्पादन कर सकता है जो अपनी परिस्थितिको कोसा करता है।

दूसरे साम्यवादियोंको सामूहिक आवासकी व्यवस्था पसन्द नहीं। पर जब आप उनसे पूछते हैं कि गृह-कार्यका प्रबन्ध किस प्रकार हो सकता है तो उनका जवाब होता है कि—"सब लोग अपना-अपना काम करेंगे। मेरी पत्नी घरके काम करती है, मध्यमवर्गकी पत्नियां भी इतना तो कर ही सकती हैं।" और यदि कहनेवाला साम्यवादपर व्यंग करनेवाला कोई मध्यम-वर्गीय हो तो वह हंसकर अपनी पत्नीसे कह सकता है– "प्रिये, क्या साम्य-वादी समाजमें तुम बिना नौकरके काम न चला सकोगी? हमारे दोस्त अहमद या रामू मिस्तरीकी पत्नीकी तरह क्या तुम भी अपना काम करना पसन्द न करोगी?"

वह नौकर हो या पत्नी, पुरुष घरके कामके लिए सदा स्त्रीका ही भरोसा करता है।

परन्तु मानव जातिकी मुक्तिमें स्त्री भी तो अपना हिस्सा मांगेगी ही। वह अब घरमें "पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर" बनकर रहना नहीं चाहती। अपने बच्चोंके पालन-पोषणमें जीवनके कई वर्ष लगा देना ही वह अपना काफी काम समझती है। अमेरिकाकी स्त्रियां अपना अधिकार प्राप्त करनेमें आगे बढ़ रही हैं, इसलिए संयुक्तराष्ट्रमें अब यह आम शिकायत है कि वहां घरेलू काम करनेवाली औरतोंकी कमी है। लोग कहते हैं कि हमारी मेम साहिबा तो कला, राजनीति, साहित्य या खेल अधिक पसन्द करती हैं। नौकरानी बननेवाली स्त्रियां कम मिलती हैं और नौकर तो और भी कठिनाई से मिलते हैं। फलतः इसका सरल उपाय अपने आप निकल आया है। गृह-कार्यका तीन-चौथाई अब मशीन कर देती है।

आप अपने जूतेपर पालिश करते हैं और जानते हैं कि यह कैसा भद्दा काम है। ब्रशसे बीस या तीस बार बूटको रगड़ते बैठनेसे अधिक मूर्खताका काम क्या होगा? रहनेको एक गन्दी कोठरी या झोंपड़ा और अध-पेट भोजन पानेके लिए यूरोपके हर दस पीछे एक आदमीको अपना शरीर बेचना पड़े, और स्त्री अपनेको दासी समझे, महज इसलिए कि लाखों स्त्रियां रोज सवेरे यह क्रिया करती रहें।

पर बाल संवारनेवालोंके लिए बालोंको ब्रश करके रेशम-जैसे चमकदार या ऊन-जैसे मुलायम बनानेके लिए मशीनें निकल चुकी हैं। जब सिरका सिंगार मशीनके मत्थे मढ़ा गया तब पांवकी सेवा भी उसीको क्यों न सौंपी जाती? अतः इसकी भी कल निकल आयी और आज-कल जूतेपर पालिश करनेकी मशीनें अमेरिका और यूरोपके बड़े-बड़े होटलोंमें सब जगह काममें आ रही हैं। होटलोंके बाहर भी इनका उपयोग बढ़ रहा है। इंगलैंडके बड़े-बड़े स्कूलोंमें, जहां विद्यार्थी अध्यापकोंके घरपर रहते हैं, एक मशीन रख लेना काफी होता है। वह रोज सवेरे एक हजार जोड़े जूतोंको ब्रश कर देती है।

और बर्तन मांजनेकी बात? भला ऐसी कौन स्त्री है जो इस लंबे और मैले कामसे घबराती न हो? यह काम प्रायः हाथसे ही किया जाता है और केवल इसलिए कि घरकी लौंडीके श्रमका कोई मूल्य नहीं।

अमेरिकामें इसका अच्छा उपाय निकल आया है। वहां अब ऐसे बहुतसे शहर हैं जहां घरोंमें गरम पानी उसी तरह पहुँचाया जाता है जैसे यूरोपमें ठंडा पानी। इससे मसला आसान हो गया और एक महिला श्रीमती कोचरेनने उसे हल कर लिया। उनकी मशीन तीन मिनटसे भी कममें बारह दर्जन तश्तरियां धो देती और सुखा डालती है। इलिनवायका एक कारखाना इन मशीनोंको इतनी सस्ती बेचता है कि मध्यमवर्गके लोग आसानीसे खरीद सकते हैं। छोटे-छोटे कुनबोंको तो चाहिए कि वे जूतोंकी तरह अपने बर्तन भी किसी ऐसे कारखानेमें भेज दें। यह भी संभव है कि जूतोंपर ब्रुश करना और बर्तन मांजना दोनों काम एक ही कार्यालय करने लगे।

बर्तन मांजना और कपड़े धोना, जिसमें हाथकी खाल घिस जाती है, झाड़ू देना और दरी-कालीनपर ब्रश करना, जिससे धूल उड़-उड़कर ऐसी जगह जम जाती है जहांसे उसे हटाना कठिन होता है—यह सारा काम आज भी इसीलिए हो रहा है कि स्त्री अब भी दासी ही है। पर यह मिटता भी जा रहा है, क्योंकि मशीनसे यह काम कहीं अच्छा हो सकता है। कुछ दिनोंमें सब तरहकी मशीनें घरोंमें पहुँच जायंगी और घर-घर

चालक-शक्ति पहुँचा दी जानेपर लोग बिना हाथ-पांव हिलाये ही उनसे काम ले सकेंगे।

इन मशीनोंके बनानेमें खर्च भी थोड़ा ही पड़ता है। वे जो आज भी इतनी मंहगी हैं इसका कारण यही है कि इनका इस्तेमाल अभी बढ़ा नहीं। और असल कारण तो यह है कि जो बड़े आदमी ठाट-बाटसे रहना चाहते हैं और जिन्होंने जमीन, कच्चा माल, पक्का माल बनाने, बेचने, पेटेंट कराने और उसपर लगनेवाले करोंके बारेमें सट्टे कर रखे हैं। उन्होंने हर एक मशीन पर बहुत भारी कर लाद दिया है।

पर घरेलू कामसे छुटकारा केवल छोटी-छोटी मशीनोंसे नहीं होगा। कुटुंब अब अलग-अलग रहनेकी अवस्थासे ऊपर उठ रहे हैं और जो काम वे अकेले करते थे उसे अब दूसरे परिवारोंके साथ मिलकर करने लगे हैं।

वास्तवमें भविष्यमें जूतोंपर ब्रश करनेकी एक मशीन, बर्तन साफ करनेकी दूसरी मशीन, कपड़े धोनेकी तीसरी मशीन, इस तरह कई मशीनें हर घरमें न रखनी पड़ेंगी। बल्कि यह होगा कि शहर या जिले भरके सारे मकानोंमें, गरमी पहुँचानेवाला एक ही ताप-यंत्र लगा दिया जायगा, जिससे हर कमरेमें गरमी पहुच जाय और आग जलानेका झंझट न करना पड़े। अमेरिकाके कुछ शहरोंमें ऐसा हो भी गया है। नगरके मध्यभागमें एक बड़ासा भट्ठा या ताप-गृह बन जाता है और वह नलोंके जरिये शहरके सारे घरों और कमरोंमें गरमी पहुँचा देता है। कमरेकी गरमी घटाने-बढ़ानेके लिए आपको केवल टोंटी घुमा देनी पड़ेगी। और अगर आपको किसी खास कमरेमें खूब तेज आगकी जरूरत हो तो केंद्रीय भंडारसे गरम करनेके लिए जो गैस मिलती है उसको जला सकते हैं। आग जलाने और धूम-मार्गों (चिमनियों) को साफ रखनेका भारी काम—जिसमें कितना समय लग जाता है, यह स्त्रियां ही जानती हैं—अब खत्म होता जा रहा है।

दियो, लैंपों और गैस-बत्तियोंके दिन भी अब बीत गये। अब तो सारे शहरमें प्रकाश करनेके लिए एक बटन दबा देना ही काफी होता है। बिजलीकी रोशनीका सुख आपको मिलनेके लिए वास्तवमें केवल

शक्तिकी मितव्ययिता और ज्ञानकी आवश्यकता है। अमेरिकामें तो लोग ऐसे संघ बनानेकी बात सोचने लगे हैं जिनसे घरेलू काम खत्म ही हो जाय। इस व्यवस्थामें घरोंके प्रत्येक समूहके लिए एक-एक विभाग बना देना होगा। एक गाड़ी होगी, जो हर मकानपर जायगी और वहासे पॉलिश करनेके जूते, साफ किये जानेवाले बर्तन, धुलाईके कपड़े, मरम्मतकी छोटी-मोटी चीजें और पोंछे जानेवाले दरी-कालीन ले जायगी। दूसरे दिन सवेरे सारी चीजें साफ होकर आ जायंगी। कुछ ही घंटे बाद गरम चाय और दूध आपकी मेजपर पहुंच जायगा। अमेरिका और इंगलैंडमें बारहसे दो बजेतक लगभग चार करोड़ आदमी दोपहरका खाना खाते हैं। उसमें कुल मिलाकर दस-बारह तरहकी ही चीजें होती हैं। पर उन्हे पकानेके लिए कम-से-कम ८० लाख स्त्रियोंका अलग-अलग चूल्हा जलाना और अपना कई घंटेका वक्त लगा देना पड़ता है।

एक अमेरिकन स्त्री ने हालमें ही लिखा था कि जहां केवल एक चूल्हा काफी हो सकता है वहा आज पचास चूल्हे जलते हैं। आपकी इच्छा हो तो आप अपने ही घर, अपनी ही मेज या चौकीपर, अपने बाल-बच्चोंके साथ भोजन कर सकते हैं, पर इतना जरूर सोच ले कि सिर्फ कुछ प्याले चाय और रोटी-तरकारी पकानेके लिए क्यों पचास स्त्रियां सुबहका अपना सारा समय नष्ट कर दें। जब ये सब चीजें एक ही चूल्हेपर दो आदमी पका सकते हैं तब पचास चूल्हे क्यों जलाये जायं? आप अपनी पसंदकी चीजें खाइये और तरकारीमें जितना मिर्च-मसाला चाहिए डाल लीजिए। पर रसोईघर एक और चूल्हा भी एक ही रखिए। उसका प्रबंध जितना अच्छा आप कर सकते हों, कीजिए।

स्त्रीके कामका भी कुछ मूल्य क्यों नहीं समझा जाता? प्रत्येक परिवारके रसोई-संबंधी काममें गृहस्वामिनी और नौकरानियां अपना इतना समय लगाने को क्यों मजबूर की जाती हैं? इसीलिए कि जो लोग मनुष्य-जातिका उद्धार करना चाहते हैं उन्होंने अपने उस स्वप्नमें स्त्री को शामिल नहीं किया है। उन्होंने 'रसोईका प्रबंध, स्त्रीपर ही छोड़ रखा है, उसपर विचार करना वे अपनी 'मर्दानगीकी शान' के खिलाफ समझते हैं।

स्त्रियोंके लिए विद्यालयों, अदालतों और व्यवस्थापिका सभाओंके दरवाजे खुल जाना ही नारी-जातिका उद्धार नहीं है, क्योंकि 'मुक्त' स्त्री घर-गिरस्तीके काम सदा किसी दूसरी स्त्रीपर डाल देगी। नारीकी मुक्तिका अर्थ है, उसको रसोईघर और धुलाई-घरके पशु बना देनेवाले श्रमसे मुक्त करना। उसका अर्थ है, गृह-कार्यका ऐसा प्रबंध कर देना जिससे चाहे तो वह अपने बच्चोंका स्वयं पालन-पोषण करे और सामाजिक जीवनमें योग देनेके लिए उसके पास यथेष्ट अवकाश भी बच रहे।

ऐसा होगा भी। जैसा कि हम कह चुके हैं, प्रगति तो हो ही रही है। केवल हमें इस बातको अच्छी तरह समझ लेना है कि स्वतंत्रता, समानता, एकता आदि सुंदर शब्दोंकी मस्तीसे भरी हुई क्रांति कभी सच्ची क्रांति नहीं हो सकती, अगर वह घरोंकी गुलामीको बनाये रखेगी। फिर चूल्हेकी गुलामी में बंधी हुई आधी मानव-जातिको शेष आधी जातिके विरुद्ध विद्रोह करना पड़ेगा।

## : ११ :

# आपसी समझौता

## १

हमने परंपरासे कुछ ऐसी धारणाएं बना ली हैं और सब जगह सरकार, कानून-कायदे और मजिस्ट्रेटों आदिके उपकारोंके विषयमें ऐसी गलत शिक्षा पायी है कि हम यह विश्वास करने लगे हैं कि जिस दिन पुलिस रक्षा करना छोड़ देगी उसी दिन एक आदमी दूसरेको जंगली जानवरकी तरह चीर-फाड़ डालेगा और यदि क्रांतिके समय राजशक्ति उलट दी गई तो घोर अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। परंतु मनुष्योंके ऐसे हजारों समुदाय हैं जो स्वेच्छासे कानूनके किसी प्रकारके हस्तक्षेपके बिना संगठित हुए हैं। और वे जो फल प्राप्त करते हैं वे सरकारी संरक्षणमें प्राप्त होनेवाले फलोंसे हजार गुना अच्छे होते हैं, पर हम उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते।

आप किसी दैनिक समाचारपत्रको खोलकर देखिए, उसके पन्ने आपको सरकारी काम-काज या राजनैतिक चालबाजियोंकी बातोंसे ही भरे हुए मिलेंगे। उसे पढ़कर दूसरी दुनियाका कोई आदमी तो यही समझेगा कि शेयर-बाजारके काम-काजके सिवाय यूरोपमें एक पत्ता भी किसी मालिकके हुक्मके बिना नहीं हिलता। उस पत्रमें आपको उन संस्थाओंके विषयमें कुछ भी न मिलेगा जो मंत्रियोंके आदेशके बिना भी उत्पन्न होती, बढ़ती और उन्नति करती हैं। सचमुच आपको एक अक्षर भी न मिलेगा! किसी पत्रमें 'विविध विषय' शीर्षक होता भी है तो इसीलिए कि उसमें पुलिससे संबंध रखनेवाली बातें रहती हैं। किसी पारिवारिक नाटक या विद्रोहकी चर्चा भी इसीलिए होती है कि उसमें पुलिस पहुंच गयी है।

पैंतीस करोड़ यूरोप-वासी* एक दूसरेसे प्रेम या द्वेष करते हैं, कोई-न-कोई काम करते हैं और अपनी कमाईपर जीवन-निर्वाह करते हैं; पर साहित्य, नाटक या खेलको छोड़कर समाचारपत्रोंके लिए उनका अस्तित्व ही नहीं होता, जबतक कि सरकार उनके जीवनमें किसी-न-किसी रूपमें हस्तक्षेप नहीं करती। यही हाल इतिहासका भी है। किसी राजा या पार्लिमेंटके जीवनकी छोटी-से-छोटी तफसीलें हम जानते हैं। राजनीतिज्ञोंने जो अच्छी और बुरी वक्तृताएं दी हैं वे सभी सुरक्षित हैं। एक पुराने पार्लिमेंट-सदस्यके शब्दोंमें "वे ऐसी वक्तृताएं हैं जिनका किसी भी सदस्यके मतपर कभी कुछ प्रभाव नहीं हुआ।" राजाओंकी यात्राएं राजनीतिज्ञोंका अच्छा-बुरा मिजाज, उनका हंसी-मजाक और साजिशें सब कुछ भावी पीढ़ियोंके लिए लिखकर रख दिया गया है। पर यदि हम मध्य-युगके किसी नगरका नकशा बनाना चाहें, हांस नगरों†के बीच होनेवाले विशाल व्यापारकी व्यवस्थाको समझना चाहें, या यह जानना चाहें कि रूआं नगर अपने बड़े गिरजाघरको किस प्रकार बना पाया, तो हमें अत्यंत कठिनाई होगी। यदि कोई विद्वान इन प्रश्नोंके अध्ययनपर अपना जीवन लगाये तो उसके ग्रंथ गुमनामीमें ही पड़े रह जाते हैं और पार्लिमेंटोंके इतिहास, जो समाजके जोवनके एक ही पहलूको अपना विषय बनानेके कारण एकांगी होते हैं, बढ़ते जाते हैं। उनका प्रचार किया जाता है, वे स्कूलोंमें पढ़ाए जाते हैं।

इस प्रकार हमें उस विशाल कार्यकी कल्पनातक नहीं हो पाती जो स्वेच्छासे काम करनेवालोंके संघों द्वारा रोज हो रहा है और जो हमारी शताब्दीका मुख्य कार्य है।

हम इनमेंसे कुछ मुख्य-मुख्यके उदाहरण यहां देंगे और दिखायेंगे कि जब मनुष्योंके स्वार्थ बिलकुल परस्पर-विरोधी नहीं होते तब वे किस

*पुस्तकके आंकड़े उसके रचना-काल या उससे थोड़ा पहलेके हैं, वर्तमान समयके नहीं।

†मध्ययुगके स्वाधीन जर्मन नगर। इनका व्यापारिक संघ बड़ा प्रभावशाली था।

तरह मिल जुलकर काम करते हैं और बड़े-बड़े पेचीदा ढगके सम्मिलित कार्य कर डालते हैं।

वर्तमान समाजका आधार व्यक्तिगत सपत्ति, या यों कहिए कि लूट और सकुचित एवम् मूर्खतापूर्ण व्यक्तिवाद है। ऐसे समाजमे इस प्रकारके उदाहरण थोड़े ही हो सकते हैं। परस्परके समझौते सदा पूर्ण स्वेच्छा से ही नही होते और उनका उद्देश्य यदि अति घृणित नहीं तो प्राय क्षुद्र तो होता ही है।

हमे ऐसे उदाहरण नहीं देना है जिनपर लोग आँख मूदकर चल सकें और वे आजके समाजमें मिल भीं नही सकते। हमे तो यह दिखाना है कि यद्यपि सत्तावादी व्यक्तिवाद हमारा गला घोट रहा है, फिर भी समष्टि-रूपसे हमारे जीवनका एक बहुत बडा भाग ऐसा है जिसमें हम आपसी समझौतेसे ही व्यवहार करते हैं और इस कारण राज्यके बिना काम चलाना जितना कठिन समझा जाता है वह उतना कठिन नही है बल्कि बहुत सरल है।

हम अपने मतके समर्थनमे पहले रेलवेका उल्लेख कर चुके हैं, अब फिर उसी विषय पर कुछ और कहते हैं।

यूरोपमे रेलवे लाइनो का सगठन १,७५,००० मीलसे भी अधिक लबा है। रेलवेके इस जाल पर कोई भी व्यक्ति उत्तरसे दक्षिण, पूर्वसे पश्चिम, माड्रिडसे पीटर्सबर्ग और कैलेसे कुस्तुन्तुनियातक, बिना विलब-के और ( यदि एक्सप्रेस गाड़ी से जाय तो ) बिना डिब्बा बदले भी यात्रा कर सकता है। इससे भी अधिक विस्मयकी बात यह है कि किसी स्टेशन-से भेजा हुआ पार्सल, केवल उसपर पानेवालेका नाम-पता भर लिख देने-से, तुर्की या मध्य एशियाके किसी भी स्थानमें पानेवालेको मिल जायगा।

यही काम दो तरहसे हो सकता था। कोई नेपोलियन या बिस्मार्क या और कोई सत्ताधारी यूरोपको विजय करके पेरिस, बर्लिन या रोमसे रेल-लाइनका एक नकशा बनाता और रेलगाड़ियोंके आने-जानेके समयका निर्यत्रण करता। रूसके ज़ार निकोलस प्रथमने अपनी शक्तिसे यही काम करनेका स्वप्न देखा था। जब उसको मास्को और पीटर्स-

बगके बीच बननेवाली रेलके कच्चे नकशे दिखाये गये तो उसने एक रूलर उठाया और रूसके नकशेपर एक सीधी लकीर खींचकर कहा—'पक्का नकशा यह है ।' तदनुसार रेल-लाइन बिलकुल सीधी बनाई गयी, जिसमें गहरे-गहरे नाले और खड्ड पाटने पड़े, ऊंचे-ऊंचे पुल बनाने पड़े और अंतमें फी मील १,२०,००० से लेकर १,५०,००० पौंडतक खर्च उठाकर वह काम छोड़ देना पड़ा ।

यह तो एक रास्ता था । पर प्रसन्नता की बात है कि यह काम दूसरे तरीकेसे किया गया । छोटी-छोटी रेल-लाइनें बनीं, वे सब एक-दूसरेसे जोड़ दी गयीं और इन रेलवे लाइनोंकी मालिक सैकड़ों विभिन्न कम्पनियोंने धीरे-धीरे आपसमें गाड़ियोंके आने-जानेके समय और एक दूसरेकी लाइनपरसे सब देशोंकी गाड़ियोंको गुजरने देनेके बारेमें समझौते कर लिये ।

यह काम आपसी समझौतेसे हुआ, आपसमें पत्र और प्रस्ताव भेजनेसे हुआ और ऐसे सम्मेलनोंके द्वारा हुआ जिसमें प्रतिनिधिगण कुछ विशेष बातोंपर, जो पहलेसे ही तै कर दी गयी थीं, बहस और समझौता करनेके लिए गये थे, कानून बनाने नहीं गये थे। सम्मेलन समाप्त होने पर प्रतिनिधि वहांसे अपनी-अपनी कम्पनियोंके लिए कोई कानून ले कर वापस नहीं गये, बल्कि आपसी मुआहिदेका एक मस्विदा लेकर गये, जिसको मंजूर या नामंजूर करना उनकी मर्जीपर था ।

इस रास्तेमें कठिनाइयां अवश्य आयीं । बहुतसे ऐसे हठी आदमी भी थे जिन्हें समझाना कठिन था । पर सबका स्वार्थ एक होनेसे अंतमें उन्हें समझौता करना ही पड़ा । दुराग्रहियोंको दबानेके लिए फौज नहीं बुलानी पड़ी ।

परस्पर-संबद्ध रेलोंका यह विशाल जाल, उससे होनेवाला जबर्दस्त व्यापार और आवागमन निस्संदेह उन्नीसवीं सदीकी सबसे बड़ी विशेषता है । और यह सब आपसी समझौतेका ही फल है । इसी बातको अस्सी वर्ष पहले कोई भविष्यद्वक्ता कह देता तो हमारे पुरखे उसे मूर्ख या पागल बताते । उन्होंने कहा होता—"सैकड़ों कम्पनियोंके हिस्सेदारोंको तुम इस

बातपर कभी राजी नहीं कर सकते। यह तो केवल स्वप्न है, या नानीकी कहानी है। एक केन्द्रीय सरकार और उसका 'फौलादी' अधिनायक ही अपने नादिरशाही हुक्मसे ऐसा करा सकता है।"

इस संगठनमें सबसे मजेदार बात यह है कि यूरोपभरकी रेलोंकी कोई 'केन्द्रीय सरकार' नहीं है! कुछ भी तो नहीं—कोई रेलवे-मन्त्री नहीं, कोई 'डिक्टेटर' या अधिनायक नहीं, महाद्वीप भरकी कोई पार्लमेंट नहीं, एक संचालन समितितक तो नहीं! सब कुछ आपसके समझौतेसे ही हो रहा है।

राज-शक्तिमें विश्वास रखनेवाले लोग कहते हैं कि "एक केन्द्रीय सरकारके बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता, चाहे हमें सड़कपर आवागमनका नियन्त्रण ही क्यों न करना हो।" पर हम उनसे पूछते हैं—"यूरोपकी रेलें बिना सरकारोंके कैसे काम चला लेती हैं? वे किस प्रकार लाखों मुसाफिर और माल-असबाबके पहाड़ महाद्वीपके आर-पार ले जाया करती हैं? रेल-लाइनोंकी मालिक-कम्पनियां जब आपसमें समझौता कर सकीं तो इन्हीं रेलोंपर कब्जा करनेवाले रेलवे मजदूर भी उसी तरह समझौता क्यों न कर सकेंगे? यदि पीटर्सबर्ग-वारसा कम्पनी और पेरिस-बेलफोर्ट कंपनी आपसमें मिलकर काम कर सकती हैं और उन्हें अपने सिरपर किसी 'शामिल कमांडर' का फालतू बोझ लादनेकी जरूरत नहीं होती, तो स्वतंत्र श्रमिकोंके समुदायोंसे बने हुए समाजमें हमें सरकारकी आवश्यकता क्यों होगी?"

## २

हम उदाहरणोंसे इस बातको सिद्ध करनेकी कोशिश करते हैं कि आज भी, जब समाजका संगठन समष्टि-रूपसे अन्यायमूलक है, यदि लोगोंके स्वार्थ बिलकुल ही परस्पर-विरोधी नहीं होते तो वे राज्यके हस्तक्षेपके बिना ही आपसमें समझौता कर लेते हैं। पर ऐसा करते हुए हम उन आपत्तियोंकी उपेक्षा नहीं करते जो इसके विरुद्ध उपस्थित की जा सकती हैं।

ऐसे सब उदाहरणोंमें दोष-पक्ष भी रहता ही है, क्योंकि ऐसा तो एक भी संगठन बता सकना असंभव है जिसमें सबल द्वारा निर्बलका, धनिक द्वारा निर्धनका शोषण न होता हो। इसी कारण राज्यवादी अपनी यह दलील दुहराये बिना न रहेंगे कि "देख लिया आपने, इस शोषणका अंत करनेके लिए राज्यका हस्तक्षेप कितना आवश्यक है ?"

पर वे इतिहासकी शिक्षाको भूल जाते हैं। वे यह नहीं बतलाते कि 'सर्वहारा' या अकिंचनवर्गकी सृष्टि कर और उसे शोषकोंके हाथ सौंपकर राज्यने वर्तमान अवस्था उत्पन्न करनेमे खुद कितना भाग लिया है। उन्हें इस बातको साबित करनेकी याद नही रहती कि शोषणके मूल कारण—निजी पूंजी और कंगालीके, जिनका दो-तिहाई खुद राज्यका पैदा किया हुआ है, मौजूद रहते हुए भी शोषण बंद हो सकता है।

जब हम रेलवे कंपनियोंके आपसके मेलका जिक्र करते हैं तो हम मध्यमवर्गकी सरकारके भक्तोंसे यह जवाब पानेके लिए तैयार रहते हैं कि "तुम नहीं देखते कि रेलवे कंपनियां अपने नौकरों और मुसाफिरोंके साथ कितना बुरा बर्ताव करती है ? और इसका एकमात्र उपाय यही है कि श्रमिकों और जनताकी रक्षाके लिए राज्य हस्तक्षेप करे।"

पर हमने तो इस बातको बार-बार कहा और दुहराया है कि जब तक पूंजीपति हैं तबतक शक्तिका दुरुपयोग होता ही रहेगा। जिस राज्यके विषयमें कहा जाता है कि वह आगे चलकर हमारा बड़ा उपकार करेगा उसीने तो उन कंपनियोंको हमारे ऊपर वह इजारा और वे विशेषाधिकार दिये थे जो आज उन्हें प्राप्त हैं ? क्या राज्यने इन्हीं रेलोंके ठेके और गारंटिया नहीं दीं। ? क्या उसने हड़ताल करनेवाले रेलवे मजदूरोंको दबानेके लिए अपने सिपाही नहीं भेजे ? पहली आजमाइशोंमें तो उसने रेलवेके पूंजीपतियोंके विशेषाधिकारोंको इतना बढ़ा दिया था कि अखबारोंको रेलवे दुर्घटनाओंके समाचार छापनेतककी मनाही करदी जिसमें उसके हिस्सोंके दाम, जिसकी गारंटी राज्यने दे रखी है, कम न हो जायं। जिस एकाधिकारसे रेलवे कंपनियोंके कुछ संचालक 'अपने समयके बादशाह' बने हुए हैं वह क्या राज्यके अनुग्रहसे ही नहीं मिला है ?

इसलिए अगर हम मिसालके तौरपर रेलवे कंपनियोंके अप्रत्यक्ष समझौतेका जिक्र करते हैं तो यह न समझ लेना चाहिए कि यह आर्थिक प्रबंध या औद्योगिक संगठनका भी आदर्श है। वह तो यह दिखानेके लिए है कि दूसरोंको मूंडकर अपने हिस्सोंका मुनाफा बढ़ानेका ही उद्देश्य रखनेवाले पूंजीपति जब बड़ी सफलताके साथ और बिना कोई अंतर्राष्ट्रीय महकमा कायम किये रेलोंका उपयोग कर सकते हैं, तो श्रमिकोंके संघ भी उतनी ही या उससे अधिक अच्छी तरह, यूरोप भरकी रेलोंके लिए किसी मंत्रिमंडलकी नियुक्ति हुए बिना उनका संचालन कर सकेंगे।

एक आपत्ति और भी उपस्थित की जाती है और सरसरी निगाहमें वह कुछ ज्यादा वजनदार भी लगती है। कहा जा सकता है कि जिस समझौतेका हम जिक्र करते हैं वह सोलहों आने स्वेच्छासे नहीं हुआ है, छोटी कंपनियोंको बड़ी कंपनियोंका बनाया हुआ कानून मानना पड़ता है। मिसालके तौरपर यह कहा जा सकता है कि राज्यसे सहायता पानेवाली एक मालदार जर्मन कंपनी अपने मुसाफिरोंको, जो बर्लिनसे बाल जाना चाहते हैं, लाइपत्सिगके रास्ते न जाने देकर, कोलोन और फ्रांकफोर्टके मार्गसे जानेको लाचार करती है। या यह कहा जा सकता है कि वह कंपनी अपने प्रभावशाली हिस्सेदारोंके लाभ और छोटी कंपनियोंका सर्वनाश करनेके लिए मालको एक सौ तीस मीलका व्यर्थ चक्कर दिलाती है। संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका)में वहांके धनकुबेरोंकी जेबें भरनेके लिए बहुधा मुसाफिरों और मालको बहुत ही लंबे चक्कर देकर जाना पड़ता है।

हमारा उत्तर यहां भी वही है—जबतक व्यक्तिगत पूंजी रहेगी तबतक बड़ी पूंजी छोटी पूंजीका दलन करती ही रहेगी। पर दलन केवल पूंजीसे ही पैदा नहीं होता। जो सहायता राज्यसे उनको मिलती है, जो इजारे राज्यने उनके हकमें कायम कर दिये हैं, उनके कारण भी बड़ी कंपनियां छोटी कंपनियोंपर अन्याय करती हैं।

आजसे बहुत पहले इंगलैंड और फ्रांसके समाजवादी यह दिखा चुके हैं

कि इंग्लैंडके कानूनोंने छोटे-छोटे धंधोंका नाश करने, किसानोंको कंगाल बना देने और हजारों आदमियोंको, जो चाहे जितनी कम मजदूरीपर काम करनेको मजबूर थे, धनी व्यवसायियोंके हाथोंमें सौंप देनेके लिए अपनी शक्तिभर कुछ उठा नहीं रखा। रेलवेके कानूनने भी यही किया। सैनिक उपयोगकी लाइनें, राज्यसे सहायता पानेवाली लाइनें, अंतर्राष्ट्रीय डाकका इजारा रखनेवाली कंपनियां, इत्यादि सब बातें इसीलिए की गयीं कि बड़े-बड़े महाजनोंके स्वार्थोंकी सिद्धि हो। जब सारे यूरोपीय राज्योंको कर्ज देनेवाला कोई धन-कुबेर किसी रेल-लाइनमें पूंजी लगाता है तो उन राज्योंके मंत्री, जो उसके 'वफादार प्रजाजन' होते हैं, वही काम करेंगे जिससे उसकी कमाईमें 'बढ़ती' हो।

जिस संयुक्तराष्ट्रको सत्तावादी लोग आदर्श लोकतंत्र राज्य बताते हैं उसीमें रेलोंकी हर बातमें अत्यंत घृणित धोखेबाजी घुसी हुई है। अगर किसी एक कंपनीका किराया दूसरी कंपनीसे सस्ता है, जिससे दूसरी कंपनी मुकाबिलेमें टिक नहीं सकती, तो प्रायः इसका कारण यही है कि राज्यने उस कंपनीको जमीन मुफ्त दे दी है। हालमें अमेरिकाके गेहूंके व्यापारके संबंधमें कुछ कागजात प्रकाशित हुए थे। उनसे पूरी तरह प्रकट होता है कि सबल द्वारा निर्बलका शोषण होनेमें राज्यका कितना हाथ था। यहां भी यही देखनेमें आता है कि राज्यकी सहायतासे संचित पूंजीकी शक्ति दसगुनी और सौगुनी हो गयी। फलतः जब हम देखते हैं कि रेलवे कंपनियों के संघ ( Syndicates ), जो आपसी समझौतेके परिणाम हैं, बड़ी कंपनियोंके मुकाबिलेमें अपनी छोटी कंपनियोंकी रक्षा करनेमें सफल हुए हैं, तब हमें आपसी समझौतेकी सहज शक्तिका पता लगता है। इसके द्वारा तो राज्यकी कृपापात्र सर्वशक्तिमती पूंजीका भी मुकाबिला किया जा सकता है।

यह एक सच्ची बात है कि बड़ी कंपनियोंकी ओर राज्यका पक्षपात होते हुए भी छोटी कंपनियां जीवित हैं। फ्रांस यद्यपि केंद्रीकरणका देश है फिर भी वहां हमें पांच या छः बड़ी कंपनियां ही दिखाई देती हैं। पर ग्रेटब्रिटेनमें वे एकसौ दससे भी अधिक हैं। इनका आपसका मेल काफी

अच्छा है और माल-मुसाफिरको जल्दी पहुँचा देनेका प्रबंध भी फ्रेंच और जर्मन कम्पनियोंसे निश्चयपूर्वक अच्छा है।

फिर सवाल यह नहीं है। बड़ी पूंजी तो राज्य का अनुग्रह पाकर सदा छोटी पूंजीको कुचल सकती है, यदि ऐसा करना राज्यके लिए लाभदायक हो। पर हमारे लिए तो महत्वकी बात यह है कि जो समझौता यूरोपकी रेल-लाइनोंकी मालिक सैकड़ों कम्पनियोंके बीच हुआ वह विविध संस्थाओंके लिए कानून बनानेवाली किसी केंद्रीय सरकारके हस्तक्षेपके बिना ही हुआ। वह समझौता उन सम्मेलनोंके जरिये कायम रहा जिनमें विभिन्न रेलवे कम्पनियोंके प्रतिनिधि अपनी-अपनी कम्पनियोंके लिए कानून नहीं किन्तु प्रस्ताव तैयार करनेके लिए आते हैं और उन तजवीजोंपर बहस करके अपनी-अपनी कंपनीमें पेश करते हैं। यह तो एक नया सिद्धांत है जो सब प्रकारके राज्य-विषयक सिद्धांतों—एकतन्त्र-शासन या प्रजातंत्र-शासन, निरंकुश शासन या प्रतिनिधि-शासन—से बिल्कुल भिन्न है। यह एक नयी रीति है जो यूरोपकी परंपरामें चुपकेसे घुस आयी पर अब वहाँ जम गयी है।

३

राज्य-सत्ताके प्रेमी समाजवादियोंने भी बहुधा अपने लेखोंमें पूछा है—"क्यों जी, फिर आपके भावी समाजमें नहरोंसे होनेवाली आमद-रफ्तका नियंत्रण कौन करेगा? अगर आपके किसी अराजक साम्यवादी 'कामरेड' के मनमें यह बात आयी कि वह नहरके बीचमें अपना बजरा खड़ा कर दे और हजारों नावोंका आना-जाना रोक दे, तो उसे अकलके रास्तेपर कौन लायेगा?"

हमें यह कल्पना कुछ ऊटपटांगसी मालूम होती है। फिर भी यह शंका उठ सकती है कि "यदि कोई एक ग्राम-पंचायत, म्युनिसिपलिटी या इनका संघ अपने बजरोंको दूसरेसे पहले ले जाना चाहे, तो वह अपने पत्थर-लदे बजरोंसे ही नहरको रोक रखेगा और दूसरे ग्राम या नगरके लिए आवश्यक

गेहूंको रास्ता न मिलेगा। उस अवस्थामें सरकारके सिवा गमनागमनका नियंत्रण और कौन करेगा ?"

परन्तु वास्तविक जीवनके अनुभवने दिखा दिया है कि और बातोंकी तरह यहां भी सरकारकी आवश्यकता नहीं है। स्वेच्छासे किया हुआ समझौता और संगठन उस अनीतिमय और खर्चीली व्यवस्था ( राज्य ) की जगह काम करेगा और उससे अच्छा काम करेगा।

हालैंडके लिए नहरें बड़ी जरूरी चीज है। वे उसकी सड़कें हैं। जो कुछ माल-असबाब हमारी सड़कों और रेलोंसे आता जाता है वह हालैंडमें नहरोंसे नावोंपर जाता है। वहां आपको अपनी नावें दूसरोंसे पहले निकालनेके लिए लड़नेका कारण मिल सकता है। वहां गमनागमनके नियंत्रणके लिए सरकार सचमुच दखल दे सकती है।

फिर भी ऐसा होता नहीं। बहुत जमाना पहले हालैंड-वासियोंने इस बातको अधिक व्यावहारिक ढंगसे तै कर लिया। उन्होंने नाववालोंके संघ बना लिये। ये स्वेच्छासे बने हुए संघ थे और नाव चलानेकी आवश्यकतासे ही बने हुए थे। नाववालोंके रजिस्टरमें जिस क्रमसे नाम लिखे गये उसी क्रमसे नावोंको गुजरनेका हक होता था। वे अपनी-अपनी बारीसे एकके बाद एक जाती थीं। संघसे निकाल दिये जानेके डंडसे डरकर कोई दूसरोंसे पहले अपनी नाव लेजानेकी कोशिश न करता था। निश्चित दिनसे अधिक घाट पर कोई ठहर नहीं सकता था। किसी नाव मालिकको उतने समयमें ले जाने के लिए कोई माल न मिलता तो उसे अपनी खाली ही नाव लेकर नये आने वालोंके लिए जगह खाली कर देनी पड़ती। इसी प्रकार रास्ता रुक जानेकी कठिनाई दूर हो गयी, यद्यपि नावोंके मालिकोंकी प्रतिस्पर्धा बनी रही। यह प्रतियोगिता न होती तो उनका समझौता और भी मित्रतापूर्ण होता।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जहाज-मालिकोंका उस संघमें शामिल होना या न होना उनकी इच्छापर था। पर उनमेंसे अधिकांशने उसमें सम्मिलित होना ही पसंद किया। इसके अतिरिक्त इन संघोंसे इतने अधिक लाभ थे कि ये राइन, वेजर और ओडर नदियोंपर और बर्लिन

तक फैल गये थे। ये नाववाले इस इंतजारमें बैठे नहीं रहे कि कोई बिस्मार्क आये, हालैंडको जीतकर जर्मनीमें मिलाले और वह अपनी व्यवस्था से 'सुप्रीम हेड कौंसिलर ऑव दि जनरल स्टेट्स केनाल नेविगेशन" ( राजकीय नहरोंका प्रधान अधिकारी ) नामक किसी पदाधिकारीको नियुक्त करे, जिसकी आस्तीनोंपर उतनी ही सुनहरी धारियां हों जितनी लंबी उसकी उपाधि हो। उन सबोंने एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता कर लेना पसंद किया। इसके सिवाय जिन जहाज-मालिकोंके जहाज जर्मनी और स्कैंडिनेविया तथा रूसके बीच चलते थे वे भी बाल्टिक सागरके गमना-गमनको व्यवस्थित करने और जहाजोंके पारस्परिक व्यवहारमें कुछ अधिक सामजस्य पैदा करनेकी गरजसे इन्हींके संघोंमें सम्मिलित हो गये। ये संघ स्वेच्छासे बने और इनमें सम्मिलित होनेवाले अपनी मर्जीसे ही शामिल हुए हैं। सरकारोंसे इनकी कुछ भी समानता नहीं है।

फिर भी बहुत संभव है कि यहां भी बड़ी पूंजी छोटी पूंजीको दबाती हो। संभव है इस संघमें भी एकाधिपत्यकी प्रवृत्ति मौजूद हो, खासकर उस अवस्थामें जब उसे राज्यकी ओरसे खास संरक्षण मिलता हो। राज्यने तो यहां भी अपनी टांग अड़ा ही दी। हमें यह न भूलना चाहिए कि ये संघ ऐसे लोगोंके प्रतिनिधि हैं जिन्हें अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी ही रक्षा करनी होती है; यदि उत्पत्ति, उपभोग और विनिमयका समाजीकरण हो जानेसे ये जहाज-मालिक समाजवादी प्रादेशिक सरकारोंके किसी संघसे, या अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अन्य बीसियों संस्थाओंसे संबद्ध होते, तो अवस्था दूसरी ही होती। जहाज-मालिकोंका संघ समुद्र-पर शक्तिशाली होते हुए भी स्थलपर कमजोर होगा और रेलों, कारखानों और दूसरे संघोंके साथ समझौता करनेके लिए उसे अपने दावे घटा देने होंगे।

जो हो, भविष्यमें क्या होगा, इसपर बहस न करके हम एक और स्वेच्छासे बनी संस्थाका जिक्र किये देते हैं जो सरकारके बिना चलती है।

जब जहाजों और नावोंकी चर्चा चल रही है तो हम एक ऐसी संस्थाका वर्णन क्यों न कर दें जो उन्नीसवीं सदीकी उत्कृष्टतम संस्थाओंमें है और जिसपर हम सचमुच गर्व कर सकते हैं। वह है 'इंगलिश लाइफ-बोट एसोसिएशन।'

यह तो सबको मालूम है कि हर साल एक हजारसे भी अधिक जहाज इंगलैंडके समुद्र-तटपर नष्ट होते हैं। गहरे समुद्रमें तो अच्छे जहाजके लिए तूफानका भय कम ही होता है, किनारेके पास ही खतरा अधिक रहता है। कभी क्षुब्ध समुद्र जहाजके पिछले भागको तोड़ देता है; कभी अचानक हवाका तेज झोंका आ जाता है और जहाजके मस्तूल और बादबान उड़ा ले जाता है; कहीं ऐसी प्रखर जल-धारा होती हैं जिनमें जहाज बे-काबू हो जाता है; कहीं पानीमें चट्टानोंका सिलसिला या रेता होता है, जिसपर जहाज फंस जाता है।

प्राचीन कालमें भी समुद्र-तटके रहनेवाले इसलिए आग जलाया करते थे कि उसे देख जहाज वहां आ जायं और पानीके अंदरकी चट्टानों पर चढ़ जायं और फिर वे उन्हें लूटलें। पर उस समय भी वे नाविकोंकी जान बचानेका सदा प्रयत्न करते थे। वे किसी जहाजको मुसीबतमें पड़ा देखते तो तुरंत अपनी नावें डाल देते और भग्न-पोतके नाविकोंकी सहायताके लिए पहुंच जाते थे। अक्सर खुद उन्हें भी जल-समाधि मिल जाती थी। समुद्र-तटकी हर एक कुटियाकी वीरताकी कहानियां हैं, जिनमें पुरुषों और स्त्रियोंने विपद्ग्रस्त मल्लाहोंकी जान बचानेमें अपनी जान जोखिममें डाली थी।

निस्संदेह राज्य और विज्ञानवेत्ताओंने जहाजी दुर्घटनाओंकी संख्या घटानेमें थोड़ी-बहुत सहायता पहुंचायी है। सिग्नलों, दीप-स्तंभों, नक्शों और वायुमंडल तथा मौसिम संबंधी सूचनाओंने उन्हें बहुत कम कर दिया है। फिर भी हरसाल हजारों जहाजों और कई हजार आदमियोंकी बलि तो चढ़ ही जाती है।

इस कार्यके लिए कुछ सत्पुरुष आगे बढ़े। वे खुद अच्छे नाविक और जहाजरान थे। इसलिए उन्होंने ऐसी रक्षा-नौका

( लाइफ बोट ) का आविष्कार किया जो तूफानमें भी न टूटे, न उलटे। वे अपने कार्यमें जनताकी दिलचस्पी बढ़ाने और वैसी नौकाएं बनाने तथा उन्हें तटपर जहां आवश्यक हो वहां रखनेके लिए धन-संग्रह करनेके काममें लग गये।

वे लोग चरमपंथी राजनीतिज्ञ तो थे नहीं जो सरकारका मुंह ताकते। उन्होंने सोचा कि इस उद्योगकी सफलताके लिए स्थानीय नाविकोंके सहयोग, उत्साह, खास कर उनके स्थानिक ज्ञान और आत्मत्याग-भावकी आवश्यकता है। उन्होंने यह भी सोचा कि जो लोग संकटकी सूचना मिलते ही रातमें अपनी नाव क्षुब्ध समुद्रमें डाल देंगे, अंधकार या ऊंची लहर देखकर हिचकेंगे नहीं और विपदग्रस्त जहाजतक पहुँचनेके लिए पांच, छः या दस घंटेतकका भी प्रयास करते रहेंगे—जो दूसरोंकी जान बचानेके लिए अपनी जान खतरेमें डालनेको तैयार होंगे—ऐसे आदमियोंको प्राप्त करनेके लिए एकता और आत्मत्यागकी भावना होनी चाहिए, जो दिखाऊ बल्लोंसे खरीदी नहीं जा सकती। इसलिए रक्षा-नौकाओंका यह आंदोलन पूर्णतः स्वेच्छाप्रसूत था और वैयक्तिक प्रेरणा तथा समझौतेसे ही उत्पन्न हुआ था। समुद्रके किनारे सैकड़ों स्थानीय संघ बन गये। संघकी नींव डालनेवालोंमें इतनी समझ थी कि वे मालिक बनकर नहीं रहे। उन्हें विश्वास था कि मछुओंकी कुटियोंमें भी समझदारी मिल सकती है। जब कभी कोई धनिक किसी गावके किनारे रक्षा-नौकाका स्टेशन बनानेके लिए १००० पौंड भेज देता था और वह स्वीकार कर लिया जाता था, तो दाता स्थान पसंद करनेका काम स्थानीय मछुओं और नाविकोंपर ही छोड़ देता था।

नयी नावोंके नमूने जलसेना-विभागमें पेश नहीं किये गये। लाइफ-बोट ऐसोसिएशनकी रिपोर्टमें लिखा है—"चूंकि रक्षा-नौका चलानेवालोंको अपनी नावपर पूरा भरोसा होना आवश्यक है, इसलिए कमेटी इस बातका खास तौरसे ध्यान रखेगी कि नौकाएं उन्हीं चलानेवालोंकी प्रकाशित इच्छाके अनुसार ही बनें और उनके बताये हुए साधनोंसे युक्त हों।" इसका फल यह है कि हर साल उनमें नये-नये सुधार होते

रहते हैं। कमेटियां और स्थानीय संघ बनाकर स्वयंसेवक ही सब काम चलाते है। सारा काम आपसके सहयोग और समझौतेसे होता है। यह है अराजकोंकी कार्यावली! इसके सिवाय करदाताओंसे वे एक कौड़ी नहीं मांगते, पर सालमें ४७,००० पौंडतक उन्हे चदेसे मिल जाता है।

यदि पूछा जाय कि काम कितना हुआ तो उसका जवाब यह है—सन् १८९१ में एसोसिएशनके पास २९३ रक्षा-नौकाएं थीं। उस वर्ष उसने डूबे हुए जहाजोंके ६० नाविकों और ३३ छोटे-बड़े जहाजोंको बचाया। जबसे संस्थाका जन्म हुआ तबसे उसने ३२,६७१ आदमियोंकी जान बचायी है।

१८८६ में तीन रक्षा-नौकाएं और उनमें सवार आदमी समुद्रमें डूब गये। तब सैकड़ों नये स्वयं-सेवकोंने अपने-अपने नाम लिखाये और अपने स्थानीय संघ बना लिये। उस समयके आंदोलनका फल यह हुआ कि बीस नयी रक्षा-नौकाएं बन गयीं। इस बीच हमें यह भी जान लेना चाहिए कि यह एसोसिएशन हर साल मछुओं और नाविकोंको अच्छे-अच्छे बैरोमीटर (वायुभार-सूचक यंत्र) बाजारसे तिहाई मूल्यपर भेजता है। यह वायुमंडल-विज्ञानका प्रचार करता है और वैज्ञानिकोंके बताये हुए मौसिमके आकस्मिक परिवर्तनोंकी पूर्व-सूचना लोगोंको देता है।

हम फिर बता देते हैं कि कोई लाट-पादरी इन सैकड़ों कमेटियों और स्थानीय संघोंको बनाने नहीं गया था। उनमें केवल स्वयं-सेवक रक्षा-नौकाएं चलानेवाले और इस कार्यमें रुचि रखनेवाले लोग ही हैं। केंद्रीय कमेटी केवल पत्र-व्यवहारका केंद्र है; वह किसी बातमें दखल नहीं देती।

यह सच है कि जब किसी जिलेमें शिक्षा या स्थानीय कर लगानेके किसी प्रश्नपर वोट लिये जाते हैं तो वहांकी इंग्लिश लाइफ बोट एसोसिएशनकी कमेटियां, अपनी उस हैसियतसे, उन विवादोंमें कोई भाग नहीं लेतीं। खेद है कि निर्वाचित संस्थाओंके सदस्य इस नम्रताका अनुकरण नहीं करते! पर साथ ही ये वीर पुरुष समुद्रमें आदमियोंकी जान बचानेके बारेमें उन लोगोंको कोई कानून नहीं बनाने देते जिन्होंने कभी

तूफानका सामना नहीं किया। खतरेकी पहली सूचनापर ही वे अपनी नावें लेकर दौड़ पड़ते हैं। उनके पास सुनहरे कामकी वर्दियां नहीं हैं, पर उनमें दया और सहृदयता भरपूर है।

अब इसी प्रकारकी एक दूसरी संस्था 'रेडक्रास सोसायटी' या 'स्वस्तिक-संघ' की मिसाल लीजिए। नाम कुछ भी हो, हमें तो उसका काम देखना है।

मान लीजिए पचास साल पहले कोई आदमी कहता—"राज्य रोज बीस हजार आदमियोंका वध करने और पचास हजारको जखमी करनेकी ताकत रखता है, पर वह अपने ही हाथों घायल हुए लोगों की सहायता करनेमें असमर्थ है। इसलिए जबतक युद्धका अस्तित्व है तबतक अपनी निजकी प्रेरणासे लोग इस काममें पड़ें और दयाभाव रखनेवाले लोग इस परोपकार-कार्यके लिए अंतर्राष्टीय संघ बना लें।" जो आदमी ऐसी बात मुंहसे निकालनेका साहस करता उसका कितना मजाक उड़ाया जाता! पहले तो लोग उसे हवाई किले बनानेवाला कहते। यदि इससे चुप न होता तो उससे कहते—यह कितनी ऊटपटांग बात है! तुम्हारे स्वयंसेवक वहां तो पहुँचेंगे नहीं जहां उनकी सबसे बड़ी जरूरत होगी। तुम्हारे स्वयंसेवक अस्पताल तो किसी निरापद् स्थानमें केंद्रित होंगे और मैदानोंके चलते फिरते अस्पतालोंमें कोई सामान ही न होगा तुम्हारे जैसे स्वप्न देखनेवाले लोग यह भूल जाते हैं कि उनमें काम करने वालोंमें भी राष्ट्रगत ईर्ष्या द्वेष होगा। और वे गरीब सिपाहियोंको यों ही बिना दवा दारूके मरने देंगे।" जितने मुंह उतनी बातें कही जातीं। लोग । इस ढंगकी बातें करते किसने नहीं सुना है?

२ वास्तवमें हुआ क्या, यह हमें मालूम है। सब जगह, सब देशोंमें, हजारों स्थानोंपर लोगोंने स्वेच्छासे स्वस्तिक-संघ बना लिये। जब फ्रांस जर्मनीमें १८७०–७१ का युद्ध छिड़ा तो स्वयंसेवक कार्यमें जुट गये। स्त्री पुरुष सभी सेवाके लिए आगे आये। हजारों स्थिर और चलते फिरते अस्पतालोंका संगठन हुआ। रसद, कपड़ा और घायलोंके लिए मरहम-पट्टीका सामान ले आनेवाली ट्रेनें छोड़ी गयीं। इंगलैंडकी कमेटीने भोजन, वस्त्र और औजारोंकी भरपूर सहायता भेजी और युद्धसे उजड़े हुए

प्रदेशोंमें खेतीके लिए बीज, हल खींचनेवाले जानवर, मापके हल और उन्हें चलानेके लिए आदमीतक भेजे। गुस्ताव मोनियेलिखित La Croix Rouge'नामक पुस्तक देख लीजिए। आपको देखकर आश्चर्य होगा कि कितना भारी काम किया गया।

जो भविष्यवक्ता दूसरोंके साहस, समझदारी और बुद्धिको सदा ही अस्वीकार करते हैं और जो डंडेके जोरसे दुनियापर हुकूमत करनेकी योग्यता केवल अपनेमें ही मानते हैं, उनकी एक भी भविष्यद्वाणी पूरी न उतरी। स्वस्तिक-स्वयंसेवकोंकी लगनकी जितनी भी तारीफ की जाय, कम होगी। बड़े-से-बड़े खतरेकी जगहोंपर काम करनेको वे उत्सुक रहते थे। जब प्रुशियन सेना बढ़ने लगी तो नेपोलियनके वेतन-भोगी डाक्टर अपने कम्पौंडरों आदिके साथ भाग खड़े हुए। पर स्वस्तिक-स्वयंसेवकोंने गोलोंकी वर्षामें भी अपना काम जारी रखा। बिस्मार्क और नेपोलियनके अफसरोंकी पाशविकताको सहन करते हुए वे सब राष्ट्रोंके घायलोंकी समान भावसे सेवा करते रहे। हालैंड, इटली, स्वीडेन, बेल्जियम, और चीन-जापानके लोगोंने भी बड़ी खूबीसे मिलकर काम किया। जब जैसी आवश्यकता दिखाई देती उसके अनुसार वे अपने अस्पतालोंको विभिन्न स्थानोंमें बांट देते थे। वे अपने काममें एक दूसरेसे प्रति-स्पर्धा करते थे, खासकर अस्पतालोंकी सफाईमें। अब भी ऐसे अनेक फ्रांस वासी हैं जो स्वस्तिक अस्पतालोंके डच या जर्मन स्वयंसेवकों की स्नेह-भरी सेवाका आंतरिक कृतज्ञताके साथ बखान करते हैं। परन्तु सत्तावादीकी दृष्टिमें इस सबका मूल्य ही क्या है? उसका आदर्श तो है राज्यसे वेतन पानेवला फौजी डाक्टर। नर्सें, अगर सरकारी कर्मचारी न हुई तो वह स्वस्तिक-संघ और उसके बढ़िया अस्पतालोंको क्या समझता है?

स्वस्तिक संगठन अभी कलका बच्चा है। फिर भी इसके मेंबरोंकी संख्या लाखों है। इसके पास चलते-फिरते अस्पताल हैं, अस्पताली ट्रेनें हैं, वह घावोंके इलाजके नये-नये तरीके निकालता है। और यह है कुछ लगनवाले व्यक्तियोंके अपने आप पैदा हुए उत्साहका फल!

कहा जा सकता है कि इस संगठनसे राज्यका भी तो संबंध है। बेशक, राज्योंने इस संस्थाको अपने कब्जेमें करनेके लिए उसपर हाथ रखा है। इसकी प्रबंधक समितियोंके अध्यक्ष वे लोग हैं जिन्हें खुशामदी शाही खानदानके बताते हैं। सम्राट् और सम्राज्ञियां अपने राष्ट्रके संघोंकी खूब सरपरस्ती करती हैं। पर इस संगठनकी सफलताका कारण यह संरक्षण नहीं है। उसका कारण हैं प्रत्येक राष्ट्रकी हजारों स्थानीय कमेटियां, व्यक्तियोंका उद्योग और उन लोगोंकी लगन जो युद्धमें घायल होनेवालोंकी सेवा करना चाहते हैं। और यह लगन बहुत अधिक हो जाय, यदि राज्य इसमें टांग अड़ानेकी हिमाकत न करे।

जो हो, १८७१ के युद्धमे घायलोंकी सेवाके लिए अंग्रेजों और जापानियों, स्वीडनवालों और चीनवासियोंने जो सहायता भेजी वह किसी अंतर्राष्ट्रीय संचालक-मंडलके हुक्मसे नहीं भेजी। आक्रांत प्रदेश और युद्ध-क्षेत्रमें जो अस्पताल खोले गये वे किसी अंतर्राष्ट्रीय मंत्रिमंडलकी आज्ञासे नहीं खुले। यह तो प्रत्येक देशसे आये हुए स्वयं-सेवकोंकी अपनी ही प्रेरणा और प्रयत्नसे हुआ। मौकेपर पहुँचनेके बाद वे एक-दूसरेसे, जैसा कि सब राष्ट्रोंके चरम-पंथी राजनीतिज्ञोंका अनुमान था, गुथ नहीं गये, किंतु देश-राष्ट्रके भेदोंको भूलकर काममें जुट गये।

हमें इसका खेद हो सकता है कि इतना बड़ा प्रयास ऐसे बुरे कामके सहायतार्थ करना पड़ा। मगर कवि-कल्पित बालककी भांति हम भी पूछ सकते हैं—"अगर बादमें उसकी मरहम-पट्टी करनी है तो फिर किसीको चोट पहुंचाते ही क्यों हो?" पूंजीपतिकी शक्ति और मध्यमवर्गके अधिकारके नाशका प्रयत्न करके हम युद्ध नामधारी जन-संहारकी समाप्ति करना चाहते हैं, और हमारी दृष्टिसे अधिक अच्छा हो कि स्वस्तिक-स्वयंसेवक (हमारे साथ) युद्धका ही अंत करानेमें अपनी शक्ति लगायें। पर इस विराट संगठनका जिक्र हमने इस बातकी एक और मिसालके तौरपर किया है कि स्वेच्छासे किये हुए समझौते और सहायतासे क्या कुछ हो सकता है।

नर-संहारकी कलासे लिये हुए उदाहरण यदि हम देने लगें तो उनका

कभी अंत न होगा। अतः केवल उन समितियोंका उल्लेख कर देना काफी होगा जो जर्मन सेनाके बलका मुख्य कारण हैं। उसके बलका आधार केवल उसका अनुशासन नहीं है, जैसा कि आम तौरपर समझा जाता है। हमारा तात्पर्य उन समितियोंसे है जो युद्धोपयोगी ज्ञानका प्रचार करती हैं।

सैनिक मित्रताके उद्देश्यसे हुए एक पिछले सम्मेलनमें २४५२ समितियों से, जिन्होंने आपसमें मिलकर संघ बना लिया था और जिनकी कुल सदस्य-संख्या १,५१,७१२ थी, प्रतिनिधि आये थे। इनके अतिरिक्त लक्ष्यवेधन, सैनिक खेल, युद्ध-कलाके खेल और भौगोलिक अध्ययनकी बहु-संख्यक समितियां हैं। इनमे ही जर्मन-सेना युद्ध-कला सीखती है न कि छावनियोंके स्कूलोंमे। सब प्रकारकी समितियोंका यह एक जबर्दस्त जाल है। ये समितियां अपने-आप बनती हैं, संगठित और परस्पर-संबद्ध होती हैं और बहस-मुबाहसा, भौगोलिक अन्वेषण आदि करती हैं। इनमें सैनिक और असैनिक, भूगोलवेत्ता और व्यायामविशारद, खिलाड़ी और विशेषज्ञ सभी तरहके लोग हैं। ये स्वेच्छाप्रसूत और स्वाधीन संस्थाएं ही जर्मन सेनाकी रीढ़ हैं।

इन समितियोका उद्देश्य घृणित है—जर्मन साम्राज्यका पोषण करना। पर इससे हमें मतलब नहीं। हमारा प्रयोजन तो केवल यह दिखलाना है कि यद्यपि सैनिक संगठन ही 'राज्यका महान ध्येय' है, पर इस दिशामे भी, जितना ही वह समुदायोंके स्वेच्छापूर्वक समझौते और व्यक्तियोंकी स्वतंत्र-प्रेरणा और प्रयत्नपर छोड़ दिया जाता है उतनी ही अधिक सफलता मिलती है।

इस प्रकार युद्धसे संबंध रखनेवाली बातोंमें भी आपसी समझौतेकी जरूरत होती है। अपने दावेके सबूतमें हम इन संघटनोंके नाम और दे सकते हैं—स्विटजरलैंडका शोधक दल जिसके सदस्य पहाड़ी दर्रोंका ब्यौरेवार अध्ययन करते हैं, फ्रांसका वायुयान-दल, ब्रिटेनके तीन लाख स्वयंसेवकोंका दल, ब्रिटिश नेशनल आर्टिलरी ( तोपखाना ) एसोसिएशन, वह दल जो इंगलैंडके समुद्र-तटकी रक्षाके लिए बन रहा है, साइक्लिस्ट कोर और निजी मोटरों तथा भापकी नावोंके नये संगठन।

सब जगह राज्य अपना अधिकार त्याग रहा है और अपने पवित्र कर्त्तव्य साधारण जनोंको सौंप रहा है। सब जगह स्वेच्छापूर्वक स्थापित संगठन उसकी अधिकार-सीमामे घुस रहा है। पर जो उदाहरण हमने दिये हैं उनसे तो हमें उस समयकी अवस्थाकी झलक-भर मिलती है जब राज्यका अस्तित्व मिट जायगा और हमारे सब काम आपसी समझौतेसे होने लगेंगे।

## : १२ :

# आपत्तियां

## १

अब हम उन मुख्य-मुख्य आपत्तियोंकी समीक्षा करेंगे जो साम्यवाद के विरुद्ध उठायी जाती हैं। उनमेंसे अधिकांश तो महज गलतफहमीसे पैदा हुई हैं, पर वे कुछ महत्त्वके प्रश्न उठाती हैं इसलिए विचारणीय हैं।

सत्तावादी साम्यवादकी आपत्तियोंका उत्तर हमें नहीं देना है—हम खुद उन्हें ठीक मानते हैं। व्यक्तिके उद्धार, वैयक्तिक स्वाधीनताकी स्थापनाके लिए सभ्य राष्ट्र इतनी लंबी लड़ाई लड़ और उसमें इतना कष्ट उठा चुके हैं कि वे अपनी पिछली कमाईसे दस्तबरदार नहीं हो सकते, और न ऐसे राज्यको सहन कर सकते हैं जिसके अस्तित्वका नागरिकके जीवनकी छोटी-से-छोटी बातोंमें भी अनुभव होता हो। यदि सत्तावादी साम्यवादी समाज कभी स्थापित हो भी जाय तो वह टिक न सकेगा। जनताका असंतोष या तो शीघ्र उसका अंत कर देगा, या उसे स्वाधीनताके सिद्धांतोंपर नये रूपमें अपना संगठन करनेको मजबूर करेगा।

हम तो उस अराजक साम्यवादकी बात कहने जा रहे हैं जो व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनताको मानता है, किसी शासन-शक्तिकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करता और जो आदमीसे काम लेनेके लिए जोर-जबर्दस्ती का सहारा नहीं लेता। हम प्रश्नके आर्थिक पहलूपर ही विचार करेंगे और देखेंगे कि क्या ऐसे समाजका, जिसके सदस्य वैसे ही आदमी होंगे जैसे आज हैं—न उनसे अच्छे, न बुरे, न उनसे अधिक परिश्रमी, न कम—सफल विकास होना संभव है।

यह शंका तो सर्वविदित है कि "अगर हर एक आदमीके जीवित रहनेका प्रबंध हो जाय और पैसा कमानेकी आवश्यकता मनुष्यको

काम करनेके लिए मजबूर न करे, तो कोई भी काम न करेगा। हर आदमी अपने कामका भार दूसरेपर डाल देगा, अगर उसे खुद करनेकी मजबूरी न हो।" इस बारेमें पहली बात तो यह है कि यह आपत्ति बड़ी गैर-जिम्मेदारीके साथ उठाई जाती है। इतना सोचनेकी जरूरत भी नहीं समझी जाती कि इस एतराजमें असली सवाल महज यह मालूम कर लेना है कि मजदूरी-प्रथाके जो फल बताये जाते हैं वे सचमुच ठीक तौरपर उससे मिलते हैं या नहीं, और दूसरे अब भी मजदूरीकी प्रेरणासे किये जानेवाले कामसे जो उत्पत्ति होती है, स्वेच्छासे किये हुए श्रमसे क्या उसकी अपेक्षा अधिक उत्पत्ति नहीं होती? यह ऐसा प्रश्न है जिसपर ठीक-ठीक विचार करनेके लिए गंभीर अध्ययनकी आवश्यकता है। यद्यपि वैज्ञानिक और शास्त्रीय विषयोंमें लोग इससे बहुत कम महत्त्वके और कम पेचीदा प्रश्नोंपर भी अपनी राय गहरी खोज और सावधानीसे तथ्य इकट्ठे करने तथा उनकी छान-बीन कर लेनेके बाद ही देते हैं, पर इस प्रश्नपर वे तुरंत अपना 'कतई फैसला' सुना देंगे जिसकी कहीं 'अपील' भी न हो सके। कोई एक घटना, जैसे अमेरिकाके किसी समाजवादी संघकी असफलता, उनके पक्की राय कायम कर लेनेके लिए काफी हैं। वे उस वकीलकी तरह हैं जिसकी दृष्टिसे विपक्षका वकील बहसमें उसका प्रतिद्वंद्वी, उसे खाहमखाह तंग करनेवाला भर है, मामलेके एक पक्ष या उसके विरुद्ध मतका प्रतिनिधि नहीं। और कोई मुंहतोड़ जवाब मिल जाता है तो फिर वह अपने पक्षका समर्थन करना भी जरूरी नहीं समझता। इस कारण, मानव-श्रमका कम-से-कम अपव्यय करके समाजको उपयोगी वस्तुएं अधिक-से अधिक परिमाणमें मिलनेके लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति क्या हो सकती है—इस प्रश्नका, जो सारे अर्थशास्त्रका मुख्य आधार है, अध्ययन आगे नहीं बढ़ पाता। या तो लोग सुनी-सुनाई बाजारी बातोंको दुहराया करते हैं, या हमारे दावोंके अज्ञानका बहाना बना लेते हैं।

इस बारेमें सबसे मारकेकी बात यह है कि पूंजीवादी अर्थशास्त्रमें भी आजकल कुछ ऐसे लेखक हैं जो अपने शास्त्रके प्रवर्त्तकोंके इस

'निर्भ्रांत' सिद्धांतपर कि 'भूखका भय ही मुख्यतः मनुष्यको काम करनेके लिए प्रेरित करता है' शंका करनेको विवश हो रहे हैं। वे अनुभव करने लगे हैं कि उत्पत्तिमें कुछ 'सामूहिक तत्त्व' भी होता है, जिसकी अभी तक बहुत उपेक्षा की गयी है और वह वैयक्तिक लाभसे अधिक महत्त्वका हो सकता है। मजदूरीके लिए किया जानेवाला काम घटिया होता है, आज-कलकी खेती और कल कारखानोंमें मानव-शक्तिका भीषण अपव्यय होता है, आराम-तलबोंकी संख्या दिन-दिन बढ़ रही है जो अपना काम दूसरों पर लाद देते हैं, उत्पादन-कार्यमें उत्साहका अभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जारहा है—ये बातें अब 'प्रामाणिक' अर्थशास्त्रके अनुयायियोंके दिमागमें भी चक्कर लगाने लगी हैं। उनमेंसे कुछ सोचने लगे हैं कि हम गलत रास्तेपर तो नहीं चले आये। वह काल्पनिक प्राणी, जिसके बारेमें यह मान लिया गया था कि वह पैसे या मजदूरीके लालचसे ही काम करता है, वास्तवमें कहीं है भी। यह 'शास्त्र-विरुद्ध' मत विश्वविद्यालयोंमें भी पहुच गया है, वह पुराण-पंथी अर्थशास्त्रकी पुस्तकोंमें भी पाया जाता है।

फिर भी बहुतसे समाजवादी सुधारक हैं जो आज भी व्यक्तिगत वेतनके पक्षपाती बने हुए हैं। वे मजदूरी-प्रथाके पुराने दुर्गकी रक्षा कर रहे हैं, यद्यपि उस दुर्गके पहलेके रक्षक उसका एक-एक बुर्ज आक्रमणकारियोंके हवाले करते जा रहे हैं। उन्हें डर है कि दबाव न रहनेसे लोग काम न करेंगे।

पर हमारे जीवन-कालमें भी तो यह भय दो बार प्रकट किया जा चुका है। अमेरिकामें हबशी (नीग्रो) जातिको गुलामीसे छुटकारा मिलनेके पहले विरोधियोंने यही भय प्रकट किया था। इसके बाद रूसके रईसो और जमींदारोंने बंधुए किसानों या हलवाहों ( Serfs ) की मुक्तिके मौकेपर भी यही हल्ला मचाया था। हबशियोंकी आजादीका विरोधी कहता था कि "कोड़ेके बिना हबशी काम नहीं करनेका।" रूसी हलवाहोंका मालिक कहता था कि "मालिककी निगरानी न रही तो खेत परती ही रह जायंगे।" फ्रांसके सरदारोंकी भी १७८९में यही रट थी। यही मध्ययुगकी

रट थी, बल्कि यह रट उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी खुद दुनिया है। जब-जब किसी प्रचलित अन्यायको हटानेका यत्न किया जायगा तब-तब यह चिल्लाहट सुनाई देगी और हर बार उसे असलियत झूठी साबित कर देती है। १७६२ में फ्रांसके स्वतंत्रता-प्राप्त किसानोंने अपने पुरखोंकी अपेक्षा बहुत अधिक उत्साहसे खेती की, मुक्ति-प्राप्त हबशी आजकल अपने बाप दादोंसे अधिक काम करता है और रूसका किसान भी, जबसे उसे स्वतंत्रता मिली है तबसे बडे जोशसे काम करता है। जहां जमीन उसकी अपनी है वहां वह जी-तोड़ मेहनत करता है। हबशियोंकी मुक्तिके विरोधीकी चिल्लाहट दास-स्वामियोंके लिए मूल्यवान् हो सकती है; पर खुद गुलामोंके लिए उसकी कितनी कीमत है यह वे ही जानते हैं, क्योंकि उन्हें उसका असली मतलब मालूम है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्रियोंने ही तो हमें यह बताया है कि मजदूरी-पर काम करनेवाला अक्सर मन लगाकर काम नहीं करता और जो आदमी जानता है, कि जितनी मेहनत मैं करूंगा उतनी ही मेरी कमाई बढ़ेगी वही खूब मेहनतसे काम करेगा और उसका श्रम अधिक उत्पादक भी होगा। व्यक्तिगत संपत्तिके सारे स्तोत्रोंका सार यही निकाला जा सकता है।

अर्थशास्त्री लोग जब व्यक्तिगत संपत्तिका गुणगान करने लगते हैं तब वे कहते हैं कि जो भूमि पहले अनुत्पादक, दलदल और पथरीली थी वह उस समय अच्छी फसलें देने लगती है जब कृषक उस भूमिका स्वामी बन-कर खेती करने लगता है। पर इससे तो उनकी व्यक्तिगत संपत्तिका औचित्य किसी तरह सिद्ध नहीं होता। जब अर्थशास्त्री स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमारे गाढ़े पसीनेकी कमाई दूसरोंकी जेबमें न चली जाय, इसका विश्वसनीय उपाय केवल यही है कि श्रम अथवा उत्पादनके साधनोंपर अपना कब्जा हो—और यह सही भी है—तो वे इसी बातको सिद्ध करते हैं कि जब मनुष्य स्वाधीन रूपमें काम करता है, जब उसने अपना धंधा आप पसंद किया हो, जब उसके काममें बाधा डालनेवाला कोई निरीक्षक न हो और जब वह देखता है कि उसके श्रमका लाभ उसे और उसके जैसे अन्य श्रमिकोंको ही मिलता

है, आलसियोंको नहीं, तभी वह सबसे अधिक उत्पादन कर सकता है। उनकी दलीलोंसे इसके अतिरिक्त और कोई नतीजा नहीं निकाला जा सकता और यही बात हम स्वयं मानते हैं।

श्रमके साधनोंपर किस तरहका कब्जा होना चाहिए, अर्थशास्त्री इस बारेमें अप्रत्यक्ष रूपसे इतना ही कहते हैं कि किसानको इस बातका इतमीनान होना चाहिए कि वह अपनी मेहनतसे जो माल पैदा करेगा और खेतका जो सुधार करेगा उसके लाभसे वह वंचित न होगा। इसके अतिरिक्त, यदि उन्हें यह साबित करना है कि व्यक्तिगत स्वामित्व ही अधिकारका सर्वोत्तम प्रकार है, और किसी तरहका कब्जा इष्ट नहीं है, तो उन्हें यह दिखाना चाहिए कि पचायती स्वामित्वकी व्यवस्थामें जमीनसे उतनी उपज नहीं होती जितनी व्यक्तिगत अधिकारकी अवस्थामें होती है। पर इसे वे साबित नहीं कर सके हैं। वस्तुतः बात इसके विपरीत होती देखी गयी है।

वॉड ( स्विट्जरलैंड ) प्रदेशके किसी पंचायती गांवकी मिसाल लीजिए। जाड़ेके दिनोंमें गांवके सब आदमी जंगलमें लकड़ी काटने जाते हैं। जंगल पंचायती है अर्थात् सबकी शामिल मिल्कियत है। 'श्रमके इन्हीं त्यौहारों'में लोगोंमें कामके लिए सबसे अधिक उत्साह दिखाई देता है और मनुष्यकी शक्तिका सबसे अच्छा प्रदर्शन होता है। मजदूरीका यानी पैसेके लिए किया जानेवाला काम या व्यक्तिगत स्वामीके सारे प्रयत्न उसका मुकाबिला नहीं कर सकते।

अथवा रूसके किसी गांवको लीजिए। गांवके सभी मर्द-औरत किसी पंचायती खेतकी फसल काटने जाते हैं। उस वक्त आपको मालूम होगा कि यदि मनुष्य सार्वजनिक उत्पादनके लिए सबके साथ काम करे तो वह कितना पैदा कर सकता है। पुरुष अधिक-से-अधिक हंसिया फैलाकर काटनेमें एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्धा करते हैं और स्त्रियां उनके पीछे-पीछे बढ़ी आती हैं, जिसमें वे काटनेवालोंसे पीछे न छूट जायं। वह 'श्रमका त्यौहार' होता है। कुछ घंटोंमें ही सौ आदमी इतना काम कर डालते हैं जितना यदि वे अलग-अलग करते तो कई दिनमें न होता। मिलकर

काम करनेवाले इन लोगोंके सामने अलग रहकर काम करनेवाला खेतमालिक कितना दयनीय मालूम होता है !

इस विषयमें हम बीसियों उदाहरण अमेरिकामें पहले पहुंचनेवालों या स्विट्जरलैंड, जर्मनी, रूस और फ्रांसके कुछ गावोंसे दे सकते हैं। रूसमें कुछ राज, बढ़ई, मल्लाह, मछुए आदि मिलकर कोई काम लेते हैं और किसी बीचवालेकी मदद लिये बिना उपज या मजदूरी आपस में बांट लेते हैं। इंगलैंडके कारखाने भी इसकी मिसाल हो सकते हैं, जहां इसी उसूलसे ( सबको इकट्ठी ) मजदूरी दी जाती है। खानाबदोश जातियोंके बड़े-बड़े शामिल शिकारो और कुछ आदमी मिलकर संयुक्त रूपसे आजकल जो बहुतसे उद्योग-व्यापार करते हैं उनका भी इस सिलसिलेमें जिक्र किया जा सकता है। प्रत्येक उदाहरणमें हम दिखा सकते हैं कि मजदूरीपर या अकेले काम करनेवाले वैयक्तिक मालिकके कार्यकी अपेक्षा मिलकर किया हुआ शिराकती काम कहीं अच्छा होता है।

सुख-प्राप्ति, अर्थात् शारीरिक, कला या सौंदर्य-संबंधी और नैतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति सदा मनुष्यके काम करनेके लिए सबसे बड़ी प्रेरणा रही है। मजदूरीपर काम करनेवाला व्यक्ति कठिनाईसे भोजन-वस्त्रभर पैदा कर पाता है, पर स्वाधीन व्यक्ति उससे कहीं अधिक शक्ति और बुद्धि काममें लगाता है और उसकी अपेक्षा बहुत अधिक सामग्री उत्पन्न करता है, क्योंकि वह जानता है कि मैं जितना ही श्रम करूंगा उतनी ही अधिक सुख-सुविधा मेरी और दूसरोंकी बढ़ेगी। पहले प्रकारका श्रमी दरिद्रता और दुरवस्थाके ही विचारोंमे गर्क रहता है और दूसरा भविष्यमें सुख-सुविधा पाने और अपने शौक-अरमान पूरे कर सकनेकी आशा रखता है। इसी अंतरमे सारा रहस्य है। इसलिए जो समाज यह चाहता है कि सब लोग सुखसे रहें, सबका जीवन सभी दृष्टियोंसे सफल-सार्थक हो सके, वह लोगोंको अपनी खुशीसे काम करनेकी सुविधा देगा। गुलामी और मजदूरीकी प्रथासे अबतक जो कुछ उत्पत्ति हुई है, स्वेच्छापूर्वक किया हुआ काम उससे कहीं अधिक उत्पादन करेगा, और वह उससे कहीं अच्छा भी होगा।

२

आजकल जीवित रहनेके लिए जो श्रम अनिवार्य है उसे हर एक आदमी दूसरेपर लादनेकी कोशिश करता है और लोग समझते हैं कि सदा यही हाल रहेगा।

मनुष्य-जीवनके लिए जो काम अनिवार्य रूपसे आवश्यक है वह मुख्यतः हाथका या शारीरिक है। हम कलाकार हो या वैज्ञानिक, पर रोटी, कपड़े, सड़कें, जहाज, रोशनी आदि शारीरिक श्रमसे पैदा होनेवाली चीजोंके बिना किसीका भी काम नहीं चल सकता। इसके सिवा हमारी रुचियां-इच्छाएं कितनी ही उच्च कलामय या सूक्ष्म दार्शनिक क्यों न हों, उनकी पूर्ति तो शारीरिक श्रमसे ही हो सकती है और इसी श्रमसे, जो जीवनका आधार है, हर एक बचना चाहता है।

हम अच्छी तरह समझते हैं कि आजकी स्थितिमें यह अनिवार्य है।

कारण यह कि आजकल शारीरिक श्रम करनेका अर्थ होता है अपने आपको किसी अस्वास्थ्यकर कारखानेमें रोज दस या बारह घंटे बंद रखना और उसी काममें बीस या तीस वर्षतक, संभव है सारी जिंदगी, बंधे रहना।

उसका अर्थ है नाम-मात्रकी मजदूरी या वेतन मिलना, कल कैसे गुजारा होगा इसका कुछ ठीक न होना, कामके बिना बैठे रहना, अक्सर रोटी कपड़ेको मुहताज रहना और अपने और अपने बच्चोंके बदले दूसरोंको खिलाने,पहनाने, उनका मन-बहलाव करने और उन्हें पढ़ाने-लिखानेके लिए चालीस साल काम करनेके बाद बहुधा किसी अस्पतालमें जाकर मर जाना।

उसके मानी होते हैं जीवनभर नीचा समझा जाना। राजनीतिज्ञ लोग शारीरिक श्रम करनेवालेकी कितना ही बड़ाई क्यों न करते रहें, वह दिमागी काम करनेवालेसे सदा नीचा ही समझा जाता है और जो आदमी दस घंटे कारखानेमें मशक्कत कर चुका हो उसके पास न इतना समय रहता है और न इतने साधन कि वह विज्ञान और कलाका

आनंद उठाये, या इनमें रस लेने लायक ही बन सके। उसे तो विशेषाधिकार-प्राप्त जनोंकी जूठनसे ही संतोष करना पड़ता है।

हम समझते हैं कि ऐसी अवस्थामें शारीरिक श्रम करना क्यों दुर्भाग्य या अभिशाप माना जाता है।

हम जानते हैं कि सब मनुष्योंका यही स्वप्न है—यही आकांक्षा है कि हम और हमारे बच्चे इस नीची दशासे ऊपर उठ जांय, अपने लिए 'स्वतंत्र' स्थिति बना लें, जिसका अर्थ यही तो होता है कि वे भी दूसरोंके श्रमपर जीवित रहने लगें।

जबतक देहसे काम करनेवालो और दिमागसे काम करनेवालोंके दो पृथक्-पृथक् वर्ग रहेंगे तबतक यही हाल रहेगा।

जब मजदूरको मालूम है कि उसके भाग्यमे तो सदा छुटाई, गरीबी और कल क्या होगा इसकी चिंता लगी रहना ही है तो इस बेगार-जैसे काममें उसको क्या दिलचस्पी हो सकती है। इसलिए जब हम लाखों आदमियोंको रोज सवेरे उठकर हल-हथौड़ा सम्हालते देखते हैं तो उनके अध्यवसाय, अपने कार्यके प्रति उत्साह और मशीनकी तरह आज्ञा-पालन तथा भविष्यके लिए कोई आशा न रखते हुए भी इस दुःख-भरे जीवनका बोझ ढोते रहनेकी आदतपर आश्चर्य होता है। वे कभी यह स्वप्न भी नहीं देख सकते कि जिस मनुष्य-जातिके पास उदार प्रकृतिके सारे खजाने और ज्ञान-विज्ञान तथा कलाके सारे आनंद हैं और जो आजकल कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त व्यक्तियोंके लिए ही सुरक्षित हैं, किसी दिन हम या हमारे बच्चे भी उसी मनुष्य-जातिके अंग बन सकेंगे।

शारीरिक और मानसिक श्रमका यह बिलगाव मिटा देनेके लिए ही तो हम मजदूरी-प्रथाका अंत कर देना और साम्यवादी क्रांति चाहते हैं। उस समय श्रम करना दुर्भाग्य या पूर्वकृत पापका फल न प्रतीत होगा। तब उसका रूप वह होगा जो होना चाहिए—अर्थात् मनुष्यकी सारी शक्तियोंका स्वेच्छासे, बिना दबाव या मजबूरीके, काममें लाया जाना।

यहीं इस परंपरा-प्राप्त धारणाकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिए कि 'चांदीके चाबुक'—मजदूरीके लालचसे काम अच्छा होता है।

यदि आपको वर्तमान उद्योग-धंधोंमें होनेवाला जन-शक्तिका भारी अप-व्यय देखना हो तो आप 'नमूनेके कारखानों' (Model Factories) में, जो जहां-तहां दिखाई पड़ जाते हैं, न जाकर दो-चार मामूली कारखानोंमें जाइए। अगर आपको एक कारखाना ऐसा मिला जिसका प्रबंध थोड़ा बहुत समझदारीसे किया जाता हो तो सौ या इससे भी अधिक ऐसे मिलेंगे जिनमें मनुष्यकी मेहनत बुरी तरह बरबाद की जाती है और जिसका उद्देश्य बस इतना ही होता है कि मालिकको कुछ रुपये और मिल जांय।

इन कारखानोंमें आप देखेंगे कि बीससे पच्चीस बरसतकके युवक बेंचोंपर सारे दिन बैठे रहते हैं। उनकी कमरें झुकी और छातियां धंसी हुई हैं और वे अपने सिर और शरीरको झकझोरकर, बाजीगरकी जैसी फुरतीसे, सूत या फीतेके कघोंपरके बचे हुए बेकार टुकड़ोंके दोनो सिरोंको जोड़ रहे हैं। ये 'मुखंडी मारे हुए, लोग अपने देशको कैसी सन्तानें दे जायगे? पर मालिक कहता है कि "ये लोग मेरे कारखानेकी दो बित्ते ही जगह तो लेते हैं और हरएकके कामसे एक अठन्नी तो अपनी हो ही जाती है।"

लंदनके एक बड़े भारी कारखानेमें हमने देखा कि सत्रह-सत्रह सालकी लड़कियां दियासलाइयोंकी टोकरियां सिरपर उठाकर एक कमरेसे दूसरेमें ले जाती है और इससे उनके सिरके बाल इसी उम्रमें झड़ गये हैं। कोई छोटी-सी मशीन इस कामको कर सकती थी। पर मालिक तो कहेगा कि "इसमें हमारे बहुत थोड़े पैसे खर्च होते हैं। जो स्त्रियां कोई खास धंधा नहीं जानतीं वे सस्ती मिल जाती हैं। फिर हमे मशीनकी क्या जरूरत? जब ये काम करने लायक न रहेंगी तो दूसरी इनकी जगह आ जायंगी। सड़कोंपर इतनी तो मारी-मारी फिरती हैं!"

किसी बड़े मकानकी सीढ़ियोंपर जाड़ेकी बर्फीली ठंडवाली रातमें आपको नंगे पांव सोता हुआ एक बालक मिलेगा, जिसकी बगलमें अखबारोंका बंडल दबा होगा।...बच्चोंकी मजदूरी इतनी सस्ती पड़ती है कि रोज शामको आठ आनेके अखबार बेच लेनेके लिए कोई भी लड़का रखा जा सकता है, जिसमेंसे आना, डेढ़ आना उसको मिलेगा। बड़े-बड़े

शहरोंमें आप बराबर देखेंगे कि सयाने और तगड़े आदमी तो सड़कोंपर मारे-मारे फिर रहे हैं और महीनोंसे बेकार हैं और उनकी लड़कियां कारखानों की गरम भोपमें काम करके पीली पड़ गयी हैं, उनके लड़के डब्बोंमें हाथसे काला पालिश भर रहे हैं, या जिस उम्रमें उन्हें कोई काम सीखना चाहिए था उसी उम्रमें साग-तरकारीका टोकरा ढाते फिरते हैं और अठारह या बीस की उम्रमें ही बारहमासी बेकार बन जाते हैं।

सेनफ्रांसिस्कोसे लेकर मास्कोतक और नेपुल्ससे लगाकर स्टाकहोम तक, सर्वत्र यही दशा है। मानव शक्तिका अपव्यय ही हमारे उद्योग-धंधोंकी मुख्य विशेषता है। व्यापारका तो कहना ही क्या, वहां तो उसकी और भी भारी बर्बादी होती है।

जो शास्त्र वस्तुतः मनुष्य-शक्तिके अपव्ययका विज्ञान है, मजदूरी-व्यवस्थामें उसीको 'राजनीतिक मितव्ययिता-शास्त्र' ( Political Economy ) का नाम दिया गया है।—कैसा करुण व्यंग्य है !

इतना ही नहीं, आप किसी सुव्यवस्थित कारखानेके संचालकसे बातें करें तो वह आपसे बड़े भोलेपनके साथ कहेगा कि "आजकल होशियार, फुर्तीले और मन लगाकर काम करनेवाले आदमी नहीं मिलते। हर सोमवार को काम चाहनेवाले बीस-पच्चीस आदमी हमारे पास आते हैं। यदि कोई कामका आदमी आये तो हम अपने और आदमियोंको हटाकर भी उसे रख लें। ऐसे आदमीको हम देखते ही पहचान लेते और रख लेते हैं, चाहे इसके लिए हमें अपने किसी पुराने आदमीको बिदा क्यों न कर देना पड़े।" जो आदमी इस प्रकार निकाला जाता है और जो दूसरे दिन निकाले जायेंगे वे सब बेकार श्रमिकोंकी गिनती बढ़ाते हैं। यही बेकार-वर्ग पूंजी-पतियोंकी 'रक्षित सेना' है। जब काम बढ़ जाता है या हड़तालियोंको दबाना होता है तभी ये बेकार श्रमिक कारखानोंमें काम करनेको बुलाये जाते हैं। और जो मजदूर साधारण प्रकारका ही काम कर सकते हैं, जिन्हें काम कम होते ही प्रथम श्रेणीके कारखाने हटा देते हैं, उनका क्या होता है ? वे ढलती उम्रके और मन लगाकर काम न करने वाले श्रमिकोंकी विशाल सेनामें भरती हो जाते हैं। ये लोग उन द्वितीय श्रेणीके कारखानोंमें चक्कर काटा करते हैं

जिनका खर्च मुश्किलसे निकलता है, जो गाहकोंको चाल और धोखेमें फंसाकर जीवित रहते हैं और विशेषतः दूर देशोंके खरीदारोंमें अपना माल खपाते हैं।

अगर आप खुद उन श्रमिकोंसे ही मिलें और बातचीत करें तो आपको मालूम होगा कि इन कारखानोंमें पूरा काम न करना ही नियम है। जब कोई आदमी ऐसे कारखानेमें काम करने जाता है तो सबसे पहला उपदेश जो उसे साथी मजदूरोंसे मिलता है वह होता है—"जितना दाम, उतना काम!"

कारण यह है कि काम करनेवाले जानते हैं कि अगर हम उदारताके उद्रेकमें मालिकका विनतीसे गीले हो गये और किसी जरूरी आर्डरको पूरा करनेके लिए तेजीसे हाथ चलाकर कुछ ज्यादा काम कर दिया तो आगे मजदूरीको साधारण दरमें ही हमसे उतना काम लिया जायगा। इसलिए ऐसे सभी कारखानोंमें वे जितना माल तैयार कर सकते हैं उतना करते नहीं। कुछ उद्योग-धंधोंमें तो माल जानबूझकर कम तैयार किया जाता है जिसमें वह सस्ता न हो जाय और कभी-कभी मजदूर सांकेतिक शब्दोंमें परस्पर कह देते हैं—"जैसा दाम, वैसा काम।"

मजदूरीपर किया जानेवाला काम गुलामीका काम है। मजदूरी-प्रथा से पूरी उत्पत्ति नहीं हो सकती, होनी चाहिए भी नहीं। अब समय आ गया है कि 'उत्पादक कार्यके लिए मजदूरी ही सबसे प्रबल प्रेरक है'—इस वहमको लोग अपने दिमागसे निकाल दें। हमारे दादा-परदादाके समयसे आज जो कल-कारखानोंकी कमाई सौगुनी हो गयी है उसका कारण मजदूरी देकर काम लेनेवाला पूंजीवादी संगठन नहीं है, बल्कि पिछली शताब्दीके अंतमें पदार्थ-विज्ञान और रसायन-विज्ञानका छलांग मारकर बहुत आगे निकल जाना है।

## ३

जिन्होंने इस प्रश्नका गंभीर अध्ययन किया है वे साम्यवादके लाभों को अस्वीकार नहीं करते, बशर्तेकि वह पूर्ण स्वतन्त्र साम्यवाद अर्थात् अराजक साम्यवाद हो। वे मानते हैं कि यदि श्रमके बदलेमें रुपया दिया

जायगा—, भले ही उसका नाम 'लेबर-चेक' (मजदूरीकी हुंडी)* हो और वह राज्य-द्वारा नियंत्रित श्रमिक संघोंको ही दिया जाय—तो मजदूरी-प्रथाकी विशेषताएं और बुराइयां उसमें बनी ही रहेंगी। उत्पत्तिके साधन समाजके हाथमें आ जायं तो भी सारी व्यवस्थाको उससे हानि पहुंचेगी। वे यह भी मानते हैं कि जब सब बालकोंको सर्वांगपूर्ण शिक्षा दी जायगी, जब सभ्य समाजका स्वभाव श्रम करनेका हो जायगा, जब लोगोंको अपने धंधे पसंद करने और बदलनेकी आजादी होगी और जब सबके सुखके लिए अपने बराबरवालोंके साथ काम करनेका सबको आकर्षण होगा, तब साम्यवादी समाजमें ऐसे उत्पादकोंकी कमी न रहेगी जो कुछ ही दिनोंमें जमीनकी उपज चौगुनी या दसगुनी कर दें और उद्योग-धंधोंमें उन्नतिका नया उत्साह उत्पन्न कर दें।

हमारे विरोधी इस सबको मानते हैं, पर वे कहते हैं—"खतरा तो उन थोड़े-से काहिलोंसे होगा जो काम न करेंगे, चाहे कार्यका रूप और परिस्थिति कितनी ही सुन्दर हो जाय और न अपनी आदतोंको नियमित बनायेंगे। आज भूखों मरनेकी आशंका अड़ियल-से-अड़ियलको भी दूसरोंके साथ कदम बढ़ानेके लिए मजबूर करती है। जो वक्तपर काम करने नहीं आता वह निकाल दिया जाता है। पर एक मछली भी सारे तालाबको गंदा कर देती है। दो-तीन सुस्त या उद्दंड मजदूर दूसरोंको भी बिगाड़ देंगे और कारखानेमें अव्यवस्था तथा विद्रोहकी भावना फैला देंगे, जिससे काम होना असंभव हो जायगा। फलतः अंतमें हमें फिर बल-प्रयोगका कोई तरीका निकालना ही पड़ेगा जिससे इन सरगनोंको ठीक किया जा सके। तब क्या मजदूरी—जितना काम, उतना दाम—की व्यवस्था ही एकमात्र ऐसी व्यवस्था नहीं है जिससे दबाव भी पड़ सकता है और काम करनेवालेकी स्वतंत्रताकी भावनाको चोट भी नहीं लगती? और सभी उपायोंमें एक अधिकारीके हस्तक्षेपकी आवश्यकता सदा बनी रहेगी और यह स्वतंत्र मनुष्यको को पसंद नहीं है।" हम समझते हैं कि इस आपत्तिको हमने ठीक तरहसे उपस्थित कर दिया।

*इस व्यवस्थाका कुछ विस्तृत परिचय अगले परिच्छेदमें दिया गया है।

पहली बात तो यह है कि यह आपत्ति उन्हीं दलीलोंकी श्रेणीकी है जिनसे राज्य, फौजदारी कानून, जज और जेलरकी आवश्यकता सिद्ध की जाती है।

सत्तावादी कहते हैं—"समाजमें कुछ लोग तो ऐसे होते ही हैं जो सामाजिक या सहयोगकी रीतियोंको नहीं मानते। इसलिए हमें मजिस्ट्रेट, कचहरियां और कारागार रखने ही पड़ेंगे, यद्यपि इनसे सब प्रकारकी दूसरी बुराइयां पैदा हो जाती हैं।"

इसलिए हम भी अपना वही जवाब दुहरा देते हैं जो हम हर तरह की शासन-शक्तिके संबंधमें अनेक बार दे चुके हैं—"एक संभाव्य दोषसे बचनेके लिए आप ऐसे उपाय करते हैं जो खुद उससे भी बड़ी बुराई हैं और जिनसे वही खराबियां पैदा हो जाती हैं जिन्हें आप दूर करना चाहते हैं। आपको याद रखना चाहिए कि जिस वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्थाकी बुराइयोंको अब आप मानने लगे हैं वह मजदूरी-प्रथासे, अर्थात् अपनी मेहनत बेचनेके सिवा जीवन-निर्वाहका दूसरा उपाय न होनेके कारण ही पैदा हुई है।" इसके सिवा इस तरहकी दलीलें देना वर्तमान प्रणालीके दोषोंका हेत्वाभास द्वारा या गलत दलील देकर समर्थन करना मात्र है। मजदूरी या वेतनकी व्यवस्था साम्यवादके दोषोंको दूर करनेके लिए नहीं की गयी, उसका जन्म तो राज्य और व्यक्तिगत स्वामित्वकी तरह दूसरे कारणोंसे ही हुआ। यह तो गुलामी और 'हलवाहे किसान' ( Serf ) की प्रथाकी ही देन है, केवल इसका भेसभर आधुनिक है। अतः व्यक्तिगत संपत्ति और राज्यके पक्षमें पेश की जानेवाली दलीलें जैसी लचर हैं, मजदूरी-प्रथाके समर्थनमें दी जानेवाली युक्तियां भी वैसी ही निस्सार हैं।

फिर भी हम इस आपत्तिकी समीक्षा करके देखेंगे कि उसमें कुछ दम है या नहीं।

पहली बात तो यह है कि यदि स्वेच्छा-श्रमके सिद्धांतपर स्थापित समाजको सचमुच नाकारोंका खतरा हुआ, तो आजकलकी-सी डंडेके जोरसे काम लेनेवाली व्यवस्था और मजदूरी-प्रथाको अपनाये बिना भी वह दूर किया जा सकेगा।

मान लीजिए, कुछ स्वयं-सेवक किसी विशेष कार्यके लिए अपना संघ बनाते हैं। वे दिलसे चाहते हैं कि उन्हें अपने कार्यमें सफलता मिले, इसलिए मन लगाकर काम करते हैं, केवल एक साथी ऐसा है जो अक्सर अपने कामपर गैरहाजिर रहता है। तो क्या इस कारण उन्हें अपने संघको तोड़ देना, जुर्माना करनेके लिए एक अध्यक्ष चुन लेना और एक दंड-विधान बना डालना होगा ? जाहिर है कि इनमेंसे एक भी बात नहीं की जायगी, बल्कि एक दिन उस साथीसे कह दिया जायगा— "दोस्त, हम लोग तो तुम्हारे साथ काम करना चाहते हैं, पर तुम अक्सर गैरहाजिर रहते हो और अपना काम भी लापरवाहीसे करते हो, इसलिए हमारा साथ अब नहीं चल सकता। तुम दूसरे साथी ढूंढ लो जो तुम्हारी लापरवाहीको बर्दाश्त कर लें।"

यह मार्ग इतना स्वाभाविक है कि आज-कल भी सब जगह, सब उद्योग-धंधोंमे यह बरता जाता है और जुर्माना करने, तनख्वाह काटने और कड़ी निगरानी रखने आदि उपायोंके मुकाबिलेमें टिक सका है। एक आदमी नियत समयपर कारखानेमें काम करने आता है, पर अगर उसका काम खराब होता है, अपनी सुस्ती या किसी और दोषसे वह दूसरोंके काममें बाधक होता है, या वह झगड़ालू है, तो एक दिन बर्दाश्तकी हद हो जाती है और उसे कारखाना छोड़ देना पड़ता है।

सत्तावादी कहते हैं कि सर्वशक्तिमान् मालिक और उसके निरीक्षकों-के कारण ही काम नियमसे और अच्छा होता है। पर सच यह है कि हर एक टेढ़े या पेचीदा काममें, जिसमें तैयार होनेसे पहले चीजको कई हाथोंसे गुजरना पड़ता है, खुद कारखाना ही, अर्थात् समष्टि-रूपसे वहांके श्रमिक ही, मिलकर इस बातका ध्यान रखते हैं कि काम अच्छा हो। इसी कारण इंगलैंडके अच्छे निजी कारखानोंमें निरीक्षक कम होते हैं। फ्रांसके कारखानोंके औसतसे तो बहुत कम और इंगलैंडके राजकीय कारखानोंसे भी कम होते हैं।

सार्वजनिक सदाचार भी इसी प्रकार एक हदतक कायम रखा जाता है। सत्तावादी कहते हैं कि उसकी रक्षा चौकीदारों, जजों और पुलिस

वालोंकी बदौलत ही होती है, पर वास्तवमें वह 'इनके बावजूद, बना रहता है। किसीने बहुत पहले कहा था कि "बहुतसे कानून तो ऐसे हैं जो अपराधी पैदा करते हैं।"

औद्योगिक कारखानोंमें ही इस तरह काम नहीं होता, बल्कि हर जगह और हर रोज यही तरीका बरता जाता है और इतने बड़े पैमानेपर कि केवल किताबके कीड़े उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। जब कोई रेलवे-कंपनी, जो दूसरी कंपनियोंसे संबद्ध है, अपने इकरार पूरे नहीं कर सकती, उसकी गाडियां लेट होती हैं और माल स्टेशनोंपर पड़ा रहता है, तो दूसरी कंपनियां अपना इकरारनामा रद्द कर देनेकी धमकी देती हैं और यह धमकी आमतौरसे कारगर होती है।

आम खयाल है, और कम-से-कम सरकारी स्कूलोंमें तो यह सिखाया ही जाता है, कि व्यापारी अपने इकरार दावे और अदालतके डरसे ही पूरा करते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। दसमेंसे नौ मामलोंमें वचन-भंग करनेवाले व्यापारीको अदालतके सामने जाना ही नहीं पड़ता। लंदन-जैसे व्यापार-केंद्रमें भी यदि कोई व्यापारी अपना देना नहीं चुकाता और पावनेदारको अदालतकी शरण लेनी पड़ती है, तो अधिकांश व्यापारी सदाके लिए उस आदमीसे अपना कारबारी संबंध तोड़ लेते हैं, क्योंकि उसके कारण उनके एक भाईको अदालत जाना पड़ा।

जब यह उपाय कारखानेके श्रमिकों, व्यापारियों और रेलवे कंपनियोंमें आज भी काममें लाया जारहा है तो उस समाजमें क्यों न बरता जायगा जिसका आधा अपने मनसे किया हुआ काम होगा?

मान लीजिए, एक संस्था यह तय करती है कि उसके प्रत्येक सदस्यको निम्नलिखित प्रतिज्ञाका अनुसरण करना होगा—

"हम इकरार करते हैं कि हम तुम्हें अपने मकानों, सड़कों, सवारियों, स्कूलों, अजायबघरों आदिसे काम लेने देंगे। शर्त यह है कि तुम बीससे लगाकर पैंतालीस-पचासकी उम्रतक रोज चार या पांच घंटे ऐसे काममें लगाते रहो जो जीवनके लिए आवश्यक माना गया हो। तुम जिस उत्पादक-संघमें सम्मिलित होना चाहो, हो सकते हो, या नया संघ भी बना

सकते हो, बशर्तेकि वह आवश्यक वस्तुओंका ही उत्पादन करे। जो समय तुम्हारे पास बच रहे उसमें तुम अपनी रुचिके अनुसार मनोरंजन या कला या विज्ञानकी साधनाके लिए, जिसके साथ चाहो, सहयोग कर सकते हो।

"हम तुमसे केवल इतना ही चाहते हैं कि तुम अन्न-वस्त्र उत्पन्न करने या मकान बनानेवाले संघोंमें या सार्वजनिक स्वास्थ्य-सफाईके या रेल-ट्राम जैसे किसी आवश्यक कार्यमें सालभरमें अपने बारह या पंद्रह सौ घंटे देदो। इस कामके बदलेमें हम इतमीनान दिलाते हैं कि जो कुछ ये संघ उत्पन्न करते हैं या करेंगे वह सब तुम्हें मुफ्त मिलेगा। हमारे संगठनमें हजारों उत्पादक संघ हैं और यदि उनमेंसे एक भी किसी भी कारणसे तुम्हें न ले सके या तुम कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न करनेके नितांत अयोग्य सिद्ध हो या वैसा काम करनेसे इंकार करो, तो तुम्हे बहिष्कृत व्यक्ति या अपाहिजकी तरह रहना होगा। यदि हमारे पास जीवनोपयोगी सामग्री इतनी हुई कि हम तुम्हें दे सकें तो हम खुशीसे दे देंगे। मनुष्य होनेके नाते जीवित रहना तुम्हारा अधिकार है। पर चूंकि तुम विशेष परिस्थितिमें रहना और सबसे अलग हो जाना चाहते हो, इसलिए बहुत मुमकिन है कि तुम्हें अन्य नागरिकोंसे अपने नित्यके व्यवहारमें कष्ट उठाना पडे। तुम मध्यवित्त समाजकी छाया समझे जाओगे। हां, तुम्हारा कोई मित्र तुममें कोई विशेष प्रतिभा देख तुम्हारा सब जरूरी काम अपने ऊपर लेकर तुम्हें समाजके प्रति अपने सब नैतिक कर्त्तव्योंसे मुक्त कर दे तो और बात है।

"अंतमें, यदि तुम्हें यह व्यवस्था न रुचती हो तो इस विस्तृत भूमंडलपर और कहीं जाकर दूसरी परिस्थिति तलाश करो, या अपने अनुयायी ढूंढ़कर, नये सिद्धांतोंपर, नया संगठन कर लो। हमें तो अपने ही सिद्धांत पसंद हैं।"

साम्यवादी समाजमें काहिलोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी तो उनको निकाल बाहर करनेके लिए यही उपाय किया जायगा।

## ४

हमारा खयाल है कि जिस समाजमे व्यक्तिको सचमुच पूर्ण स्वाधीनता होगी उसमें इस बातका डर शायद न रहे।

यद्यपि पूंजीका व्यक्तिगत स्वामित्व अकर्मण्यताको प्रोत्साहन देता है, फिर भी बीमारोंको छोड़कर सच्चे अर्थमें आलसी आदमी कम ही होते हैं।

मजदूर अक्सर कहा करते हैं कि 'बाबू-वर्ग' के लोग अकर्मण्य हैं। अवश्य ही ऐसे लोगोंकी तादाद उसमे काफी है, फिर भी वे अपवाद-रूप ही हैं। बल्कि हर एक कल-कारखानेमें आपको मध्यमवर्गके ऐसे एक-दो आदमी अवश्य मिलेंगे जो बहुत अधिक काम करते हैं। यह तो सत्य है कि इस वर्गके अधिकांश लोग अपने विशेषाधिकारोंसे लाभ उठाकर अपने लिए ऐसे ही काम रखते हैं जो कम-से-कम अरुचिकर हो। वे साफ सुथरी, हवादार जगहोंमें काम करते हैं, खाना भी उन्हे अच्छा मिलता है, जिससे वे बिना अधिक थके अपना काम कर सकते हैं। पर येही सारी बातें तो हम हर एक श्रमिकके लिए बिना किसी अपवादके चाहते हैं।

यह बात भी कहनी ही होगी कि यद्यपि अपनी ऊंची स्थितिके कारण धनाढ्य लोग प्रायः समाजमें नितांत अनुपयोगी या हानिकर कार्य भी करते हैं, फिर भी राज्य-मंत्री, विभागोंके अध्यक्ष, कारखानोंके मालिक, व्यापारी, साहूकार आदि रोज कई घंटे काम करते हैं। और इसमें उन्हें थोड़ी-बहुत थकावट भी मालूम होती ही है तथा इस अनिवार्य कर्त्तव्यसे छुट्टी पाना उन्हें भी अच्छा लगता है। यद्यपि इनमें दसमेंसे नौ कार्य हानिकर हैं फिर भी उन्हें वे वैसे ही थकानेवाले मालूम होते हैं। पर हानिकर कार्य करनेमें भी (ज्ञात रूपसे हो या अज्ञात रूपसे) और अपने विशेषाधिकारोंकी रक्षा करनेमें इतने पुरुषार्थका परिचय देकर ही तो मध्यमवर्ग सरदारों-जागीरदारोंको पराजित कर पाया और जनतापर शासन कर रहा है। वह आलसी, मेहनतसे भागनेवाला होता

तो उसका अस्तित्व भी राजा-रईसोंके वर्गकी तरह कबका मिट चुका होता। जिस समाजमें व्यक्तिसे रोज चार-पांच घंटे ही रुचिकर और स्वास्थ्यकर काम लिया जायगा उसमें मध्यमवर्गके येही लोग अपना काम बहुत अच्छी तरह करेंगे और जिस भयंकर परिस्थितिमें आजकल लोगोंको काम करना पड़ता है, उसका सुधार किये बिना न रहेंगे। यदि लंदनकी जमीनके भीतरकी मोरियोंमें हक्सले-जैसे वैज्ञानिकको पांच-छः घंटे भी बिताना पड़ता तो विश्वास रखिये कि वह उन्हें वैसी ही आरोग्यकर बना देनेका उपाय निकाल लेता जैसी उसकी शरीर-शास्त्रकी प्रयोगशाला थी।

अधिकांश श्रमिकोंको आलसी कहना तो ऐसी असंगत बात है जो केवल जड़वादी अर्थशास्त्रियों और परोपकार-व्रती व्यक्तियोंके मुंहसे ही निकल सकती है।

आप किसी समझदार कारखानेदारसे पूछें तो वह आपको बतायेगा कि अगर श्रमिक ढिलाईसे काम करनेकी ठान लें तो सारे कारखाने बंद कर देने पड़ें। फिर तो कितनी भी सख्ती की जाय और कैसी ही निगरानी रखी जाय, सब बेकार होगा। आपने देखा होगा कि सन् १८८७ में जब कुछ आदोलनकारियोंने 'थोड़ा दाम, थोड़ा काम,' के सिद्धात "और धीरे चलो, बूतेसे अधिक काम मत करो, और जितना हो सके नुकसान करो," का प्रचार आरंभ किया तो इंगलैंडके कारखानेदारोंमें कैसा आतंक छा गया था। जो लोग एक ही दिन पहले श्रमिकोंको नीति-भ्रष्ट और उनके कामको बुरा बताते थे वे ही चिल्लाने लगे कि "ये आंदोलनकारी मजदूरोंको बिगाड़ते-बहकाते और हमारे उद्योग-धंधोंको नष्ट कर डालना चाहते हैं।" पर यदि श्रमिक खुद ही सुस्त या आलसी होते और केवल निकाल दिये जानेके डरसे ही काम करते होते, तो उन्हें बिगाड़ने-बहकानेकी बातका मतलब ही क्या होता?

इसलिए जब हम कहते हैं कि समाजमें आलसी लोग भी हो सकते हैं तो समझ रखना चाहिए कि यह बात थोड़ेसे आदमियोंके बारेमें ही है। इस अल्प-संख्याके लिए कोई कानून बनानेसे पहले इसके आलस्यके मूल-कारणको मालूम कर लेना क्या समझदारीकी बात न

होगी ! विवेक-दृष्टिसे देखनेवाला व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि जो लड़का स्कूलमें सुस्त कहा जाता है उसकी सुस्तीका कारण यह है कि उसको बुरे ढंगसे पढ़ाया जाता है, और इसीलिए वह विषयको समझता नहीं। अक्सर लड़केके दिमागमें खूनकी कमीकी शिकायत होती है, जो दरिद्रता या अस्वास्थ्यकर शिक्षाका फल होती है। जो लड़का संस्कृत या अरबीके विषयमें सुस्त होता है वह साइंसमें तेज हो सकता है, खासकर जब उसे शारीरिक कामकी सहायतासे पढ़ाया जाय। जो लड़की गणितमे कमजोर होती है उसे जब संयोगवश कोई ऐसा पढ़ानेवाला मिल जाता है जो उसे गणितके वे मूल-सिद्धांत समझा देता है जो उसकी समझमें नहीं आये थे, तब वह अपने दर्जेमें हिसाबमें सबसे तेज हो जाती है। एक श्रमिक, जो कारखानेमे तो ढिलाईसे काम करता है, किंतु तड़के ही अपने बगीचेको खोदने-सींचनेमे लग जाता है, और रात होनेपर जब सारी प्रकृति विश्राम करती है तब फिर काम करता है।

किसीने कहा है कि जो चीज अपने नियत स्थानपर नहीं होती वही कूड़ा है। जो लोग सुस्त कहलाते हैं उनमेसे दसमेसे नौके बारेमे भी यही कहा जा सकता है। ये लोग ऐसे रास्तेपर बहक गये हैं जो उनके स्वभाव या योग्यताके अनुकूल नहीं है। महान् पुरुषोंके जीवन-चरित्र पढ़ते समय हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनमेसे बहुतेरे आलसी थे। वे तबतक आलसी रहे जबतक उन्हे ठीक रास्ता नहा मिला, ठीक रास्ता मिलते ही वे अति परिश्रमी बन गये। डारविन, स्टिफेनसन आदि अनेक खोजी और आविष्कारक आलसियोंकी इसी श्रेणीके थे।

अक्सर सुस्त आदमी वही होता है जिसे यह पसंद नहीं है कि वह जिंदगीभर पिनका अटारहवां भाग या घड़ीका सौवां हिस्सा ही बनाता रहे, और जो यह अनुभव करता है कि उसके पास बहुत अधिक शक्ति है और उसे किसी दूसरे ही काममें लगाना पसंद करता है। वह यह नहीं चाहता कि वह तो जीवन भर किसी कारखानेकी बेंचपर कमर तोड़ता रहे और उसका मालिक उसकी बदौलत गुलछर्रे उड़ाता रहे। वह यह भी जानता है कि मालिकसे मेरी खोपड़ीमें कुछ ज्यादा ही अकल

है, पर मेरा कुसूर इतना ही है कि मैंने महलमें जन्म न लेकर गरीबकी कुटियामें जन्म लिया।

आलसियोंमें बहुत बड़ी संख्या तो ऐसे लोगोंकी होती है जो इस कारण आलसी हैं कि जिस कामसे वे पेट पालते हैं उसे अच्छी तरह नहीं जानते। वे देखते हैं कि उनके हाथसे जो चीज बनती है वह सदोष बनती है या अच्छी नहीं बनती। वे उसे अच्छी बनानेका यत्न भी करते हैं, पर बना नहीं पाते। इससे वे समझने लगते हैं कि जिस बुरे ढंगसे हमें काम करनेकी आदत लग गयी है उसके कारण हम कभी सफल नहीं हो सकते। तब वे अपने कामसे घृणा करने लगते हैं। उन्हें दूसरा काम आता नहीं, इस कारण सभी कामोंसे उन्हें नफरत हो जाती है। हजारों कारीगर और कलाकार इसी दोषके कारण असफल होते हैं।

परंतु जिसने छोटी उम्रसे ही अच्छी तरह बाजा बजाना, मूर्ति गढ़ना या चित्र बनाना सीख लिया है, और इस कारण जिसे यह विश्वास है कि जो काम मैं करता हूं वह सुंदर होता है, वह अपने धंधेको कभी न छोड़ेगा। उसको अपने काममें आनंद मिलता है और उससे वह थकता नहीं, जब तक कि वह अपनी शक्तिसे बहुत अधिक श्रम न करे।

भिन्न-भिन्न कारणोंसे पैदा होनेवाले बहुतसे परिणामोको 'आलस्य'-का नाम दे दिया गया है। उनमेंसे हरएक समाजके लिए हानिकारक होनेके बदले उपयोगी हो सकता है। अपराध-प्रवृत्ति और मानव-प्रवृत्तियोंसे संबंध रखनेवाले सभी प्रश्नोंके समान इस विषयमें भी ऐसे तथ्य इकट्ठा किये गये हैं जो एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। लोग आलस्य या अपराधकी निंदा करते हैं, पर इनके कारणोंके विश्लेषणका कष्ट नहीं उठाते। वे जल्दीसे इन दोषोंके लिए लोगोंको दंड दे देते हैं और इसपर विचार नहीं करते कि कहीं यह दंड ही तो 'सुस्ती' या 'अपराध'की प्रवृत्तिको न बढ़ा देगा।*

---

* इस विषयमें लेखककी पुस्तक In Russian and French Prisons (रूसी और फ्रेंच जेल खानोंमें) पठनीय है।

इस कारण यदि किसी स्वाधीन समाजमें आलसियोंकी संख्या बढ़ने लगेगी तो वह दंड देनेके पहले इस दोषका कारण ढूंढेगा, जिससे वह दूर किया जा सके। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अगर कोई लड़का इसलिए सुस्त है कि उसे रक्तन्यूनताका रोग है तो उसके दिमागमें विज्ञान ठूंसनेकी कोशिश न कीजिये। इसके पहले उसके शरीरकी पुष्टिका उपाय कीजिये जिसमे उसमें खून बढ़े और ताकत आये। उसे देहातमें या समुद्रतटपर ले जाइये ताकि उसका समय भी व्यर्थ नष्ट न हो। वहां उसे पुस्तकोंसे नहीं, किंतु प्रकृतिके द्वारा पढ़ाइये। दो मीनारोंके बीचकी दूरी या किसी पेड़की ऊंचाई नापकर रेखागणित सिखाइये, फूल तोड़ते हुए या समुद्रमें मछली पकड़ते समय प्रकृति-विज्ञान पढ़ाइए, और जिस नावमे बैठकर वह मछली मारने जायगा उसे बनाते समय पदार्थ-विज्ञानकी शिक्षा दीजिये। पर दया करके उसके दिमागमें बड़े-बड़े कवियों-लेखकोंके वाक्य और मृत भाषाएं मत ठूंसिये। उसको आलसी मत बनाइये!

अथवा एक ऐसा लड़का है जिसमें न कोई ढब-सलीका है, न उसकी आदतें ही नियमित हैं। बालकोंको पहले अपने बीचमें ही व्यवस्थाको आदत डालने दीजिये, फिर प्रयोगशाला और कारखाने, जहां थोड़ी जगहमें काम करना होगा, बहुतसे औजार इधर-उधर बिखरे होंगे, और एक बुद्धिमान् शिक्षक उन्हे बतानेवाला होगा, व्यवस्था सिखा देगें। पर अपने स्कूलमें व्यवस्था सिखाकर उन बालकोंको अव्यवस्थित प्राणी मत बनाइये। आपके स्कूलोंमे सिवाय इसके कि एक-सी बेंचे पांतमें सजाकर रखी रहती हैं और कौन-सी व्यवस्था होती है? वे तो वास्तवमें शिक्षणकी अव्यवस्थाके सच्चे नमूने हैं। कोई भी बालक उनसे समन्वय, संगति और व्यवस्थित रूपसे कार्य करना नहीं सीखता।

भिन्न-भिन्न अस्सी लाख योग्यताएं रखनेवाले अस्सी लाख विद्यार्थियों-के लिए आपका शिक्षा-विभाग कोई एक शिक्षण-पद्धति बना देता है। क्या आप नहीं समझते कि मामूली दर्जेकी योग्यता रखने वालोंकी बनायी हुई योजना मध्यम योग्यता वालोंके लिए ही उपयुक्त हो सकती है? जिस तरह

आपके कारागार अपराधोंके विश्वविद्यालय हैं, उसी तरह आपके स्कूल आलस्यके विद्यापीठ हैं। स्कूलको स्वतंत्र कर दीजिये, अध्यापकोंके दरजे तोड़ दीजिये, और स्वयंसेवक अध्यापकों—शौकसे पढ़ानेवालों—के लिए अपील निकालिये। इसी नुस्खेसे सुस्तीका इलाज कीजिये; उसे भगानेके लिए कानून न बनाइये, क्योंकि उनसे तो यह मर्ज और बढ़ता है।

जो मजदूर किसी चीजके एक छोटे-से हिस्सेको बनानेमें ही जिंदगी-भर लगे रहना नहीं चाहता, अपनी छोटी-सी फीतेकी मशीनपर काम करते-करते जिसका दम घुट रहा है, उसे जमीन जोतने, जंगलमें जाकर पेड़ काटने, तूफानी समुद्रमें जहाज या नाव चलाने दीजिये, एंजिनपर दौड़नेका मौका दीजिये, पर किसी छोटी-सी मशीन चलाने, पेंचके सिरेपर धारी बनाने या सुईकी नोकमें छेद करनेमें सारी जिंदगी बितानेको मजबूर करके उसे सुस्त, आलसी न बनाइये।

सुस्तीका कारण दूर कर दीजिये और विश्वास रखिये कि फिर ऐसे आदमी इने-गिने ही निकलेंगे जिन्हें कामसे, खासकर अपनी खुशीसे किये जानेवाले कामसे सचमुच नफरत हो, और उनके लिए आपको दंड-विधान बनानेकी जरूरत न पड़ेगी।

: १३ :

# समष्टिवादियोंकी वेतन-व्यवस्था

## १

समष्टिवादी ( Collectivist ) दलके साम्यवादियोंने समाजके पुनस्संघटनके लिए जो योजना बनायी है उसमें हमारी रायमें दो गलतियां हैं। वे यह तो कहते हैं कि पूंजीवादी शासनको मिटा देना चाहिए, पर दो बातोंको वे कायम रखना चाहते हैं—प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन और मजदूरीकी व्यवस्था। और येही दोनो चीजें पूंजीवादी शासनकी जड़ हैं।

प्रतिनिधि-शासनके विषयमे हम कई बार अपने विचार बता चुके हैं। फ्रांसमें, इंगलैंडमें, जर्मनीमें और संयुक्तराष्ट्र ( अमेरिका ) मे अबतक उसके इतने कुपरिणाम प्रकट हो चुके हैं कि हम यह समझ ही नहीं पाते कि कैसे कोई समझदार आदमी अब भी देश या नगरोकी पार्लमेंटोंका हिमायती बना रह सकता है।

हम देख रहे हैं कि पार्लमेंटो या प्रतिनिधि-शासन टूटता जा रहा है, और सब तरफसे उसपर नुक्ताचीनियोंकी बौछार हो रही है, बल्कि दिन-दिन ज्यादा जोरसे हो रही है—उसके परिणामोंपर ही नहीं उसके सिद्धांतोंपर भी। फिर भी, मालूम नहीं क्यों, क्रांतिकारी साम्यवादी इस चंद दिनकी मेहमान प्रणालीका समर्थन करते हैं?

प्रतिनिधि-शासनका निर्माण मध्यम-वर्गके लोगोंने किया और इसलिए किया कि वे राजाके अधिकारोंका मुकाबला कर सकें और साथ ही श्रमिक वर्गपर अपना वैध राज कायम कर सकें तथा उसे दृढ़ कर सकें। अतः पार्लमेंटी शासन मुख्यतः मध्यम-वर्गका शासन है। इस शासन प्रणालीके समर्थकोंने कभी इस बातपर ज्यादा जोर नहीं दिया कि पार्लमेंट या म्युनिसिपल कौंसिल राष्ट्र या नगरकी प्रतिनिधि है। उनके अधिक

बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि यह बात असंभव है। मध्यमवर्गने पार्लमेंटी शासनको महज इसलिए अपनाया कि इस किलेमें बैठकर वह राजाके अधिकारोंसे लड़ सके और साधारण जनताको स्वतंत्रता भी न दे। पर क्रमशः ज्यों-ज्यों सर्वसाधारण अपने हिताहितको समझने लगे और उसका क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, यह प्रणाली अव्यवहार्य साबित होती जा रही है। इसलिए सब देशोंके लोकतंत्रवादी इसके दोषोंके सुधारके लिए तरह-तरहके उपाय सोच रहे हैं। पर सब व्यर्थ हो रहा है। 'रेफरेंडम' ( Referendum )* या लोक-निर्णयकी व्यवस्थाकी परीक्षा की गयी और असफल हुई। विभिन्न समुदायोंको उनकी संख्याके अनुपातसे प्रतिनिधित्व ( Proportional Representation ) और अल्पसंख्यकोंको विशेष प्रतिनिधित्व देने तथा अन्य आदर्श पार्लमेंटी व्यवस्थाएं सोची जा रही हैं। संक्षेपमें वे असाध्यके साधनका यत्न करते हैं और हर नये प्रयोगके पश्चात् उसकी विफलता उन्हें स्वीकार करनी पड़ती है। इसका नतीजा यह होरहा है कि प्रतिनिधि-शासनपरसे लोगोंका विश्वास दिन-दिन उठता जा रहा है।

मजदूरी-व्यवस्थाके विषयमें भी यही बात है। जब सब प्रकारकी व्यक्तिगत संपत्तिकी समाप्तिकी घोषणा हो जायगी और उत्पत्तिके साधनोंपर समाजका स्वामित्व स्थापित हो जायगा तब यह व्यवस्था किसी भी रूपमें कैसे कायम रह सकेगी ? पर समष्टिवादी 'महान समष्टिवादी कारखानेदार'—राज्यको श्रमके बदलेमें 'लेबर चेक' या 'मजदूरीकी हुंडी' देनेकी सलाह देकर इसी अनहोनी बातकी कोशिश कर रहे हैं।

राबर्ट ओवेनके समयसे इंगलैंडके आरंभिक साम्यवादियोंने लेबरचेककी प्रणालीको क्यों अपनाया, यह समझना आसान है। उन्होंने केवल पूंजीपतियों और श्रमिकोंमें समझौता करानेकी चेष्टा की। उन्होंने क्रांतिकारी

---

*किसी विशेष प्रश्न या विधानपर संपूर्ण निर्वाचकोंका मत लेकर निर्णय करानेकी व्यवस्था।

उपायोंसे पूंजीपतियोंकी संपत्तिपर कब्जा करनेके विचारका खंडन किया।

बादमें प्रूदों*ने भी यही मत स्वीकार किया। अपनी अन्योन्याश्रयवादी (Mutualist) व्यवस्थामें वह व्यक्तिगत संपत्तिको कायम रखना चाहता था, फिर भी पूंजीके कुछ जहरीले दांत तोड़ देना चाहता था। व्यक्तिगत संपत्तिसे उसे आंतरिक घृणा थी, पर राज्यसे व्यक्तिकी रक्षाके लिए वह उसे आवश्यक समझता था।

अगर कुछ अर्थशास्त्री भी, जिनका झुकाव थोड़ा-बहुत मध्यमवर्गकी ओर है, ऐसे हैं जो लेबर-चेकके सिद्धांतको स्वीकार करते हैं तो यह कोई अचरजकी बात नहीं। उन्हें इसकी परवाह नहीं कि मजदूरको 'लेबर-नोट' दिये जायं या ऐसे सिक्के, जिनपर प्रजातंत्र या साम्राज्यकी मुहर हो। उन्हें तो केवल इसकी चिंता है कि मकान, जमीन और कारखानोंपर व्यक्तियोंका स्वामित्व बना रहे—कम-से-कम मकान और उद्योग-धंधोंमें लगनेवाली पूंजी तो अवश्य निजी संपत्ति बनी रहे। और 'लेबर-नोट' की व्यवस्थासे इस उद्देश्यकी सिद्धि हो ही जाती है।

जबतक लेबर-नोट देकर गहने या बग्घियां-मोटरें मिल सकेंगी तबतक तो मकान-मालिक किरायेमें उन्हें भी खुशीसे ले लेगा। और जबतक मकान, खेत और कारखाने कुछ लोगोंकी व्यक्तिगत संपत्ति हैं तबतक तो खेतों या कारखानोंमें काम करने और मकानोंमें रहनेके बदले मालिकको किसी-न-किसी रूपमें कुछ नजर करना ही पड़ेगा। जबतक सोने, नोट या चेकसे सब प्रकारकी चीजें खरीदी जा सकती हैं, तबतक मालिक लगान या किरायेमें इनमेंसे किसीको भी स्वीकार कर लेंगे, बशर्तेकि श्रमपर कर लगा रहे और उसे लगानेका अधिकार उन्हींको हो। पर हम लेबर-नोटकी व्यवस्थाका समर्थन कैसे कर सकते हैं, जो मजदूरी-व्यवस्थाका ही नया रूप है और जब हम यह मानते हैं कि मकान, खेत और कारखाने किसीकी निजी संपत्ति न रहेंगे, बल्कि सारे-ग्राम, नगर या राष्ट्रकी चीज होंगे।

---

*इन लोगोंके परिचयके लिए भूमिका देखिये।

## २

फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड और इटलीके समष्टिवादी श्रमिकोंको मजदूरी-में लेबर-चेक देनेके सिद्धांतका प्रचार करते हैं। स्पेनके अराजक साम्य-वादी, जो अबतक अपनेको समष्टिवादी ही कहते हैं, समष्टिवादसे यह अर्थ लेते हैं कि उत्पत्तिके साधनोंपर तो सबका संयुक्त अधिकार हो, पर उत्पत्तिको आपसमें बांट लेनेकी प्रत्येक समुदायको स्वतंत्रता रहे, वह चाहे समाजवादी सिद्धांतके अनुसार बंटवारा करे अथवा और किसी सिद्धांतके अनुसार। हम इस व्यवस्थापर बारीकीसे विचार करना चाहते हैं।

इस सिद्धांतका खुलासा यह है—हरएक आदमी खेत, कारखाने, स्कूल, अस्पताल आदिमें काम करता है। सारी जमीन, सब कारखाने और सड़कें आदि राज्यकी संपत्ति हैं और वही श्रम-दिवस निश्चित करता है। एक श्रम-दिवसकी मजदूरीके बदलेमें एक लेबर-नोट दिया जाता है, जिसपर लिखा होता है—'आठ घंटेका श्रम'। इस चेकसे श्रमकर्त्ता सरकारी या विभिन्न संघोंके भंडारोंसे सब सामान पा सकता है। रुपयेकी भांति इस चेकके भी टुकड़े हो सकते हैं। इसलिए आप एक घंटेके श्रमका आटा, दस मिनटके श्रमकी दियासलाई या आधे घंटेके श्रमकी तम्बाकू खरीद सकते हैं। समष्टि-वादी क्रांति हो जानेके बाद हम 'दो आनेका साबुन' न कहकर 'पाँच मिनटका साबुन' कहेंगे।

मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियोंने ( मार्क्सने भी ) श्रमके दो विभाग किये हैं। एक सीखकर किया जानेवाला कार्य, दूसरा साधारण काम। अधिकांश समष्टिवादी इस भेदको ठीक मानते हुए कहते हैं कि शिक्षाकी अपेक्षा रखने-वाले या किसी खास पेशे—डाक्टर, वकील आदिके कामकी उजरत साधारण श्रमकी अपेक्षा कुछ अधिक होनी चाहिए। मसलन् डाक्टरके एक घंटेके कामको नर्सके दो या तीन घंटेके अथवा साधारण मजदूरके तीन या पांच घंटेके कामके बराबर मानना होगा। समष्टिवादी लेखक ग्रोनलंड कहता है कि 'खास पेशों या विशेष योग्यताके कामका मूल्य साधारण श्रमसे 'कई गुना

अधिक माना जायगा, क्योंकि इस तरहके काममें थोड़ा-बहुत समय काम सीखनेमें लगाना ही पड़ता है।"

फ्रांसीसी साम्यवादी जेसदे जैसे कुछ समष्टिवादी इस अंतरको नहीं मानते। वे 'पारिश्रमिककी समानता' की घोषणा करते हैं। उनके मतानुसार एक मामूली मजदूरको जिस हिसाबसे उजरत मिलेगी उसी हिसाबसे वह डाक्टर, अध्यापक और प्रोफेसरको भी ( लेबर-चेकोंके रूपमें ) दी जायगी। अस्पतालमें आठ घंटे बीमारोंकी देख-भाल करना या आठ घंटे मिट्टी खोदना, खान खोदना या कारखानेमें मेहनत करना, दोनोंकी कीमत बराबर होगी।

कुछ लोग थोड़ी और रिआयत करनेको तैयार हैं। वे मानते हैं कि अरुचिकर या अस्वास्थ्यकर काम—जैसे मोरियोंकी सफाई—की मजदूरी रुचिकर कामकी अपेक्षा अधिक दी जा सकती है। उनका कहना है कि मोरी साफ करनेवालेके एक घंटेकी मेहनत प्रोफेसरके दो घंटेके श्रमके बराबर मानी जानी चाहिए।

हम यह भी बता देना चाहते हैं कि कुछ समष्टिवादी मानते हैं कि भिन्न-भिन्न व्यवसायोंके संघोंको उनके कामके बदलेमें इकट्ठा रुपया दे देना चाहिए। जैसे एक व्यवसाय-संघ यह कहे कि "यह लो सौ टन लोहा। सौ श्रमिक इसकी उत्पत्तिमें लगे और उनके दस दिन इस काममें लग गये। उनका श्रम-दिवस आठ घंटेका था, अतः उन्होंने इस लोहेको आठ हजार श्रम-घंटोंमें प्रस्तुत किया। अर्थात् एक टनपर आठ घंटे लगे।" इस कामके बदलेमें राज्य उन्हें एक-एक घंटेके आठ हजार लेबर-नोट दे देगा और लोहेके कारखानेके श्रमिक उनको जिस तरह उचित समझेंगे आपसमें बांट लेंगे।

इसी प्रकार सौ खनिक आठ हजार टन कोयला बीस दिनमें खोद लेते हैं तो एक टन कोयलेका मूल्य दो घंटेका श्रम हुआ। राज्य खनिकसंघको एक-एक घंटेके सोलह हजार लेबर-नोट दे देगा और वह उन्हें अपने सदस्योंमें, जिसका कार्य जितने मूल्यका समझा जायगा, उस हिसाबसे बांट देगा।

अगर खनिकोंने एतराज किया कि लोहेका मूल्य प्रति टन आठ घंटेका नहीं छः घंटेका ही श्रम होना चाहिए, यदि प्रोफेसर कहे कि मेरे एक दिनका मूल्य नर्सके एक दिनका चौगुना होना चाहिए, तो राज्य दखल देकर झगड़ा निपटा देगा।

संक्षेपमें यही वह संगठन है जिसे समष्टिवादी साम्यवादी क्रांतिके द्वारा स्थापित करना चाहते हैं। उनके सिद्धांत इस प्रकार हैं– उत्पत्तिके साधनोंपर सबका सामूहिक स्वामित्व हो, हर एकको उतनी ही मजदूरी दी जाय जितना समय उसने वस्तुकी उत्पत्तिमें लगाया हो, साथ ही इसका भी ध्यान रखा जाय कि उसके श्रमकी उत्पादन-शक्ति कितनी है। राजनीतिक व्यवस्था प्रतिनिधि-शासनके ढंगकी होगी, पर उसमें इतना अंतर होगा कि जो लोग प्रतिनिधि चुने जायंगे उन्हें निश्चित आदेश दिये जायंगे और 'लोक-निर्णय'की प्रणाली काममें लायी जायगी।

हमें कहना पड़ेगा कि यह प्रणाली हमें सर्वथा अव्यवहार्य जान पड़ती है।

समष्टिवादी पहले तो एक क्रांतिकारी सिद्धांत—व्यक्तिगत संपत्तिका अंत कर देने—की घोषणा करते हैं और फिर उत्पत्ति और उपभोगकी उस व्यवस्थाका समर्थन करके, जो व्यक्तिगत संपत्तिसे उत्पन्न हुई है, तुरंत ही उसका खंडन भी कर डालते हैं।

वे क्रांतिकारी सिद्धांतकी घोषणा तो करते हैं, पर उन परिणामोंको भूल जाते हैं जिनका उससे उत्पन्न होना अनिवार्य है। श्रमके साधनों—जमीन, कारखानों, सड़कों, पूंजी आदि—पर जब व्यक्तिका स्वामित्व न रह जायगा, तब समाजकी जीवन-धारा बिल्कुल ही नयी दिशामें प्रवाहित होने लगेगी, उत्पादनकी वर्तमान व्यवस्था, साध्य और साधन दोनोंकी दृष्टिसे बिलकुल बदल जायगी और ज्योंही भूमि, मशीनरी और उत्पत्तिके अन्य साधन सबकी सामान्य संपत्ति मान लिये जायंगे, व्यक्तियोंका आपसका साधारण संबंध दूसरा हो जायगा।

वे मुंहसे तो कहते हैं कि "व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रहनी चाहिए", पर साधारण व्यवहारमें उसे कायम रखनेकी कोशिश करते हैं। वे कहते हैं—

"उत्पादनके विषयमें तो तुम्हारा संगठन साम्यवादी या संयुक्त स्वामित्वका होगा। खेत, औजार, मशीनरी और आजतकके सारे आविष्कार—कारखाने, रेलवे, बंदरगाह, खानें आदि—सब तुम्हारे हैं। इस सम्मिलित संपत्तिमें हर एकके हिस्सेके बारेमें तनिक भी भेद-भाव न किया जायगा।

"परंतु आगेसे तुम इस बातपर भली-भांति बहस-विचार कर लेना कि नयी मशीनें बनाने और नयी खानें खोदनेमें तुम्हारा भाग कितना होगा। तुम सावधानीसे हिसाब लगा लेना कि नयी उत्पत्तिमें तुम्हारा हिस्सा कितना है। तुम अपने श्रमके मिनटोंको गिन लेना और इसका ध्यान रखना कि तुम्हारे पड़ोसीके मिनटका मूल्य तुम्हारे मिनटसे अधिक न हो जाय।

"पर घंटेका हिसाब ही क्या? किसी कारखानेमें तो बुनकर एक साथ छः-छः करघे चला लेता है, किसीमें दो ही चला पाता है। इसलिए तुम इसका हिसाब लगाना कि चीजके बनानेमें तुम्हारी देह, दिमाग और नाड़ी-संस्थान (नर्व सिस्टम) की कितनी-कितनी शक्ति व्यय हुई है। भविष्यकी उत्पत्तिमें प्रत्येकका कितना हिस्सा होगा, इसका ठीक-ठीक हिसाब लगानेके लिए तुम इसका भी हिसाब रखना कि हर एकको अपना काम सीखनेमें कितने बरस लगाने पडे थे। मगर यह हिसाब क्रांतिके बादके उत्पादनका ही रखा जायगा, जो उत्पत्ति उसके पहले हो चुकी है उसके विषयमें प्रत्येक व्यक्तिके भागका विचार न किये जानेकी घोषणा कर दी जायगी।"

हमारे लिए तो यह बात स्पष्ट है कि कोई भी समाज दो परस्पर विरोधी एक दूसरेको काटनेवाले सिद्धांतोंपर आश्रित नहीं रह सकता; और जिस राष्ट्र, नगर या ग्राम-समूहका ऐसा संघटन होगा उसे मजबूर होकर उत्पत्तिके साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्वके सिद्धांतकी ओर लौटना होगा या फिर पूरा साम्य-वादी बन जाना पडेगा।

## ३

हम पहले कह चुके हैं कि कुछ समष्टिवादी लेखकोंकी राय है कि विशेष शिक्षाकी अपेक्षा रखनेवाले या पेशेके काम और साधारण काममें

अवश्य भेद किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि एक इंजीनियर या डाक्टरके एक घंटेका काम एक लुहार, बढ़ई या नर्सके दो या तीन घंटेके कामके बराबर समझा जाना चाहिए और ऐसा ही भेद किसी मामूली मजदूरके काममें और उन सब कामोंमे होना चाहिए जिन्हें कुछ दिन सीखनेकी जरूरत होती है।

लेकिन ऐसा अंतर करनेके लिए तो वर्तमान समाजकी सारी असमानताएं कायम रखनी पड़ेंगी। इसके मानी तो यह होंगे कि शुरूसे ही श्रमिकों और उनपर हुकूमत करनेके दावेदारोंके दो अलग वर्ग मान लिये जायं। इसका अर्थ होगा समाजको दो भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभाजित कर देना। एक श्रेणीमें उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग होंगे और दूसरीमें मेहनत-मजदूरी करनेवाले नीचे दर्जेके सब लोग। इस दूसरे वर्गकी 'तकदीर' होगी पहले वर्ग वालोंकी सेवा करते रहना और अपनी मेहनतसे उन लोगोंके लिए भोजन-वस्त्र जुटाना, जो अपने अवकाशका उपयोग अपना पालन-पोषण करनेवालोंपर शासन करनेकी कला सीखनेमें करते हैं।

इसका मतलब यह होगा कि वर्तमान समाजकी एक मुख्य विशेषताको फिरसे जिला दिया जाय और साथ-साथ उसे साम्यवादी क्रांतिका समर्थन भी प्राप्त हो जाय। इसका मतलब होगा हमारे पुराने गिरते-टूटते हुए समाजमें भी जो चीज निंदनीय समझी जाती रही है, उसीको सिद्धांतके पदपर बिठा देना।

पर इसका जवाब हमे क्या मिलेगा, यह हमें मालूम है। वे 'वैज्ञानिक साम्यवाद'की बात कहेंगे। मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियों और मार्क्सके भी वचनोंको उद्धरण देकर यह सिद्ध करना चाहेंगे कि मजदूरीकी अलग-अलग दर रखनेका कारण है, क्योंकि समाजको इंजीनियर-पलटन बनानेमें मजदूर-पलटन बनानेसे अधिक शक्ति खर्च करनी पड़ती है। क्या अर्थशास्त्रियोंने यह साबित करनेकी कोशिश नहीं की है कि इंजीनियरको मजदूरसे बीस गुना वेतन इसलिए मिलता है कि एक इंजीनियर तैयार करनेमें जो पूंजी लगती है वह एक मजदूरके तैयार करनेमे लगनेवाली पूंजीसे अधिक होती है? खुद मार्क्सने भी माना है कि शारीरिक श्रमके दो विभागोंमें भी यह

भेद किया जाना चाहिए। उसने तो रिकाडो* का मूल्य-विषयक सिद्धांत स्वीकार कर लिया और मान लिया कि वस्तुओंके विनिमय-मूल्यमें वही अनुपात होता है जो उनके उत्पादनमें लगनेवाले श्रममें होता है—श्रमके ही हिसाबसे वह कमोबेश होगा। इसलिए वह दूसरे नतीजेपर पहुँच ही न सकता था।

परंतु हम जानते हैं कि यह जवाब कितना गलत है। हम जानते हैं कि आज इजीनियर, वैज्ञानिक या डाक्टरको मजदूरसे जो दस गुना या सौ गुना अधिक वेतन मिलता है और मिलमें कपड़ा बुननेवालेको जो खेतके मजदूरसे तिगुनी या दियासलाईके कारखानेमें काम करनेवाली लड़कीकी मजदूरीसे दस गुनी उजरत दी जाती है, तो इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें 'तैयार करनेमें' समाजकी लागत ज्यादा लगी है, बल्कि यह है कि शिक्षा या उद्योग-धंधोंपर उनका इजारा हो गया है। इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता अथवा डाक्टर भी उसी तरह अपनी पूंजी, अपनी उपाधियोंका लाभ उठाते हैं जिस तरह मध्यमवर्गका कारखानेदार अपने कारखानेसे नफा कमाता है, या राजा-नवाब अपने पदका लाभ उठाया करते थे।

अगर कारखानेदार इजीनियरको मजदूरसे बीस गुना अधिक वेतन देता है तो इसका कारण है उसका अपना स्वार्थ। अगर इंजीनियर कारखानेदारको उत्पादनके खर्चमें साल भरमें ४००० पौंडकी बचत कर दिखाता है, तो कारखानेदार उसे ८०० पौंड दे देता है; अगर कारखानेदारके यहां कोई ऐसा फोरमैन है जो मजदूरोंसे अधिक काम लेकर चतुराईसे ४०० पौंडकी बचत कर लेता है तो वह खुशीसे उसे ८० या १२० पौंड वार्षिक भी दे देता है। अगर उसे ४०० पौंडका लाभ होता नजर आये तो वह ४० पौंड और खर्च कर देता है। यही पूंजीवादी प्रणालीका सार है। सब धंधों-व्यवसायोंमें यही अंतर दिखाई देता है।

इसलिए समष्टिवादियोंका यह कहना गलत है कि सीखे हुए काम-का मूल्य इसलिए अधिक होता है कि उसपर अधिक लागत बैठी है;

*प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री, समय १७७२—१८२३।

या उस विद्यार्थीको जिसने बड़े आनंदसे विश्वविद्यालयमें अपनी किशोरावस्था बितायी है, उस खनिकके लड़केसे, जो ग्यारह वर्षकी उम्रसे कोयलेकी खानमें काम करते-करते पीला पड़ गया है, दस गुना वेतन पानेका हक है, अथवा मिलवा बुनकर खेतके मजदूरकी तुलनामें तीन या चार गुना अधिक वेतन पानेका अधिकारी है। किसानको किसानी सिखानेमें जो खर्चा लगता है, बुनकरको बुनाई सिखानेमें उसका चौगुना नहीं लगा करता। बुनकरका वस्त्र-उद्योग, जिन देशोंमें अभी कल-कारखाने नहीं हैं, वहां अपना माल बेचकर खूब नफा कमाता है। खेतीके धंधेकी अपेक्षा शिल्प-उद्योगको सब राज्योंने अधिक सुविधाएं भी दे रखी हैं। बस बुनकर इन्हीं सुविधाओंका लाभ उठाता है।

किसीने अभीतक माल पैदा करनेवालेका 'उत्पादन-व्यय' नहीं निकाला। अगर यह एक काहिल रईसके बनानेमें एक श्रमिकको तैयार करनेकी अपेक्षा समाजको अधिक खर्चा करना पड़ता है, तो यह देखते हुए कि गरीब जनतामें कितनी बाल-मृत्युएं और अकाल मृत्युएं होती हैं, क्या एक स्वस्थ, तगड़े मजदूरको पैदा करनेमें एक कारीगरकी अपेक्षा समाजका व्यय अधिक नहीं हुआ है?

क्या हम मान लें कि अगर पेरिसकी एक मजदूर स्त्रीको १५ पेंस रोजाना मिलता है, ओवर्नीकी उस कृषक-लड़कीको जो बेल या फीता बनाते-बनाते अधी हो जाती है, ३ पेंस मिलता है, या एक खेतपर काम करनेवालेको २० पेंस मिलता है, तो इस अंतरका कारण यह है कि इसी अनुपातसे इनको 'तैयार करनेपर' कम या ज्यादा खर्चा पड़ा है? काम करनेवाले तो इससे भी सस्ती मजदूरीपर मिल जायंगे, पर इसका एकमात्र कारण यही है कि अगर वे यह नामकी मजदूरी स्वीकार न करें तो हमारे अद्भुत संगठनकी बदौलत बेचारे भूखों मर जायं।

हमारे मतसे पारिश्रमिककी ऊंची-नीची दरें, सरकारी टैक्स, राजकीय सहायता या संरक्षण और पूंजीपतियोंके एकाधिकारका मिश्रित फल या मिला-जुला नतीजा है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि राज्य और निजी पूंजी इस भिन्नताके कारण हैं। इसलिए हमारा कहना है कि वर्तमान अन्यायों-

के समर्थनकी आवश्यकतासे ही मजदूरी-संबंधी सारे सिद्धांत रचे गये हैं, फलतः हमें उनपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं।

वे यह भी कहेंगे कि समष्टिवादियोंकी मजदूरी-प्रणाली अधिक उन्नत व्यवस्था है। वे कहते हैं कि "आजकल एक मंत्रीका एक दिनका वेतन मजदूरकी सालभरकी मजदूरीसे अधिक होता है। इससे तो यह अच्छा ही होगा कि कुछ अच्छे कारीगर साधारण मजदूरसे दो या तीन गुना अधिक वेतन पायें। समानताकी दिशामे यह बहुत बड़ा कदम होगा।"

हमारी दृष्टिसे तो यह कदम आगे नहीं, पीछेकी ओर होगा। नये समाजमे सीखकर किये जानेवाले काम और मामूली कामका भेद करनेका अर्थ यह होगा कि जिस अन्यायको हम आज मजबूरन मानते हैं, पर जानते हैं कि वह अन्याय है, उसीको हमारी क्रांति सिद्धात मान ले। यह तो फ्रांसकी राष्ट्रसभाके उन सदस्योंकी नकल करना होगा, जिन्होने सन् १७८९में ४ अगस्तको जागीरदारोंके हक मिटा दिये और ८ अगस्तको फिर उन्हे कायम कर दिया, तथा उन्हें हर्जाना दिलानेके लिए किसानोंपर कर लगा दिये, यही नहीं, इन मुतालबोंको क्रांतिके संरक्षणमें भी ले लिया। रूसकी सरकारने भी हलवाहे-किसानोंकी मुक्तिके समय ऐसा ही किया था। उसने कुछ ऐसी जमीनके भी आगेसे जमींदारोंकी मान लिये जानेकी घोषणा कर दी जो पहले किसानोंकी समझी जाती थी।

एक अधिक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। १८७१की क्रांतिके अवसर पर पेरिसमे जो कम्यून-सरकार कायम हुई उसने तय किया कि उसकी कौंसिलके सदस्योंको रोजाना १२॥ शिलिंग पुरस्कार मिलेगा और नगरकी रक्षाके लिए लड़नेवालोंको १। शिलिंग रोजाना। उस समय यह निर्णय बहुत बड़ी लोकतंत्रोचित समानताका कार्य समझा गया। पर वास्तवमे कम्यूनने राजकर्मचारी और सैनिक, शासक और शासितकी पुरानी असमानताका ही अनुमोदन किया। एक अवसरवादी प्रतिनिधि-सभाका ऐसा निर्णय करना प्रशंसनीय लग सकता था, पर कम्यूनने तो अपने क्रांतिकारी सिद्धातोंको कार्य-रूप न देकर अपने ही हाथों उनको कब्रमें सुला दिया।

हमारी आजकी समाज-व्यवस्थामें मंत्रीको ४००० पौंड वार्षिक मिलता है और मजदूरको ४० पौंड या इससे कमपर संतोष करना पड़ता है। फोरमैन या मेठको साधारण श्रमसे भी दुगुना या तिगुना वेतन मिलता है। मजदूरोंमें भी ३ पेंस ( ३ आने ) से ८ शिलिंग (५।। रुपया) रोजाना तककी श्रेणिया हैं। हम मंत्रीके ऊंचे वेतनके जितने विरोधी हैं, उतने ही विरोधी एक मर्द मजदूरको ८ शिलिंग और गरीब देहाती लड़की को ३ पेंस मिलनेके भी हैं। हमारा नारा तो है—"शिक्षासे प्राप्त और जन्मगत विशेषाधिकार दोनोंका नाश हो!" हम इसीलिए तो अराजक सम्यवादी बने हैं कि इन विशेषाधिकारोंको देखकर हमारा कलेजा जल उठता है।

जब आजके सत्तावादी समाजमें भी इन विशेषाधिकारोंको देखकर हमारा खून खौल उठता है तो जिस समाजका जन्म समानताकी घोषणासे होगा क्या उसमे हम इन्हे बरदाश्त कर लेंगे ?

यही कारण है कि कुछ समष्टिवादी भी, यह देखकर कि क्रांतिके जोशसे भरे समाजमे मजदूरीकी भिन्न-भिन्न दरें कायम रखना असंभव होगा, कहते हैं कि सबको बराबर मजदूरी मिलनी चाहिए। पर उन्हें नयी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और उनका समान पारिश्रमिकका सिद्धांत भी वैसा ही ख़याली पुलाव साबित होता है जैसा दूसरे समष्टिवादियोंका भिन्न-भिन्न मजदूरीका सिद्धांत।

जो समाज सारी सामाजिक सपत्तिपर कब्जा कर लेगा और साहसके साथ संपत्तिपर सबके समान अधिकारकी घोषणा कर देगा—चाहे उसके उत्पादनमें उन्होने कम मेहनत की हो या ज्यादा—उस समाजको मजबूर होकर सब प्रकारकी मजदूरी-व्यवस्था छोड़ देनी पड़ेगी, चाहे वह सिक्कोमे दी जाती हो या 'लेबर-नोट'में।

## ४

समष्टिवादी कहते हैं कि "जो जितना करे वह उतना पावे"; अर्थात् समाजकी सेवामें जिसका जितना भाग है, उसको उतना ही मिले।

वे चाहते हैं कि ज्यों ही साम्यवादी क्रांति उत्पत्तिके साधनोंको सार्वजनिक संपत्ति बना दे त्यों ही यह सिद्धांत काममें लाया जाय। पर हमारा मत है कि यदि साम्यवादी क्रांतिने दुर्भाग्यवश ऐसे सिद्धांतको अपनाया तो वह अवश्य विफल होगी और पिछली शताब्दियोंने जो सामाजिक समस्या हमारे सिर पटक दी है वह वैसे ही, बिना हल हुए पड़ी रहेगी।

हमारे आजके समाजमें जो आदमी जितना अधिक काम करता है, वह उतना ही कम मजदूरी पाता है। ऐसे समाजमें अवश्य ही उक्त सिद्धात पहली निगाहमें न्यायकी चेष्टा प्रतीत हो सकता है, पर वास्तवमें वह अन्यायको अमर बनानेवाला है। इस सिद्धातकी घोषणासे ही मजदूरी-प्रथाका जन्म हुआ था, जिसका फल आजकी घोर विषमताएं और समाजके सारे वर्तमान घृणित दोष हैं। कारण यह है कि जिस क्षणसे कामका मूल्य सिक्कोंमें या मजदूरीके किसी और रूपमे आका जाने लगा, जिस दिन यह मान लिया गया कि जा आदमी जितनी मजदूरी पा सकता हो उसे उतनी ही मिलेगी, राज्यकी सहायतासे चलनेवाले पूंजीवादी समाजका सारा इतिहास मानो उसी दिन लिख डाला गया, वह इतिहास इस सिद्धांतमें बीजरूपमे मौजूद था।

तब फिर क्या हम उसी स्थानको लौट जायं जहांसे चले थे और विकासकी उन सारी मंजिलोको फिरसे तै करें? हमारे सिद्धांतवादी मित्र तो यही चाहते हैं, पर सौभाग्यवश यह है असंभव बात। हमारा मत है कि क्राति साम्यवादी ही होनी चाहिए, अन्यथा वह रक्त-प्रवाहमें बह जायगी और हमे दूसरी क्रांति करनी पड़ेगी।

समाजकी जो सेवाएं की जाती हैं, चाहे वे कारखाने या खेतमें किये गये श्रमके रूपमें हों, चाहे दिमागी कामके, उनका मूल्य रुपयोंमें नहीं आका जा सकता। उत्पादनकी दृष्टिसे मूल्यकी—जिसको भ्रमसे विनिमय-मूल्य कहते हैं—और न उसके व्यवहार मूल्यकी ही ठीक नाप-तौल हो सकती है। अगर दो आदमी बरसों समाजके लिए रोज पाँच घंटे भिन्न-भिन्न काम करते हैं, जो दोनोंकी अपनी-अपनी पसंद-के अनुसार हैं, तो हम कह सकते है कि सब मिलाकर दोनोंका श्रम

बराबर है। पर हम उनके कामके टुकड़े नहीं कर सकते और न यही कह सकते हैं कि एकके इतने दिन, घंटे या मिनटके कामका मूल्य दूसरेके इतने दिन, घंटे या मिनटके कामके बराबर है।

मोटे हिसाबसे हम यह कह सकते हैं कि जिस आदमीने रोज दस घंटे काम करते हुए अपना अवकाश-काल समाजको दिया है उसने उस आदमीसे उसकी बहुत अधिक सेवा की जिसने पांच घंटे काम करते हुए ही अपने आरामका वक्त उसे दिया या कुछ भी नहीं दिया। पर हम उसके दो घंटेके कामको लेकर यह नहीं कह सकते कि उसके दो घंटेके कामकी कीमत दूसरे आदमीके एक ही घंटेके श्रमके बराबर है और उसी हिसाबसे उनको मजदूरी मिलनी चाहिए। ऐसा करना तो इस बातको भूल जाना होगा कि आजका उद्योग-धधा, खेती और समाजका सारा जीवन ही किस हदतक एक दूसरेसे गुथा हुआ है। इस बातको भी भुला देना होगा कि व्यक्तिका काम कहांतक संपूर्ण समाजके भूत और वर्तमान श्रमका फल है। इसका अर्थ यह होगा कि हम अपनेको प्रस्तर-युगका प्राणी समझें, यद्यपि हम रहते हैं फौलादके युगमें।

आप कोयलेकी किसी आधुनिक खानमें जायं तो वहां एक भीमकाय मशीन देखेंगे जो एक पिंजरेको ऊपर उठाती और नीचे गिराती है। एक आदमी उस मशीनको चलाता है। उसके हाथमें एक 'लिवर' होता है जिससे मशीनकी गति रुक या बदल सकती है। वह ज्योंही उसे नीचे सरका देता है, पिंजरा दूसरी ओर चला जाता है। वह बिजलीकी-सी तेजीसे पिंजरेको खानके भीतर गिराता या ऊपर उठाता है। एक 'इंडिकेटर' (निदर्शक) से उसे मालूम होता रहता है कि किस सेकंडमें पिंजरा खानमें किस जगह पहुँचा। उसकी निगाह सदा उसी पुरजे पर रहती है और ज्योंही उसका कांटा एक स्थानपर पहुंच जाता है, वह पिंजरेकी गति रोक देता है। पिंजरा ठीक स्थानपर रुक जाता है, न एक गज ऊपर, न एक गज नीचे। इसके बाद ज्योंही मजदूर कोयलेके डब्बोंको खाली कर देते हैं, वह लिवरको दूसरी ओर घुमा देता है और पिंजरा ऊपर चढ़ आता है।

रोज लगातार आठ या दस घंटे उसे इसी एकाग्रतासे 'इंडिकेटर' पर काम करना पड़ता है। अगर उसका ध्यान एक क्षणके लिए भी बहक जाय तो पिंजरा 'गियर' ( चक्र ) से टकरा जाय, उसके पहिये टूट जायं, रस्सियां चर्र-मर्र हो जायं, आदमी दबकर मर जायं और खानका सारा काम बंद हो जाय। यदि लिवर घुमानेमें हर बार वह तीन सेकंडकी भी देर लगा दे तो हमारी आधुनिक सर्व-साधन-संपन्न खानोंमें कोयलेकी निकासी प्रतिदिन बीससे पचास टनतक कम हो जाय।

तब बतलाइए, खानके धंधेमें सबसे ज्यादा जरूरी आदमी कौन है? वही पिंजरेको ऊपर-नीचे करनेवाला या वह लड़का जो नीचेसे पिंजरा उठानेका उसे संकेत करता है या वह खोदनेवाला जो खानकी पेंदीमें काम करता है और जिसकी जान जानेका प्रतिक्षण भय रहता है तथा जो किसी दिन भीतरकी गैसके भभक उठनेसे मर जायगा? या वह इंजीनियर जो कोयलेकी सतहका हिसाब लगाता है? उसका अंदाजा जरासा गलत हो जाय तो खनिक चट्टानपर कुदालें मारने लगें। अथवा खानका मालिक ही ज्यादा जरूरी है, जिसने उसमें अपनी पूंजी लगायी और शायद विशेषज्ञोंकी रायके खिलाफ इस बातपर जोर दिया कि वहां बढ़िया कोयला निकलेगा?

खानके काममें जितने भी आदमी लगे हैं वे सब अपनी-अपनी शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, बुद्धि और कौशलके अनुसार कोयला निकालनेके कार्यमें योग देते हैं। हम कह सकते हैं कि सबको हक है कि वे जीवित रहें, अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें और उनकी पूर्ति हो जानेके बाद अपने शौक भी पूरा कर सकें। पर हर एकके कामका मूल्य हम नहीं ठहरा सकते।

और फिर क्या जो कोयला उन्होंने निकाला है, वह क्या केवल उनका ही परिश्रम है? क्या उनमें उन लोगोंकी मेहनत शामिल नहीं है जिन्होंने खानोंतक रेल-लाइनें और रेलवे स्टेशनोंसे सब दिशाओंको जाने वाली सड़कें बनायी? क्या उसमें उनका श्रम सम्मिलित नहीं है, जिन्होंने खेतोंको जोत-बोकर अन्न उत्पन्न किया, लोहा निकाला, जंगलमें जाकर लकड़ी

काटी, कोयलेको काममें लानेवाली मशीनें बनायी और इस तरह धीरे-धीरे खानोंके उद्योगका विकास किया ?

इनमेंसे हर एकके कामको एक दूसरेसे बिलकुल अलग करना नितांत असंभव है। नतीजेसे कामकी नाप तोल करना बहुत गलत बात है और सारे कामके विभाग करना तथा कामके टुकड़ोंको श्रमके घंटोंसे नापना भी वैसा ही असंगत है। बस एक ही बात संभव रह जाती है और वह है—आवश्यकताको कामपर प्रधानता देना और सबसे पहले यह मान लेना कि हर आदमीको जिंदा रहनेका हक है और फिर इसे भी कि उत्पत्तिके उद्योगमें जिस-जिसने योग दिया है उन सबको सुखसे रहनेका भी हक है।

मनुष्यके कार्योंमेंसे किसी दूसरी शाखाको लीजिए। जीवनकी सब प्रकारकी अभिव्यक्तियोंको ही ले लीजिए। हममेंसे कौन ऐसा है जो यह दावा कर सके कि मेरे कामका मेहनताना मुझको औरोंसे अधिक मिलना चाहिए। क्या वह डाक्टर अधिक वतनका दावा कर सकता है जिसने रोगका निदान किया, या वह नर्स जिसने रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करके उसे चंगा किया ? वह आदमी बड़ी तनख्वाह पानेका हक रखता है जिसने पहले स्टीम-एंजिनका आविष्कार किया, या वह लड़का जिसने 'पिस्टन' (Piston) में भाप जानेके लिए 'वाल्व' ढकनेवा मुंह खोलनेवाली रस्सीको पकड़ते-पकड़ते आजिज आकर एक दिन मशीनके लिवरसे उस रस्सीको बांध दिया था। और बिना जाने ही 'आटोमेटिक वाल्व' (Automatic Valve) का आविष्कार कर लिया जो आधुनिक मशीनरीका बहुत जरूरी पुरजा है ?

एंजिनका आविष्कारक बड़ा वेतन पानेका अधिकारी है या न्यूकैसेल शहरका वह मजदूर जिसने यह बात सुझायी थी कि पत्थर लचक नहीं सकता और रेलकी पटरीके नीचे उसके रहनेसे ट्रेन पटरीसे उतर जाती है, इसलिए उसकी जगह लकड़ीके स्लीपर लगाने चाहिएं। एंजिनके इंजीनियर (ड्राइवर) को बड़ी तनख्वाहें मिलनी चाहिएं, या उस सिगनल-वालेको जो गाड़ियोंको रोकता या जाने देता है ? या उस 'स्विचमैन'को जो ट्रेनको एक लाइनसे दूसरीपर ले जाता है ?

यूरोप और अमेरिकाके बीच समुद्रमे जो तार लगा है उसका श्रेय किसको है ? बिजलीके उस इंजीनियरको जो वैज्ञानिकोके इसे असंभव बताते रहनेपर भी कहता रहा कि तारसे संवाद अवश्य जा सकेंगे ? अथवा उस विद्वान् प्राकृतिक-भूगोलवेत्ता मॉरीको है, जिसने यह सलाह दी थी कि मोटे तार न लगाकर बेतकी छड़ी जैसे पतले तार लगाने चाहिएं ? अथवा उन स्वयंसेवकोंको है, जो न जाने कहां-कहासे आये थे और डेकपर दिन-दिन और रात-रात-भर डटे रहकर तारके एक-एक गजकी जांच-पड़ताल करते रहे और उन कीलोंको निकालते जाते थे जो स्टीमशिप कंपनियोंके हिस्से-दारोंने मूर्खतावश तारके ऊपरी आवरणमें लगवाकर उसे बेकार कर दिया था ?

इससे बड़े क्षेत्रमें—जीवनके सच्चे क्षेत्रमें, जिसमें अनेक सुख-दुख आते हैं, अनेक दुर्घटनाएं घटित होती हैं, क्या हममेंसे हर एक ऐसे किसी आदमीको याद नहीं कर सकता जिसने हमारी इतनी बड़ी सेवाकी है कि यदि उसका मूल्य सिक्कोंमें बताया जाय तो हमे क्रोध आ जायगा ? संभव है वह सेवा कुछ शब्द—केवल कुछ शब्द-मात्र—हों, जो ठीक अवसरपर कहे गये। या संभव है कि किसीने महीनों और बरसों लगनके साथ हमारी सेवाकी हो। क्या हम इन 'अमूल्य' सेवाओंका मूल्य 'लेबर-नोटोंमें आंकेंगे ?

आप 'हर एकके काम'की बात करते हैं। पर प्रत्येक मनुष्यको सिक्कों, 'चेकों' आदिके रूपमें जितना मिलता है उसको अपेक्षा वह अगणित गुना अधिक प्रदान करता है। ऐसा न हो तो मनुष्य-जाति दो पीढ़ियोंसे अधिक जीवित नहीं रह सकती। यदि माताएं बालकोंकी खबरगीरी करनेमें अपना जीवन अर्पण न कर दें, पुरुष निरंतर, बिना बराबर मूल्यका बदला मांगे और जब उन्हे किसी भी पुरस्कारकी आशा न होती, तब भी, दूसरोंकी सेवा सहायता न करते रहें, तो मनुष्य-जाति जल्दी ही धरा-धामसे लुप्त हो जाय।

हमें हिसाब करने, जोड़ने-घटानेकी बुरी तरह आदत लग गयी है। हमारे दिमागमें यह बात घुस गयी है कि हमें पानेके लिए ही दे देना

चाहिए, व्यापारी कोठी या कम्पनीका काम जिस तरह 'जमा' और 'नाम' या आमद-खर्च खातोंके आधारपर चलता है, समाजको भी वैसा ही बनाना हमने अपना लक्ष्य बना लिया है। यही कारण है कि मध्यवित्त समाजका दिन-दिन ह्रास होता जा रहा है। इसी कारण तो हम ऐसी 'अंधी' गलीमें आघुसे हैं जहांसे निकलना तबतक संभव नहीं कि जबतक हम पुरानी संस्थाओंको ढूंढ-ढूंढकर नष्ट न कर दें।

अंततः समष्टिवादी भी इस बातको जानते हैं। वे कुछ अस्पष्ट रूपसे समझते है कि यदि समाज 'जितना करो उतना लो' का सिद्धांत पूरे तौरसे काममे लाये तो वह टिक नहीं सकता। उन्हें यह मालूम है कि मनुष्यकी आवश्यकताएं—जीवनोपयोगी वस्तुओंकी आवश्यकता (शौककी चोजोंकी बात हम नही कहते) सदा उसके कामके अनुपातसे ही नहीं हुआ करती। इसलिए दे़पेपका यह कथन है कि "इस विशिष्ट व्यक्तिवादी सिद्धांतमें इतना समाजवादी संशोधन करना होगा कि बालकों और युवकोंके (पालन-पोषण, और निवासके प्रबंध-सहित) शिक्षणकी व्यवस्था, कमजोर और रोगियोंकी सेवा-सहायताके लिए सामाजिक संगठन और श्रम-कर्त्ताओंके लिए विश्राति-गृहकी व्यवस्था आदि करनी पड़ेगी। वे जानते हैं कि चालीस वर्षके उस आदमीकी, जिसके तीन बच्चे हैं, आवश्यकताएं बीस बरसके युवकसे अधिक होती हैं। वे जानते हैं कि जो स्त्री बच्चेको दूध पिलाती और उसकी बगलमें पड़ी बिना सोये रातें बिताती है, वह उतना काम नहीं करसकती, जितना वह आदमी जिसने रात भर खुर्राटेकी नींद ली हो। शायद वे यह भी मानते हैं कि ऐसे स्त्री-पुरुष, जो समाजके लिए अत्यधिक श्रम करते-करते जीर्ण हो गये हैं, उतना काम करनेमें असमर्थ हैं, जितना कि वे लोग जिन्होंने आरामसे अपना वक्त बिताया है और जो राज्य-कर्मचारीके रूपमें काम करके 'लेबर-नोटों'से जेबें भरते रहे हैं।

अतः वे अपने सिद्धांतमें संशोधन करनेको उत्सुक हैं। वे कहते हैं कि "समाज अपने बालकोंकी रक्षा और पोषण अवश्य करेगा, वृद्धों और कमजोरोंको सहायता अवश्य देगा। 'जितना करो उतना लो'के सिद्धांत-

में वह मनुष्यकी आवश्यकताओंका ध्यान रखनेका संशोधन कर देगा।"

पर इसमें दान-दया प्रेरित दानकी ही भावना है; हां, इस दानका प्रबंध राज्य करेगा। अनाथालयोंमें सुधार और बुढ़ापे और बीमारोंके बीमोंकी व्यवस्था करके वे अपने सिद्धांतमें संशोधन करना चाहते हैं। पर "पहले चोट पहुंचाना, फिर मरहम लगाना" की बात वे अभी अपने दिमागसे निकाल नहीं पाये हैं।

इन बड़े अर्थशास्त्रियोंने साम्यवादको अस्वीकार किया, "जिसकी जितनी जरूरत है उसको उतना मिले," के सिद्धांतकी खिल्ली उड़ायी; पर पीछे इन्हें पता लगा कि वे एक बात भूल गये हैं। वह यह कि उत्पादकों अर्थात् श्रमकर्त्ताओंकी आवश्यकताएं भी हुआ करती हैं। अब यह बात इन्होंने स्वीकार करली है। हां, उनका कहना है कि राज्य ही इस आवश्यकताका अंदाज लगाये, वही इसकी जांच करे कि किसी व्यक्तिकी आवश्यकताएं उसके कार्यके परिणाममें अधिक तो नहीं हैं।

खैरात राज्य ही बांटेगा। इसके बाद अगला कदम होगा इंग्लैंड-कामा गरीबोंका कानून बनना और सशक्त मुहताजोंको काम दिलाने-का प्रबंध।

अंतर थोड़ा-सा हो है, क्योंकि जिस वर्तमान समाज-व्यवस्थाके विरुद्ध हम विद्रोह कर रहे हैं उसे भी तो अपने व्यक्तिवादी सिद्धांतोंमें थोड़ा संशोधन करना ही पड़ा है। उसे भी साम्यवादी दिशामें कुछ रिआयतें उसी दानके रूपमें करनी ही पड़ी है।

वर्तमान समाज भी अपनी दूकानोंको लूटसे बचानेके लिए मुट्ठीभर चने बांटा करता है, छूतके रोगोंकी बाढ़ रोकनेके लिए अस्पताल बनवाता है, जो अक्सर बहुत बुरे होते हैं पर कोई-कोई बहुत अच्छे भी होते हैं। वह भी श्रमके घंटोंके हिसाबसे मजदूरी देनेके बाद उन गरीबोंके बच्चोंको आश्रय देता है जिनका जीवन वह नष्ट कर चुका है। वह उनकी आवश्यकताएं देखकर थोड़ा-बहुत दान कर दिया करता है।

हम अन्यत्र कह चुके हैं कि गरीबी ही अमीरीका मूल-कारण है। गरीबीने ही पहले पूंजीपतिको पैदा किया, क्योंकि जिस 'अतिरिक्त मूल्य'

की इतनी दुहाई दी जाती है वह तभी इकट्ठा किया जा सकता था जब ऐसे निर्धन लोग मौजूद हों जो भूखों मरनेसे बचनेके लिए अपनी मेहनत बेच देनेको मजबूर हो। अतः दरिद्रताने ही पूंजीपतियोंको बनाया। मध्ययुगमें दरिद्रोंकी सख्या इतनी तेजीसे बढ़नेका कारण यह था कि नये-नये राज्योंकी स्थापनाके बाद परस्पर-आक्रमण और युद्ध होते रहे और पूर्वीय देशोंका शोषण करनेसे यूरोपमे धन बढ़ गया था। पहले देहात और नगरके समाजोंमें जिन बंधनोंसे मनुष्य परस्पर बंधे हुए थे, इन दोनोंने उन्हें तोड़ फेंका। इन्ही दोनों कारणोंसे पहलेके जीवनके, जब एक-एक जाति ( Tribe ) के लोग एक-एक प्रदेशमे रहा करते थे, अन्योन्याश्रय और समान-हितकी बात छोड़ कर उन्होने मजदूरीके सिद्धांतकी घोषणा की, जो दूसरोंका शोषण करने वालोंको इतना प्रिय है।

जिस साम्यवादी क्रांतिका नाम भूखों, पीड़ितों और दुखियोंको इतना प्रिय है, वह क्या इसी सिद्धांतको जन्म देगी?

ऐसा कदापि नही हो सकता। जिस दिन गरीबोंकी कुल्हाड़ियां खाकर पुरानी संस्थाएं भूमिसात हो जायंगी उस दिन सब तरफसे यही पुकार आयेगी,—"रोटी, घर और आराम सबको मिलना चाहिए।" और यह पुकार सुनी जायगी। लोग उस समय कहेंगे—"हम पहले जीवन, सुख और स्वतंत्रताकी अपनी प्यास बुझायेंगे, जिसे हम कभी तृप्त नही कर सके और उसका स्वाद चख लेनेके बाद मध्यम-वर्गके शासनके बचे-खुचे गढ़ोंको भी ढाहने, उसके बही-खातेसे जन्मे नीति-शास्त्र, 'जमा' और 'नाम' से निकले तत्त्वज्ञान और 'मेरी-तुम्हारी' में विभाजित संस्थाओंको नष्ट करनेमें लग जायंगे। प्रूदोके कथनानुसार हम नाशके द्वारा ही निर्माण करेंगे और हमारा निर्माण-कार्य साम्यवाद और अराजकवादके नामसे होगा।

: १४ :

# उपभोग और उत्पादन

## १

सत्तावादी संप्रदायोंका समाज और उसके राजनैतिक संगठनकी ओर जो दृष्टिकोण है, हमारा दृष्टिकोण उससे भिन्न है। हम राज्यसे प्रारंभ करके व्यक्तिके वर्णनतक नहीं पहुंचते। हम तो स्वाधीन व्यक्तिसे प्रारंभ कर स्वतंत्र समाजतक पहुंचते हैं। हम पहले उत्पादन, विनिमय, राज्य, कर आदिका विवेचन नहीं करते। इससे पहले हम इस बातपर विचार करते हैं कि व्यक्तियोंकी आवश्यकताएं और उनकी पूर्तिके साधन क्या हैं। ऊपरी निगाह में यह अंतर बहुत मालूम हो सकता है, पर वस्तुतः इससे 'सरकारी अर्थ-शास्त्र'की सारी पद्धति ही उलट जाती है।

आप किसी भी अर्थशास्त्रीके ग्रंथको खोलकर देखें; आप देखेंगे कि वह उत्पादनसे अर्थात् उन साधनोंकी विवेचनासे प्रारंभ करता है जो आजकल धनकी उत्पत्तिके लिए काममें लाये जाते हैं,—श्रम-विभाग, कारखाने, उसकी मशीनरी, पूंजीका संचय आदि। एडम स्मिथसे लगाकर मार्क्सतक सारे अर्थशास्त्री इसी लीकपर चले हैं। वे अपनी पुस्तकोंके अंतिम भागोंमें ही उपभोग ( Consumption ) की अर्थात् न उपायोंकी चर्चा करते हैं जो व्यक्तिकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए वर्तमान समाजमें काममें लाये जा रहे हैं। इस विवेचनमें भी वे इतना ही बताते हैं कि धनके लिए परस्पर-प्रतिस्पर्धा करनेवाले लोगोंके बीच उसका वितरण या विभाजन किस प्रकार किया जा रहा है।

शायद आप कहें कि यह क्रम तो युक्तिसंगत है। आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके पहले आपके पास वे साधन होने चाहिएं जिनसे उनकी पूर्ति होगी। पर कोई भी वस्तु उत्पन्न करनेके पहले क्या यह जरूरी नहीं

है कि आप उसकी आवश्यकता अनुभव करें ? क्या आवश्यकताने ही मनुष्यको शुरूमें शिकार करने, पशु पालने, जमीन जोतने, औजार बनाने, और बादमें कलें ईजाद करनेको मजबूर नहीं किया ? क्या आवश्यकताओंको समझे बिना ही उत्पत्ति कर डालनी चाहिए ? इसलिए इतना तो कहना ही होगा कि पहले आवश्यकताओंपर विचार किया जाय और फिर इसपर कि उनकी पूर्तिके लिए उत्पादनका प्रबंध आज कैसा है और भविष्यमें कैसा होना चाहिए, यह क्रम भी उतना ही युक्तियुक्त है। हम इसी रास्तेसे चलना चाहते हैं।

परंतु ज्योंही हम इस दृष्टिकोणसे अर्थशास्त्रको देखते हैं त्योंही उसका रूप बिलकुल बदल जाता है। तब वह तथ्योंका विवरणमात्र नहीं रह जाता, बल्कि एक विज्ञान बन जाता है। इस विज्ञानकी परिभाषा हम यह कर सकते हैं—"मनुष्य-जातिकी आवश्यकताओं और साधनोंका अध्ययन जिनसे मानव-शक्तिका कम-से-कम अपव्यय होकर उनकी पूर्ति हो सके।" उसका सच्चा नाम तो होगा—'समाजका जीवनशास्त्र' (Physiology of Society)। यह भी वैसा ही विज्ञान होगा जैसे वनस्पति-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र हैं, जिनमें वनस्पतियों और प्राणियोंकी आवश्यकताओं और उनकी पूर्तिके अधिक-से-अधिक लाभदायक मार्गोंका अध्ययन किया जाता है। समाज-शास्त्रीय (Sociological) विज्ञानोंमें मनुष्य-समाजोंकी अर्थ-व्यवस्थाके विज्ञानका वही स्थान है जो जीव-शास्त्रीय (Biological) विज्ञानोंमें पौधों और प्राणियोंकी जीवन-क्रियाकी विवेचना करनेवाले शास्त्रोंका है।

हमारे विवेचनका क्रम इस प्रकार है। कुछ आदमी हैं जो समाज-रूपमें संगठित हैं। उन सबको स्वास्थ्यकर मकानोंमें रहनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। जंगलियोंके झोपड़ोंसे उन्हें संतोष नहीं होता, वे अधिक सुखद आश्रय चाहते हैं। अब सवाल यह है कि मनुष्यकी वर्तमान उत्पादन-शक्तिको ही प्रमाण मानते हुए क्या हर एक आदमीको अपना निजका मकान मिलना संभव है ? और है तो कौनसी बात उसमें बाधक हो रही है ?

इस प्रश्नपर विचार करते ही हमे मालूम होता है कि यूरोपके प्रत्येक परिवारको बहुत आसानीसे एक सुख-सुविधायुक्त घर मिल सकता है। वह घर वैसा ही होगा जैसे इंग्लैंड, बेल्जियम आदिमें बनते हैं। कुछ दिनोंके श्रमसे ही एक छोटा-सा सुंदर हवादार और बिजली लगा हुआ घर तैयार हो सकता है।

परंतु नब्बे प्रतिशत यूरोपवासियोंको कभी स्वास्थ्यकर घरमें रहनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि सभी युगोंमें साधारण लोगोंको तो अपने शासकोंकी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिए दिन-रात पिसना पड़ता ही रहा, और उनके पास न इतनी फुरसत थी न इतना पैसा ही कि वे अपने मनका मकान बनाते या बनवा लेते। और जबतक वर्तमान परिस्थिति बनी रहेगी तबतक उन्हें मकान नहीं मिल सकते, उन्हें झोपड़ों या झोपडे-जैसे घरोंमें ही गुजर करना होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारा रास्ता अर्थशास्त्रियोंके विवेचन-क्रमसे बिलकुल उलटा है। वे उत्पादनके तथोक्त नियमोंको बहुत महत्त्व देते हैं और आंकडे सामने रखकर कहते है कि चूंकि नये बननेवाले मकानोंकी संख्या इतनी कम है कि उनसे सबकी मांग पूरी नहीं हो सकती, इसलिए नब्बे प्रतिशत यूरोप-वासियोंको झोपडोंमे ही रहना पड़ेगा।

अब भोजनके प्रश्नपर विचार करें। अर्थशास्त्री तो पहले श्रम-विभागसे होनेवाले लाभोंको गिनाते है, फिर कहते हैं कि इस सिद्धांतके अनुसार यह आवश्यक है कि कुछ लोग खेती-बारीका काम करें, कुछ लोग उद्योग-धंधोंका। वे बतलाते हैं कि खेती करनेवाले इतना माल पैदा करते हैं, कारखानोंका उत्पादन इतना है, विनिमय ( Exchange ) इस प्रकार चलता है। वे बिक्री, लाभ, खालिस मुनाफा या अतिरिक्त मूल्य, मजदूरी, टैक्स, बैंकिंग आदिका विश्लेषण करते हैं।

परंतु उनके विवेचनका यहांतक अनुसरण कर चुकनेपर भी अगर हम उनसे यह पूछते हैं कि "जब प्रत्येक परिवार हर साल इतना अन्न उत्पन्न कर सकता है कि दस, बीस या सौ आदमियोंका भी पेट भरा जा

सके तो करोड़ों आदमी क्यों भूखे रहते हैं?", तो हमें कोई नयी बात नहीं बतायी जाती। इसके जवाबमें वे फिर अपना श्रम-विभाग, मजदूरी अतिरिक्त, मूल्य पूंजी आदिका वही पुराना राग अलापने लगते हैं और फिर इसी नतीजेपर पहुंचते हैं कि उत्पत्ति इतनी नहीं होती कि सबकी आवश्यकताएं पूरी हो सकें। यह नतीजा सही हो भी तो इससे हमारे इस सवालका जवाब नहीं मिलता कि मनुष्य अपने श्रमसे अपना पेट भरनेभर अन्न उत्पन्न कर सकता है या नहीं? और नहीं कर सकता तो किस अड़चनके कारण?

यूरोपमें पैंतीस करोड़ जन बसते हैं। उन्हें इतना अन्न, इतना मांस, शराब, दूध, अंडे और मक्खन सालभरमे चाहिए। इतने मकान चाहिए और इतना कपड़ा चाहिए। यह उनकी कम-से-कम आवश्यकता है। क्या वे इतना उत्पादन कर सकते हैं? और कर सकते हैं तो इसके बाद उनके पास कला, विज्ञान और मनोविनोदके लिए—अर्थात् उन सब चीजोंके लिए जो जीवनके लिए नितांत आवश्यक पदार्थोंकी श्रेणीमें नहीं आतीं—क्या काफी अवकाश बचेगा? अगर ऐसा हो सकता है तो इसमें रुकावट क्या है? रुकावटोंको दूर करनेके लिए उन्हें क्या करना चाहिए? क्या इस यत्नमें सफल होनेके लिए समयकी आवश्यकता है? है तो समय दीजिए। पर हमें उत्पादनका मूल उद्देश्य न भूल जाना चाहिए और वह है—सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना।

अगर मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकताएं आज पूरी नहीं हो पातीं तो अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ानेके लिए हमें क्या करना चाहिए? पर क्या इसका और कोई कारण नहीं है? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्यकी आवश्यकताओंकी ओर दृष्टि न रखनेसे उत्पादन बिलकुल गलत रास्तेपर चला गया हो और उसका प्रबंध सदोष हो? और चूंकि हम साबित कर सकते हैं कि बात ऐसी ही है, इसलिए हमें देखना चाहिए कि उत्पत्तिकी नव-व्यवस्था किस प्रकार की जाय जिसमें सचमुच सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके।

हमें तो स्थितिका सामना करनेका ठीक रास्ता यही मालूम होता है। बस

यही वह रास्ता है जिससे अर्थशास्त्र वस्तुतः विज्ञान—सामाजिक जीवन-विज्ञान—बन सकता है।

यह स्पष्ट है कि जबतक विज्ञान उत्पादनके उसी प्रकारका विवेचन करता रहेगा जो आज सभ्य जातियों—भारतके पंचायती ग्रामों (Communes) या जंगली जातियोंमें प्रचलित है, तबतक तो तथ्योंको अर्थ-शास्त्री आजकल जिस रूपमें उपस्थित करते हैं—अर्थात् प्राणि-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्रके वर्णनात्मक अध्यायों-जैसा सीधा-साधा वर्णन—उसमें शायद ही परिवर्तन हो सके। पर यदि यह अध्याय इस प्रकार लिखा जाय कि उससे यह भी जाना जा सके कि मनुष्यकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए शक्तिका मितव्यय कैसे होना चाहिए तो उसमें अधिक यथार्थता आ जायगी और वर्णन भी अधिक विशद हो जायगा। तब उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान व्यवस्थासे मनुष्यकी शक्तिकी कैसी भयानक बर्बादी हो रही है। यह बात भी साबित हो जायगी कि जबतक यह व्यवस्था रहेगी तबतक मानव-समाजकी आवश्यकताएं कभी पूरी नहीं होंगी।

हम समझते हैं कि उस समय हमारा दृष्टिकोण बिलकुल ही बदल जायगा। तब हमारी निगाह उस कर्घेतक जो इतने गज कपड़ा बुनता है, या उस मशीनतक जो लोहेकी चद्दरमें छेद करती है, या उस तिजोरीतक ही पहुंचकर न रह जायगी जिसमें कम्पनियोंके हिस्सोंका मुनाफा भरा जाता है; बल्कि उस मनुष्यपर भी जायगी जो असली उत्पादनकर्ता है और जो प्रायः उस पकवानको खुद चखतक नहीं पाता जो वह दूसरोंके लिए रोज बनाया करता है। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि दृष्टिकोण ही गलत होनेसे जो आज मूल्य और विनिमयके 'नियम' कहे जाते हैं वे आजकल घटित होनेवाली घटनाओंकी बड़ी गलत व्याख्या हैं। और जब उत्पादनकी व्यवस्था इस प्रकार कर दी जायगी कि उससे समाजकी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके तो हालत बिलकुल दूसरी हो जायगी।

## २

आप हमारे दृष्टिकोणसे देखने लगें तो अर्थशास्त्रका एक भी सिद्धांत ऐसा न बचेगा जिसकी सूरत बिलकुल बदल न जाय।

उदाहरणार्थ, अति-उत्पादन (Over Production) को ही लीजिए। यह शब्द हमारे कानोंमें रोज़ गूंजा करता है। क्या एक भी अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र-परिषदोंका सदस्य या अर्थशास्त्री उपाधियोंका उम्मेदवार ऐसा है जिसने इस मतका पोषण न किया हो कि अत्युत्पादनके कारण ही संसारमें व्यापारिक संकट आया करते हैं—अर्थात् किसी विशेष समयमें रुई, कपड़े, खाद्य-सामग्री या घड़ियोंका उत्पादन उनकी आवश्यकतासे अधिक हो जाता है ? क्या हम सभीने उन पूंजीपतियोंकी लूटके विरुद्ध जोरकी आवाज नहीं उठायी है जो इतना माल उत्पन्न करनेपर तुले हुए हैं जितना खप नहीं सकता ?

पर समीक्षाकी कसौटीपर कसकर देखनेसे ये सभी दलीलें खोटी ठहरेंगी। आम इस्तेमालकी चीजोंमें क्या वास्तवमें एक भी ऐसी है जो आवश्यकतासे अधिक उत्पन्न की जाती हो ? कुछ देश जो बहुत-सा माल देसावर भेजते हैं उसकी भी एक-एक चीजको लेकर जांच कर लीजिए। आपको मालूम हो जायगा कि प्रायः सभी चीजें निर्यात करनेवाले देशोंके निवासियोंके लिए ही काफी नहीं होतीं।

जो गेहूँ रूसका किसान दूसरे देशोंको भेजता है वह रूस-निवासियोंकी आवश्यकतासे अधिक नहीं है। यूरोपियन रूसमें गेहूँ और राई (एक किस्मका मोटा अनाज) बड़ी इफ़रातसे पैदा होते हैं, पर वे केवल यहांके निवासियोंके लिए ही काफी होते हैं। आम तौरसे जब किसान टैक्स और लगान चुकानेके लिए अपना गेहूं या राई बेचता है तो उसके पास अपनी जरूरत भरके लिए भी ये चीजें नहीं रह जातीं।

इंग्लैंड दुनियांके हर हिस्सेमें अपना कोयला भेजता है, पर वह कोयला उसकी निजकी आवश्यकतासे फाजिल नहीं होता। देशके घरू खर्चके लिए तो आदमी-पीछे सालभरमें केवल पौन टन ही कोयला

बचता है। लाखों इंग्लैंड-वासी जाडेमें आगके लिए भी तरसा करते हैं, या वह इतनी-सी मिलती है कि उसमें थोड़ासा शाकभर पका लें। इंग्लैंड सब देशोंसे अधिक माल देसावर भेजता है; पर वहां भी केवल कपड़ा ही एक ऐसी चीज है जो आम इस्तेमाल की है। और जिसकी उत्पत्ति शायद आवश्यकतासे अधिक होती है। मगर जब हम यह देखते हैं कि ब्रिटिश संयुक्त राज्यकी एक-तिहाई जनता चीथड़ोंसे तन ढकती है तो हम सोचते हैं कि जो कपड़ा बाहर जाता है क्या वह जनताकी सच्ची आवश्यकताओंकी पूर्ति न करता ?

आजकल जो माल बाहर भेजा जाता है, साधारणतः वह देशकी आवश्यकतासे अधिक नहीं होता, प्रारंभमें ऐसा भले ही रहा हो। नंगे पांव रहनेवाले चर्मकारकी कहानी पहले कारीगरोंके बारेमें कही जाती थी। वह आजके राष्ट्रोंके विषयमें भी उतनी ही सच्ची उतरती है। जो वस्तुएं जीवनके लिए आवश्यक होती हैं उन्हींको हम बाहर भेजते है, और हम इसलिए ऐसा करते हैं कि श्रमिकोंमें यह सामर्थ्य नहीं होती कि अपनी मजदूरीसे अपनी ही पैदा की हुई चीजोंको खरीद सकें, और साथ-साथ पूंजीपतिका किराया और साहूकारका ब्याज भी चुका सके।

केवल इतना ही नहीं होता कि हमारी सुखकी आवश्यकता जो दिन-दिन बढ़ती जा रही है, पूरी नहीं होती, बल्कि जो चीजें जीवनके लिए अनिवार्य हैं वे भी अक्सर नहीं मिलतीं। अतः 'अतिरिक्त उत्पत्ति' का अस्तित्व ही नहीं है, कम-से-कम उस अर्थमें नहीं है जिसमें सिद्धांतवादी अर्थशास्त्री उसका प्रयोग किया करते हैं।

दूसरी बात लीजिए। सब अर्थशास्त्री कहते हैं कि यह एक सुसिद्ध नियम है कि "मनुष्य जितना खर्च करता है उससे ज्यादा पैदा करता है।" अपनी कमाईसे अपना निर्वाह करनेके बाद उसके पास कुछ बच भी रहता है। मसलन् कृषकोंका एक परिवार इतना उत्पन्न करता है जो कई परिवारों के खानेको काफी होता है, इत्यादि।

हमारे लिए तो इस बार-बार दुहराए जानेवाले वाक्यका कोई अर्थ

ही नहीं है। अगर इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पीढ़ी आगे आनेवाली पीढ़ियोंके लिए कुछ-न-कुछ छोड़ जाती है तब तो यह सही हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक किसान एक पेड़ लगाता है। वह पेड़ शायद तीस, चालीस या सौ वर्ष तक खड़ा रहेगा, और उसके फल उसके नाती-पोते भी खायेंगे। अथवा वह कुछ बीघे नयी जमीन साफ करता है और हम कहते हैं कि अगली पीढ़ियोंकी संपत्तिमें इतनी वृद्धि हुई। सड़कें, पुल, नहरें, मकान और फरनीचर यह सब ऐसा धन है जो आनेवाली पीढ़ियोंको विरासतमें मिलेगा।

पर अर्थशास्त्रियोंका तात्पर्य यह नहीं है। वे कहते हैं कि किसानको अपने खर्चके लिए जितने अन्नकी आवश्यकता होती है वह उससे अधिक पैदा करता है। इसके बदले उन्हें यह कहना चाहिए कि किसानसे उत्पत्तिका बड़ा भाग राज्य अपने टैक्सके रूपमें, पादरी अपने धर्म-दशांशके रूपमें और जमींदार लगानके रूपमें ले लेता है। कृषक-वर्ग पहले जितना उत्पन्न करता था उतना सब अपने इस्तेमालमें लाता था, केवल आकस्मिक आवश्यकताओं या पेड़ लगाने, सड़क बनाने आदिके लिए कुछ बचा रखता था। पर अब उस वर्गको बड़ी गरीबीकी हालतमें किसी तरह खींच-तानकर गुजारा करना पड़ता है। उसकी पैदावारका शेष सारा भाग राज्य, जमींदार, पादरी और महाजन ले लेते हैं।

इसलिए हम इस बातको इस तरह कहना ज्यादा पसंद करते हैं कि किसान और मजदूर आदि जितना पैदा करते हैं उससे कम खर्च करते हैं, क्योंकि उन्हें मजबूरन अपनी कमाईका अधिकांश बेच देना पड़ता है और खुद उसके थोड़ेसे अंशसे ही संतोष करना पड़ता है।

हमें यह भी कह देना चाहिए कि अगर अपना अर्थशास्त्र हम व्यक्ति की आवश्यकताओंसे आरंभ करते हैं तो साम्यवादपर पहुँचे बिना नहीं रह सकते। साम्यवाद ऐसा संगठन है जिसके द्वारा हम सर्वाधिकपूर्ण और मितव्ययी मार्गसे सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकते हैं। दूसरी ओर यदि हम अपने प्रचलित ढरेंके अनुसार उत्पादनसे आरंभ करते हैं, लाभ और अतिरिक्त मूल्यको अपना लक्ष्य बनाते हैं, इसका विचार नहीं

करते कि हमारे उत्पादनसे आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है या नहीं, तो अनिवार्य रूपसे हम पूंजीवादपर या अधिक-से-अधिक समष्टिवादपर ही पहुंचते हैं और ये दोनों ही वर्तमान मजदूरी-व्यवस्थाके ही दो भिन्न रूप हैं।

वस्तुतः जब हम व्यक्ति और समाजकी आवश्यकताओं और उन साधनोंका भी विचार करते हैं जिनका मनुष्यने अपनी प्रगतिकी भिन्न-भिन्न मंजिलोंमें उन आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिए प्रयोग किया, तो हम तुरत इसकी जरूरत महसूस करते हैं कि हम अपने कार्योंको सुव्यवस्थित बनायें, आज-कलकी तरह अव्यवस्थित उत्पादन न करते रहें। तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस धनका उपभोग नहीं होता और जो एक पीढ़ीसे दूसरीको उत्तराधिकार-रूपमें मिलता है उसपर थोड़ेसे लोगोंका कब्जा कर लेना सबके हितके अनुकूल नहीं है। यह बात सच्ची मालूम होती है कि इन तरीकोंके कारण समाजके तीन-चौथाई भागकी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो पातीं, जिससे वर्तमान समयमें मनुष्य-शक्तिका जो व्यर्थ बातोंमें अपव्यय हो रहा है वह और भी बड़ा अपराध हो जाता है।

इसके सिवा हमे यह भी मालूम होता है कि वस्तुओंका सबसे अच्छा उपयोग यही है कि उनसे सबसे पहले उन आवश्यकताओंकी पूर्ति की जाय जो सबसे बड़ी हैं। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि जिसे वस्तुका 'व्यवहार-मूल्य' ( Value-in-Use ) कहा जाता है वह सनक या कोरी कल्पनाकी बात नहीं है, बल्कि उससे होनेवाली सच्ची आवश्यकताओंकी पूर्तिपर स्थित है।

स्थितिपर इस दृष्टिसे विचार करनेपर साम्यवाद ही युक्तिसिद्ध परिणाम ठहरता है। साम्यवादका अर्थ है समष्टि-रूपसे उपभोग, उत्पत्ति और विनिमयकी दृष्टिके अनुकूल संगठन या व्यवस्था। और हमारी रायमें यही एकमात्र वैज्ञानिक संगठन है।

जो समाज सबकी आवश्यकताओंको पूरा करेगा और जिसे यह मालूम होगा कि इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उत्पादनकी अवस्था किस

तरह करनी होगी, उसे उद्योग-धंधोंके बारेमें बनी कई गलत धारणाओंको भी दिमागसे निकाल देना पड़ेगा। इन वहमोंमें सबसे पहला है श्रम-विभागका सिद्धांत जिसका प्रचार अर्थशास्त्री प्रायः किया करते हैं। हम इसपर अगले परिच्छेदमें विचार करेंगे।

: १५ :

# श्रम-विभाग

## १

अर्थशास्त्र समाजमें होनेवाली बातोंका वर्णन और प्रभावशाली वर्ग के हितार्थ उनका समर्थन कर देनाभर अपना कर्तव्य समझता है। इसलिए उसका फैसला उद्योग-धंधोंमे श्रम-विभागके पक्षमें है। पूंजीपतियोंके लिए लाभदायक देखकर उसने इसे सिद्धांतका रूप दे दिया है।

आधुनिक अर्थशास्त्रके जन्मदाता एडम स्मिथने गांवके एक लुहार की मिसाल दी है। अगर उसे कीलें बनानेका अभ्यास नहीं है तो वह बड़ी मेहनतसे दिन भरमें मुश्किलसे दो या तीन सौ कीलें बना पायेगा, फिर भी वे अच्छी न होंगी। पर यदि उस लुहारने जन्मभर केवल कीलें ही बनायी हों तो वह एक दिनमे दो हजार कीलें बना देगा। इससे उन्होंने यह नतीजा निकाला है—"श्रमका विभाग करो, विशेषीकरण ( Specialisation ) करो, विशेषीकरणकी ओर बढ़ते जाओ। हमारे पास ऐसे लुहार हो जिन्हें कीलोंके सिरे या नोके ही बनाना आता हो। इससे हम ज्यादा माल पैदा करेंगे और धनी हो जायेंगे।"

पर उन्होंने यह न सोचा कि जिस आदमीको जिंदगीभर केवल कीलोंके सिरे बनाने पड़ें उसे अपने कार्यमें दिलचस्पी न रह जायगी, जब वह केवल यही काम जानता होगा तब उसकी जीविका सोलहो आने कारखानेदारकी दयापर अवलंबित होगी, वह बारहमें चार महीने बेकार रहेगा और जब कोई उम्मेदवार उसकी जगह काम करनेको मिल जायगा तब उसकी मजदूरी बहुत कम हो जायगी। इन सब बातों पर विचार किये बिना ही वह हर्षातिरेकसे चिल्ला उठे—"श्रम-विभाग जुग जुग जिये! इसी सोनेकी खानसे राष्ट्र समृद्ध होगा!" और इस नारेमें सबने उसका साथ दिया।

बादमें जब सिसमांडी* या जे० बी० से जैसोने इस बातको समझा कि श्रम-विभागसे समस्त राष्ट्रकी धन-वृद्धि न होकर केवल धनिकोंका धन बढ़ता है, और वह मजदूर जो जीवन भर पिनका अठारहवां भाग ही बनाता रहता है बुद्धिहीन होकर दरिद्रताके गहरे गड्ढेमें गिर जाता है, तब सरकारी अर्थ-शास्त्रियोंने इसका क्या इलाज निकाला ? कुछ भी नहीं। उन्होंने यह सोचनेकी भी तकलीफ न की कि एक ही यांत्रिक काममें जन्मभर लगे रहनेसे श्रमिककी अकल और आविष्कार-बुद्धि मारी जायगी, और उसके कई धंधे अदल-बदलकर करते रहनेसे राष्ट्रकी उत्पादन-शक्ति काफी बढ़ जायगी। हमें अब इसी प्रश्नपर विचार करना है।

फिर भी सार्वकालिक और बहुधा पैतृक श्रम-विभागके इस सिद्धांतका यदि केवल अर्थशास्त्रके पंडित ही प्रचार करते तो हम शायद उन्हें जी भरकर प्रचार कर लेने देते। पर विज्ञानके दिग्गजोंकी बतायी हुई बातें साधारण लोगोंके दिमागमें भी घुस जाती हैं और उन्हे बहका देती हैं। श्रम-विभाग, मुनाफा, ब्याज आदिकी बाते बार-बार इस तरह सुनते रहनेसे, मानो ये मसले मुद्दतसे हल हो चुके हों, मध्यमवर्गके सब लोग और मजदूर भी अर्थशास्त्रियोंकी तरह तर्क करने लगते हैं, वे भी इन्हीं अंध-विश्वासोंकी पूजा करने लगते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश समाजवादी और वे लोग भी जिन्होने अर्थ-शास्त्रकी गलतियोंको निर्भय होकर प्रकट किया है, श्रम-विभागका समर्थन करते हैं। उनसे पूछिए कि क्रान्ति-युगमें श्रमका कैसा प्रबंध करना चाहिए तो वे कहेंगे कि श्रम-विभागको तो कायम रखना ही होगा। यानी क्रांतिसे पहले यदि आप पिनकी नोक पैनी किया करते थे तो क्रांतिके बाद भी आपको वही काम करना होगा। अवश्य ही आपको पांच घंटेसे अधिक काम न करना पड़ेगा, पर आपको जिंदगीभर पिनकी नोक ही घिसते रहना होगा। और दूसरे लोग ऐसी मशीनोंके डिजाइन बनायेंगे जिनसे आप अपने जीवन-कालमें अरबों पिनोंकी नोकें ठीक कर सकेंगे। कुछ और लोग साहित्य, विज्ञान

*स्विस इतिहासज्ञ और अर्थशास्त्री।

कला आदिकी उच्च शाखाओंके विशेषज्ञ बनेंगे। पास्तिर इसलिए पैदा हुआ था कि वह एंथ्रेक्स (एक जहरीला फोड़ा) के टीकेका आविष्कार करे, पर आप तो इसीलिए पैदा हुए हैं कि पिनोंको तेज करते रहें। क्रांतिके बाद भी आप दोनोंको अपने उसी धंधेमें लगे रहना होगा। यह सिद्धांत इतना भयावना है, समाजके लिए इतना हानिकर है, मनुष्यमें इतना पशुत्व पैदा कर देनेवाला है और इतनी बड़ी बुराईकी जड़ है कि हम इसके विभिन्न रूपोंपर विचार करना जरूरी समझते हैं।

हमें श्रम-विभागके कुपरिणाम भलीभांति ज्ञात है। उसका पहला फल यह है कि समाज दो वर्गोंमे विभक्त हो जाता है। एक वर्ग उत्पादन करनेवाले श्रमिकोंका होता है, जो अपनी उत्पत्तिके बहुत थोड़े अंशका ही स्वयं उपभोग करते हैं, और केवल शारीरिक श्रमका काम करनेके कारण जिन्होंने सोचने-विचारनेसे पेंशन लेली है। उनका काम भी बुरा होता है, क्योंकि उनका मस्तिष्क निष्क्रिय, जड़ बन रहा है। दूसरा वर्ग है उन लोगोंका जो दूसरोंके पैदा किये हुए मालका उपभोग किया करते हैं और जो खुद बहुत थोड़ा उत्पन्न करते हैं या कुछ भी उत्पन्न नहीं करते। उन्हे दूसरोंके बारेमें सोचनेका इजारा मिला हुआ है। पर वे लोग इस कामको भी बुरी तरह करते हैं, क्योंकि हाथसे काम करनेवालोंकी दुनियासे उनका परिचय ही नहीं होता। उसका एक नतीजा यह भी है कि खेतीका काम करनेवाले मजदूरोंको मशीनका कुछ भी ज्ञान नहीं होता और मशीनोंपर काम करनेवाले खेतीके बारेमें बिलकुल कोरे होते हैं। आजकलके कारखाने यह चाहते हैं कि एक लड़का हो जो मशीनको चलाता रहे, पर उसको न समझता हो और न कभी समझे, और एक फोरमैन हो जो उस लड़केका ध्यान मशीनसे जरा भी हट जाय तो उसपर जुर्माना कर दे। औद्योगिक या कलोंसे की जानेवाली खेतीका आदर्श यह है कि खेतपर काम करनेवाला मजदूर तो बिलकुल न रहे, उसकी जगहपर एक ऐसा आदमी नियुक्त किया जाय जो स्टीम-हल भी चला ले और मांड़ने या डांठसे अनाज निकालनेकी मशीन भी। श्रम-

विभागका अर्थ यह है कि आदमियोंपर जिंदगीभरके लिए खास-खास कामोंका लेबिल या मुहर लगा दी जाय। कुछ आदमी कारखानेमें रस्सी बटनेके लिए निर्दिष्ट हो जायं कुछ फोरमैनके कामके लिए, कुछ खानके किसी विशेष भागमें कोयलेकी टोकरियां नीचे-ऊपर भेजनेके लिए; पर उनमेंसे किसीको भी पूरी मशीन, पूरे धंधे या पूरी खानकी जानकारी न हो सके। इसका नतीजा यह होता है कि मनुष्यमें श्रमका प्रेम और आविष्कारकी योग्यता नष्ट हो जाती है, जिनकी ही बदौलत वर्तमान औद्योगिक युगके आरंभमें उन यंत्रोंका आविष्कार हुआ जिनपर आज हमें इतना गर्व है।

अर्थशास्त्रियोंने व्यक्तियोंके विषयमें जो बात की वही वे राष्ट्रोंके विषयमें भी करना चाहते थे। वे चाहते थे कि मनुष्य-जातिका इस प्रकार विभाग किया जाय कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी विशेषता रखता हुआ अलग-अलग कारखाना बन जाय। उन्होंने कहा कि प्रकृतिने रूसको अन्न उत्पन्न करनेके लिए ही बनाया है, इंग्लैंडको सूत तैयार करने और बेल्जियमको कपड़ा बुननेके लिए; स्विटजरलैंड इसीलिए बनाया गया है कि वह नर्सें और बच्चोंके लिए अध्यापिकाएं तैयार किया करे। प्रत्येक नगर भी एक खास धंधेको अपनाये और उसमें निपुणता प्राप्त करे। लीओं (फ्रांस) नगर रेशमी कपड़ा बुने, ओवर्न बेल-फीते बनाये और पेरिस शौककी चीजें तैयार करे। और अर्थशास्त्री कहते थे कि इस प्रकार उत्पत्ति और खपतका बड़ा भारी मैदान निकल आयेगा और मानव-जातिके लिए अतुल संपत्ति द्वारा खुल जायगा।

पर ज्योंही दूसरे देश भी कलोंसे काम लेना सीख गये, सारी आशा विलीन हो गयी। जबतक इंगलैंड अकेले ही बड़े पैमानेपर सूती कपड़ा और धातुओंका सामान तैयार करता रहा, और केवल पेरिस नगर विलासकी सुंदर कलामय वस्तुएं बनानेवाला रहा तबतक तो सब ठीक रहा; अर्थ-शास्त्री श्रम-विभागके सिद्धांतका प्रचार करते रहे और किसीने उनका खंडन न किया।

पर सारे सभ्य राष्ट्रोंमें धीरे-धीरे यह नयी विचार-धारा पहुँच गयी कि

अपनी जरूरतकी चीजें हमें खुद तैयार करनी चाहिएं। जो माल पहले दूसरे देशोंसे या अपने ही उपनिवेशोंसे आता था उसे खुद पैदा करनेमें लाभ दिखाई दिया। उधर उपनिवेश भी 'मातृ-देशसे अपनेको स्वतंत्र करनेका यत्न करने लगे। वैज्ञानिक खोजोंके कारण उत्पादनकी विधियां सार्वभौम हो गयीं। जो चीज घरमें आसानीसे बन सकती थी उसके लिए विदेशको भारी कीमत देना व्यर्थ समझा गया। और अब हम देखते हैं कि श्रम-विभागका जो सिद्धांत पहले बड़ा मजबूत समझा जाता था इस औद्योगिक क्रांतिने उसकी धज्जियां उड़ा दी हैं।

: १६ :

# उद्योग-धंधोंका फैलाव

## १

नेपोलियनकी लड़ाइयोंके बाद ब्रिटेनने फ्रांसके उन प्रधान उद्योग-धंधोंको प्राय: नष्ट कर दिया जो वहां १८वीं शतीके अंतमें पनप गये थे। वह समुद्र का भी स्वामी बन गया और यूरोपमें उसका कोई बड़ा प्रतिद्वंद्वी न रह गया। उसने इस स्थितिका लाभ उठाया और उद्योगोंपर एकाधिकार स्थापित कर लिया। जिस मालको केवल वही बना सकता था पड़ोसी देशोंसे उसके मन-माने दाम लेने लगा और मालामाल हो गया।

पर अठारहवीं शताब्दीकी मध्यमवर्गीय क्रांतिने फ्रांसमें किसानोंकी गुलामी को मिटा दिया था और मेहनत-मजदूरीपर जीनेवालोंका एक वर्ग उत्पन्न कर दिया था। इस कारण यद्यपि कुछ समयके लिए वहांके उद्योग-धंधे दब गये, पर फ्रांस फिर उठा और उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्धमें उसे इंग्लैंडसे कारखानोंमें बना हुआ माल मगानेकी जरूरत न रही। आज वह भी बाहर माल भेजने वाला राष्ट्र बन गया है। वह हर साल छ: करोड़ पौंडसे भी अधिकका तैयार माल बाहर भेजता है और इसमें दो-तिहाई कपड़ा होता है। चालानके काम या विदेशी व्यापारसे गुजारा करनेवाले फ्रांस-वासियोंकी संख्या करीब तीस लाखके है।

अतः फ्रांस इंगलैंडका माल लेनेवाला देश—उसका 'बाजार' नहीं रहा। उसने भी विदेशोंमें खपनेवाली कुछ चीजोंके उद्योगपर अपना इजारा कायम कर लेनेकी कोशिश की, जैसे रेशमी वस्त्र, सिले कपड़े आदि, और उन्हें बाहर भेजकर खूब नफा कमाया। पर जिस प्रकार इंगलैंडका सूती मालका इजारा अब खत्म हो चला है उसी प्रकार फ्रांसका एकाधिकार भी सदाके लिए समाप्त होने जा रहा है।

उद्योग-धंधे पूरबको बढ़ते हुए जर्मनी पहुँच गये। पचास साल पहले जर्मनी इंगलैंड और फ्रांससे ऊंचे मेलका तैयार माल मंगाया करता था। अब नहीं मंगाता। पिछले पचास वर्षोंमें और खासकर फ्रांस-जर्मन युद्धके बादसे जर्मनीने अपने उद्योग-धंधोंका पूरे तौरसे नव-संघटनकर लिया है। उसके नये कारखानोंमें बढ़िया-से-बढ़िया मशीनरी लगी है। मैंचेस्टर और लीओंके सूती और रेशमी मालका नये-से-नया नमूना जर्मन कारखानोंमें बनने लगा है। मैंचेस्टर और लीओंके कारीगरोंको आधुनिक यंत्रोंके निर्माणमें दो-तीन पीढ़ियां लग गयी, पर जर्मनीने उन्हें पूर्ण उन्नत अवस्थामें ले लिया। उद्योग-धंधोंकी आवश्यकताके अनुकूल शिल्प-शिक्षा देनेके स्कूल खुल गये, और वहांसे कारखानोंको ऐसे होशियार काम, करनेवाले—अमली इंजीनियर मिलते हैं जो हाथ और दिमाग दोनोंसे काम करते हैं। जिस अवस्थापर मैंचेस्टर और लीओंके उद्योगधंधे पचास बरसतक अंधेरेमें भटकते, प्रयत्न और प्रयोग करते हुए पहुंच पाये थे उस मंजिलसे तो जर्मनीके उद्योगधंधे अपना रास्ता शुरू करते हैं!

चूंकि जर्मनी अपने देशमे ही बहुत अच्छा माल तैयार करने लगा है, इसलिए फ्रांस और इंगलैंडसे वहां जानेवाला माल हर साल कम होता जा रहा है। वह तैयार मालमे एशिया और अफ्रीकामे ही उनका प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन रहा है, पेरिस और लंदनमे भी उनका मुकाबला करता है। भले ही फ्रासके अदूरदर्शी लोग फ्राकफोर्टकी संधि*को कोसते रहे, इंगलैंडके कारखानेदार जर्मनीकी सफल प्रतिद्वन्द्विताका कारण रेलभाड़ेके थोड़ेसे अंतरको बताते रहें, वे प्रश्नोंके छोटे पहलुओंमें ही उलझे और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक बातोंकी उपेक्षा करते रहें; पर यह तो निश्चित ही है कि जो बडे-बड़े उद्योग-धंधे पहले इंगलैंड और फ्रांसके हाथोमें थे वे अब पूर्वकी ओर बढ़कर जर्मनी पहुच गये हैं। जर्मनी कार्यसे-शक्तिसे भरा हुआ नया देश है, वहांके मध्यम-वर्गके लोग बुद्धिमान है और वे भी विदेशसे व्यापार करके धनी बनना चाहते हैं।

---

* १८७०—७१के युद्धके बाद फ्रांस-जर्मनीमें हुई संधि।

इधर जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंडकी औद्योगिक आधीनतासे मुक्त हो गया, अपना कपड़ा आप बनाने लगा, अपनी मशीनें खुद बना लीं, और वस्तुतः सब प्रकारका माल बनाने लगा; उधर मुख्य-मुख्य उद्योग-धंधे रूसमें भी स्थापित हो गये। रूसके उद्योग-धंधोंका विकास अभी कलकी ही चीज होनेके कारण बड़ा शिक्षाप्रद है।

१८६१ में जब रूसमें 'हलवाहे किसानों' (Serfs) की गुलामीका अंत हुआ तब एक तरहसे वहां एक भी कारखाना नहीं था। मशीनें, रेलें, रेलवे एंजिन, बढ़िया कपड़े आदि जो कुछ भी आवश्यक था सब पश्चिमी देशों से आया करता था। पर इसके बीस साल बाद ही रूसमें ८५ हजार कारखाने कायम हो गये और कारखानोंमें बननेवाले मालका मूल्य चौगुना हो गया।

पुरानी मशीनरी हटाकर नयी लगा दी गयी। अब रूसमें लगने वाला प्रायः सारा फौलाद, तीन-चौथाई मामूली लोहा, दो-तिहाई कोयला, रेलके सारे एंजिन, गाड़ियां तथा पटरियां और प्रायः सारे जहाज वहीं तैयार होते हैं।

अर्थशास्त्रियोंने लिखा था कि रूस बनाया ही इसलिए गया है कि वह खेतिहरोंका देश बना रहे, पर वह शीघ्र ही औद्योगिक दश बन गया। वह इंग्लैंडसे प्रायः कुछ भी माल नहीं मंगाता, और जर्मनीसे भी बहुत ही कम मंगाता है।

अर्थशास्त्री इन बातोंका कारण आयात-निर्यात-कर या जकातको बताते हैं। पर रूसमें बना हुआ सूती माल उसी कीमतपर बिकता है जिस कीमतपर लंदनमें। पूंजीकी कोई मातृभूमि नहीं होती। जर्मनी और इंग्लैंडके पूंजीपतियोंने अपने-अपने यहांके इंजीनियरों और फोरमैनोंके साथ पहुंचकर रूस और पोलैंडमें भी कारखाने खोल दिये, जिनमें बनने वाला माल इंग्लैंडके बढ़िया-से-बढ़िया मालसे टक्कर लेता है। जकात कल उठा दी जाय तो उद्योग-धंधोंको लाभ ही होगा। कुछ ही दिन पहले ब्रिटेनके कारखानेदारोंने ऐसा काम किया जिससे पश्चिमसे आनेवाले सूती और ऊनी मालको एक और गहरा धक्का लगा है। उन्होंने दक्षिण और मध्य रूसमें बेडफोर्ड (इंग्लैंड) की बढ़िया-से-बढ़िया मशीनें लगा

कर उनके बडे-बड़े कारखाने खडे कर दिये। अब रूसको इंग्लैंड, फ्रांस और आस्ट्रियासे सिर्फ बहुत बढ़िया किस्मका सूती या ऊनी माल मंगाने की जरूरत होती है। बाकी सारा कपड़ा वही कारखानोंमे और घरोंमें चलने वाले कर्घोंसे तैयार हो जाता है।

प्रधान आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेवाले उद्योग केवल पूर्व दिशाकी ओर ही नहीं बढ़े हैं, वे दक्षिणके प्रायद्वीपोंकी ओर भी फैलते जा रहे हैं। १८८४ मे ट्यूरिन (इटली) में जो प्रदर्शनी हुई थी उससे इटलीमें-कल-कारखानोंकी उन्नति स्पष्ट प्रकट होती थी। फ्रांस और इटलीके मध्यम वर्गोंमे जो पारस्परिक द्वेष है उसका कारण भी औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता ही है। स्पेन भी औद्योगिक देश बनता जा रहा है। पूर्वमे बोहेमिया एक-बारगी बड़े महत्वका उद्योग-केंद्र बन गया है, जहा बढ़िया मशीनरी और उत्तम वैज्ञानिक विधियोंसे काम होता है।

इस सिलसिलेमें हम हंगरीकी द्रुत प्रगतिकी भी चर्चा कर सकते हैं। पर हम ब्राजीलकी ही मिसाल क्यों न लें? अर्थशास्त्रियोंने कह दिया था कि ब्राजीलको प्रकृतिने केवल रूई उपजानेका काम सौंपा है, वह अपनी रूई विदेश भेजा करे और बदलेमें यूरोपसे तैयार कपड़ा मगाया करे। सचमुच चालीस बरस पहले ब्राजीलमे गिनतीके नौ टूटे-फूटे पुतलीघर थे जिनमें ३८५ तकुए चला करते थे। पर आज उस देशमे १६० सूती मिलें हैं, जिनमें १५ लाख तकुए और ५० हजार कर्घे लगे है और जो साल भरमे ५० करोड़ गज कपड़ा तैयार कर देते हैं।

मेक्सिको भी अब यूरोपसे कपडा नहीं मगाता और अपने लिए सूती कपडा खुद तैयार कर लेता है। संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) ने तो यूरोपकी सरपरस्तीसे अपना छुटकारा करा ही लिया और अपनी औद्योगिक शक्तियो का अत्यधिक विस्तार कर लिया है।

परंतु राष्ट्रीय उद्योगोंके विशेषीकरणके सिद्धांतके विरुद्ध सबसे महत्त्व का प्रमाण भारतवर्षने प्रस्तुत किया है।

इसका सिद्धांत हम सभीको ज्ञात है। यूरोपके बड़े-बड़े राष्ट्रोंको उपनिवेशोंकी आवश्यकता है, क्योंकि उपनिवेश 'मातृदेश' को कच्चा

माल—रुई, ऊन, खाद्य-पदार्थ, मसाले आदि—भेजते हैं। और मातृदेश उनको तैयार माल भेजनेके बहाने अपना रद्दी माल, रद्दी मशीनें, रद्दी लोहा, और हर चीज जो उसके लिए बेकार हो गयी है, उनके सिर मढ़ देता है। इस मालकी लागत तो नामकी ही होती है, पर दाम आठ-गुने, दसगुने मिल जाते हैं।

यही सिद्धांत था और बहुत दिनोंतक यही व्यवहार रहा। लंदन और मैंचेस्टरमें दौलत जमा होने लगी और हिंदुस्तान दिन-दिन तबाह होता गया। लदनके इंडियन-म्यूजियम (भारतीय अजायबघर) में वह अश्रुतपूर्व वैभव देखा जा सकता है जिसे अंग्रेज व्यापारियोंने कलकत्ते और बबईमें इकट्ठा किया।

पर दूसरे अंग्रेज व्यापारियों और पूंजीपतियोंने यह सीधी-सी बात सोची कि दो या ढाई करोड़ पौंडका माल हर साल वहां भेजनेके बजाय भारतवासियोंको लूटनेका यही तरीका अच्छा होगा कि भारतमें ही सूती माल तैयार किया जाय।

प्रारंभमें अनेक प्रयोग असफल हुए। भारतीय बुनकर, जो अच्छे कारीगर और अपने धंधेमें विशेषज्ञ थे, अपनेको कारखानोंके जीवनका आदी न बना सके। लिवरपूलसे भेजी हुई मशीनें खराब थीं। आबहवाका भी खयाल रखनेकी जरूरत थी। व्यापारियोंको अपनेको नयी परिस्थितिके अनुकूल बनानेमें भी कुछ समय लगा। पर अब हिंदुस्तान इंगलैंडका काफी बड़ा प्रतिद्वंद्वी हो गया है।

भारतमें अब २०० से अधिक सूती कपड़ेकी मिलें हैं। उनमें २ लाख ३० हजार मजदूर काम करते हैं। ६० लाख तकुए और ८० हजार कर्घे चलते हैं। जूटकी मिलें ४० हैं जिनमें ४ लाख तकुए हैं।*

*ये आंकड़े भी पुस्तकके रचना-काल या उससे कुछ पहलेके होंगे। १९४१ में भारतमें कुल ३६० पुतलीघर थे, जिनमें कुल ९९,६१,१७८ तकुए और १,९८,५७४ कर्घे चलते थे, तथा कुल ४,५६,५०९ मजदूर काम करते थे। १९३५-३६ में जूटकी मिलोंकी कुल संख्या १०४, उनके कर्घोंकी ६१,७२४ और मजदूरोंकी २,७८,००० थी।

भारत हर साल चीन, डच पूर्वीय द्वीपों और अफ्रीकाको लगभग अस्सी लाख पौंडका वैसा ही सफेद सूती माल भेजता है जो पहले इंगलैंडकी विशेषता बताया जाता था। इधर तो इंगलैंडके मजदूर अक्सर बेकार और मुहताज रहते हैं, उधर भारतकी स्त्रियां छः पेंस ( छः आने ) रोजकी मजदूरीपर कपड़ा बुनती हैं और वह कपड़ा सुदूरपूर्वके देशोंको भेजा जाता है। इंगलैंडके दूरदर्शी कारखानेदार यह समझने लगे हैं कि अब वह दिन दूर नहीं है जब विदेशोंके लिए कपड़ा बुनने वाले कारखानोंके मजदूरोंके लिए कोई काम बाकी न रहेगा। यह बात भी दिन-दिन स्पष्ट होती जा रही है कि अब भारत इंगलैंडसे एक टन भी लोहा न मंगायेगा। वहांके कोयले और कच्चे लोहेको व्यवहारोपयोगी बनानेमें शुरूमें जो कठिनाइयां थी वे अब दूर हो गयीं हैं और इंगलैंडका मुकाबिला करनेवाले ढलाईके कारखाने भारतीय समुद्र-तटपर खड़े हो गये हैं।

तैयार माल बनानेमे उपनिवेशोंकी अपने मातृदेशसे प्रतिद्वंद्विता ही बीसवीं सदीके अर्थशास्त्रकी गतिका नियमन करेगी।

और भारतवर्ष 'पक्का' माल क्यो न बनाये ? इसमें अड़चन किस बात की है ? पूंजी की ? तो पूंजी तो ऐसी चीज है जो हर जगह, जहांके आदमी इतने गरीब हो कि उनको चूसकर अपनी जेब भरी जा सके, पहुच जाती है। ज्ञानकी ? तो वह किसी देश-विशेषकी बपौती नहीं बना रहता। कल-पुरजोंके काममें कुशल श्रमिकोंकी ? तो आजकल इंगलैंडके कपड़ेके कारखानोंमें अठारह-अठारह बरससे भी कम उम्रके जो लाखों लड़के-लड़कियां काम कर रहे हैं, हिन्दुस्तानके कारीगर उनसे किसी तरह कम नहीं हैं।

## २

राष्ट्रीय उद्योगोंपर दृष्टिपात कर चुकनेके बाद अब उनकी कुछ विशेष शाखाओंकी चर्चा करना मनोरंजक होगा।

उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्द्धमें रेशमी माल खासकर फ्रांसमें ही तैयार होता था। लीओं नगर रेशमके व्यवसायका केंद्र था। पहले तो कच्चा रेशम दक्षिण फ्रांसमें ही पैदा किया जाता था। फिर थोड़ा-थोड़ा इटली, स्पेन, आस्ट्रिया, काकेशस और जापानसे भी मंगाया जाने लगा। १८७५ में लीओं और उसके आस-पासके स्थानोंमें पचास लाख 'किलो' (एक सेरसे कुछ अधिकका माप) कच्चे रेशमका कपड़ा तैयार किया गया था जिसमें से फ्रांसका रेशम सिर्फ चार लाख किलो था। पर लीओं बाहरसे रेशम मंगाकर कपडे बुन सकता था तो स्विटजर-लैंड, जर्मनी और रूस भी तो वैसा कर सकते थे। फलतः ज्यूरिख नगरके आस-पासके ग्रामोंमें रेशमकी बुनाईका काम बढ़ने लगा। बाल (स्विटजरलैंड) नगर रेशमके व्यवसायका बड़ा केंद्र बन गया। काकेशियन सरकारने जार्जिया-वासियोंको उन्नत विधिसे रेशमके कीड़े पालने और काकेशिया-वासियोंको रेशमकी बुनाईका काम सिखानेके लिए मार्सेल्जसे कुछ स्त्रियो और लीओंसे कुछ कारीगरोंको बुलाकर रखा। आस्ट्रियाने भी ऐसा ही किया। इसके बाद जर्मनीने भी लीओंके कारी-गरोंकी सहायतासे रेशमके बडे-बडे कारखाने खड़े कर लिये। संयुक्तराष्ट्र ने भी पेटर्सनमें कारखाने खोल लिये।

आज रेशमके व्यवसायपर केवल फ्रांसका इजारा नहीं रह गया है। अब रेशमी माल जर्मनी, आस्ट्रिया, संयुक्तराष्ट्र और इंगलैंडमें भी बनता है और हिसाब लगाया गया है कि फ्रांसमें जितना रेशमी कपड़ा खपता है उसका एक-तिहाई बाहरसे आता है। जाड़ेके दिनोंमें काकेशियाके किसान इतनी कम मजदूरीपर रेशमी रूमाल बुन देते हैं कि लीओंके बुनकरोंको वह मजदूरी मिले तो वे भूखों मर जायं। इटली और जर्मनी फ्रांसको अपने रेशमी मालका चालान करते हैं। लीओं सन् १८७० और १८७४ में ४६ करोड़ फ्रांकका रेशमी कपड़ा बाहर भेजता था, पर अब इसका आधा ही भेजा करता है। वस्तुतः वह समय बहुत दूर नहीं है जब वह केवल ऊंचे मेलका माल और कुछ नयी चीजें ही जर्मनी, रूस और जापान को, नमूनोंके तौरपर, भेजने लगेगा।

यही हाल सारे उद्योग-धंधों का है। बेल्जियमके हाथमें अब कपड़ेके उद्योगका इजारा नहीं रहा। जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया और संयुक्तराष्ट्रमें कपड़ा बनने लगा है। स्विटजरलैंड और फ्रांसके जूरा प्रदेशको घड़ियां बनाने का एकाधिकार नहीं रहा, वे सब कहीं बनने लग गयी हैं। रूसमें आनेवाली सफेद शक्कर स्काटलैंडकी विशेषता नही रही, अब तो उलटा इंग्लैंड रूसकी सफेद चीनी मंगाता है। इटली के पास न तो कोयला है न लोहा, फिर भी वह अपने जंगी जहाज और अपने स्टीमरोंके एंजिन खुद बना लेता है। रासायनिक द्रव्योंका उत्पादन इंगलैंडका इजारा नहीं रहा। गंधकका तेजाब और सोडा यूरालके पहाड़ी प्रदेशमें भी बनने लगा है। विंटरथर (स्विटजरलैंड) के बने हुए स्टीम-एंजिन सब कहीं प्रसिद्ध हो गये हैं। स्विटजरलैंड भी, जिसके पास न इस समय कोयला है न लोहा, और न कोई ऐसा बन्दरगाह ही जिससे ये चीजें बाहरसे मंगायी जा सकें—हैं केवल अच्छे-अच्छे शिल्प-शिक्षालय—इंगलैंडसे भी अच्छी और सस्ती मशीनें बनाता है। इस प्रकार विनिमयके सिद्धांतकी समाप्ति हो जाती है।

और बातोंकी तरह व्यापारकी प्रवृत्ति भी विकेन्द्रीकरण—अनेक स्थानोंमें बंट या फैल जाने की ओर है।

हर राष्ट्रको इस बातमें लाभ दिखाई देता है कि खेतीके साथ-साथ हर तरहके कल-कारखाने भी चलाये। जिस विशेषीकरणकी अर्थशास्त्री इतनी बड़ाई किया करते थे उससे बहुतसे पूंजीपतियोंका धन अवश्य बढ़ गया पर अब उसका कोई उपयोग नहीं रहा, बल्कि प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक राष्ट्रका लाभ इसीमें है कि वह अपने खर्चके लिए गेहूँ, साग-तरकारी और फल-फूल स्वयं उत्पन्न करे, और अपने लिए आवश्यक अधिकांश शिल्प-सामग्री भी खुद ही बना लिया करे। आपसके सहयोगसे अगर उत्पादनको पूरे तौरसे बढ़ाना है तो यह विविधता उसका पक्का उपाय है। विशेषीकरण तो उसकी राहका रोड़ा हो गया है।

कारखानोंके पास रहकर ही खेती उन्नति कर सकती है। जहां एक कारखाना खुला वहां अगणित प्रकारके विविध कारखाने उसके आस-पास

अवश्य खड़े हो जाते हैं, और अपने आविष्कारोंसे एक दूसरेको सहायता-उत्तेजना देते हुए वे अपना उत्पादन बढ़ाते हैं।

## ३

सचमुच यह बड़ी नासमझी है कि गेहूं तो बाहर भेज दिया जाय और आटा वहां से मंगाया जाय; ऊन देसावर भेजी जाय और कपड़ा बाहरसे मंगाया जाय; लोहेका निर्यात किया जाय और मशीनें विदेशसे खरीदी जायं। मालके भेजने-मंगानेमें समय और धनका नाश तो होता ही है, और हानियां भी होती हैं। जिस देशके उद्योग-धंधे उन्नत न होंगे उसकी कृषि भी पिछड़ी रहेगी। जिस देशमें लोहेसे पक्का माल बनानेके बडे-बडे कारखाने न होंगे उसके अन्य सारे उद्योग-धंधे अवनत अवस्थामें ही रहेंगे। यदि तरह-तरहके उद्योग धंधोंमें देशकी उद्योग-और शिल्प-संबंधी योग्यता काममें न लायी जाय तो वह योग्यता अविकसित ही रह जायगी।

आजकल उत्पादनकी दुनियामें हर चीजका एक-दूसरेसे संबंध है। यदि मशीनें न हों, बड़ी-बड़ी नहरें न हों, रेल-लाइनें न हों और खाद बनानेके कारखाने न हों, तो आजकलकी खेती हो ही नहीं सकती। इस मशीनरी, इन रेलों, इन सिंचाईके साधनों आदिको स्थानीय परिस्थितिमें उपयोगी बनानेके लिए यह आवश्यक है कि लोगोंकी आविष्कार-बुद्धि और कलोंसे काम लेनेकी योग्यता कुछ बढ़ायी जाय। पर यदि फावड़े और हल ही खेतीके सारे औजार बने रहेंगे तो लोगोंकी आविष्कारकी प्रवृत्ति और यांत्रिक कुशलता सुषुप्तिकी अवस्थामें ही पड़ी रहेगी।

अगर खेती अच्छी तरहसे करनी और जमीनसे अच्छी फसलें प्राप्त करनी हैं तो यह जरूरी है कि खेतोंके पास ही सब तरहके कारखाने स्थापित किये जायं। विविध प्रकारके धंधों और उनसे पैदा होनेवाली विविध प्रकारकी योग्यताओंमें समान उद्देश्यके लिए सहयोग होनेसे ही सच्ची प्रगति हो सकती है।

अब कल्पना कीजिए कि एक नगर या एक प्रदेशके—चाहे वह

छोटा हो या बड़ा—निवासी साम्यवादी क्रांतिके रास्तेपर पहली बार बढ़ रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि इससे 'कोई भी परिवर्तन न होगा।' खानें, कारखाने आदि व्यक्तिगत स्वामियोंके हाथोंसे ले लिये जायंगे और राष्ट्रीय या सार्वजनिक संपत्ति घोषित कर दिये जायंगे। फिर प्रत्येक आदमी अपना-अपना काम पूर्ववत् करने लगेगा और बस क्रांति पूरी हो जायगी।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि किसी बड़े शहरमें क्रांति हो जाय और कारखाने, मकान और बैंकपर श्रमिकोंका कब्जा हो जाय, तो इतनेसे ही उत्पादनकी वर्तमान व्यवस्था बिलकुल बदल जायगी।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद हो जायगा। बाहरसे खाद्य-सामग्रीका आना भी बंद हो जायगा। खाने-पीने और व्यवहारकी चीजोंका आना-जाना रुक जायगा। उस अवस्थामें क्रांति करनेवाले नगर या प्रदेशको मजबूरन अपने लिए आवश्यक सामग्री खुद जुटानी होगी और उत्पत्तिका प्रबंध नये ढंगसे करना पड़ेगा जिससे उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके। वह यह न कर सका तो उसका नाश निश्चित है। और उसने ऐसा कर लिया तो देशके आर्थिक जीवनकी कायापलट हो जायगी।

बाहरसे आनेवाली भोजन-सामग्री कम हो जायगी, खर्च बढ़ जायगा, जो दस लाख पेरिसवासी रफ्तनीके कारदारमे लगे थे वे बेकार हो जायंगे, बाहर से आनेवाला अनेक प्रकारका माल यथास्थान न पहुचेगा, और शौककी चीजोंका रोजगार कुछ समय के लिए रुक जायगा। ऐसी हालतमें पेरिसके लोग क्रांति के छः महीने बादतक क्या खायेंगे?

हमारा खयाल है कि जब पंचायती भंडारोंकी भोजन-सामग्री समाप्त हो जायगी तब जनता खेती करके अन्न उत्पन्न करनेका यत्न करेगी। तब लोग समझ लेंगे कि अपने शहर और उसकी हदके भीतर जितनी जमीन है उसमें खेती करना और खेतीके साथ-साथ कल-कारखानोंसे भी माल तैयार करना जरूरी है; तब उन्हें शौक-सजावट की चीजों का धंधा छोड़ना पड़ेगा और अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता—रोटीके उपायकी ओर ध्यान देना पड़ेगा।

नगरोंके बहुसंख्यक निवासियोंको खेती करनी पड़ेगी। वे उस तरह खेती न करेंगे जैसे आजकलके किसान करते हैं, जो मर-खपकर मुश्किलसे सालभरके गुजर लायक अन्न पैदा कर पाते हैं। वे उस श्रम-प्रधान (Intensive) ढंगकी खेती करेंगे जिससे थोड़ेसे स्थानमें अधिक उत्पत्ति हो सकती है। जिन तरीकोंको फल-फूल उत्पन्न करनेवाले कृषि-विशेषज्ञ अपने बागोंमें काम लाते हैं उन्हीं तरीकोंको वे लोग बड़े पैमानेपर काममें लायेंगे, बढ़ियासे-बढ़िया मशीनोंसे जिन्हें आदमीका दिमाग ईजाद कर सका है या कर सकता है काम लेंगे। वे दबे हुए देहाती किसानोंकी तरह खेती न करेंगे। पेरिसमें जवाहरात-का कारबार करनेवालेको वह ढंग कैसे पसंद आ सकता है? वे तो और अच्छे तरीकोंपर खेतीका प्रबंध करेंगे। और भविष्यमें नहीं बल्कि तुरत, क्रांति के संघर्षके समय ही करेंगे, इस भयसे कि वहीं क्रांतिके शत्रुओंसे पराजित न हो जायं।

खेतीका काम बुद्धियुक्त ढंगपर चलाना पड़ेगा। जैसे सौ बरस पहले 'शां दे मार्स'में* 'संघ भोज' (Feast of the Federation) के लिए लोगोंने काम किया था उसी तरह लोग एक आनंददायक कार्यके लिए अपनी-अपनी टोलियां बना लेंगे और वर्तमान समयके सारे अनुभवोंका लाभ उठाते हुए प्रसन्नतासे काम करेंगे। वह काम आनंदका काम होगा, जो अत्यधिक न किया जायगा, जिसकी व्यवस्था वैज्ञानिक ढंगपर हुई होगी, जब मनुष्य अपने औजारोंको खुद ईजाद करता और सुधारता होगा और जब उसे सदा इस बातका अनुभव हो रहा होगा कि वह समाजका एक उपयोगी सदस्य है।

वे लोग केवल गेहूँ और जई ही उत्पन्न न करेंगे। वे उन चीजोंको भी पैदा करेंगे जिन्हें वे पहले बाहरके प्रदेशोंसे मंगाते थे। जो जिले क्रांतिका साथ न देंगे वे भी क्रांतिकारियोंके लिए 'बाहरके प्रदेश' हो सकते हैं। १७६३ और १८७१ की क्रांतियोंमें पेरिसके दरवाजेके बाहरका इलाका उसका 'बाहरका प्रदेश' बन गया था। ट्रोयके गल्लेके सट्टे-

*सैनिकोंका एक वार्षिक सम्मेलन जो पहले फ्रांसमें हुआ करता था। पेरिसमें सेन नदीके बायें किनारेपर स्थित एक मैदानका भी यही नाम है।

बाजोंने १७६३ और १७६४में पेरिसके प्रजातंत्रवादियोंको जर्मन सेनाको फ्रांस में बुला लानेवाले वारसेईके षडयंत्रकारियोंकी तरह ही बल्कि उनसे भी अधिक भूखों मारा था। क्रांति करनेवाले नगरको इन 'विदेशियों'की सहायताके बिना ही काम चलाना पड़ेगा, और चलाया भी जा सकता है। यूरोपके घेरेके समय जब शकरकी कमी पड़ी तब फ्रांसने चुकंदरकी जड़की चीनी निकाली थी। पेरिस-वासियोंको जब बाहरसे शोरा मिलना बंद हो गया तो उन्होंने अपने तहखानोंमेंसे शोरा निकाला। तब क्या हम अपने उन पुरखोंसे भी पीछे रहेंगे जो विज्ञानका 'ककहरा' भी न जानते थे?

क्रांतिका अर्थ प्रचलित शासन-पद्धतिका बदल जाना ही नहीं है। उसका अर्थ होता है मनुष्यकी-बुद्धिका जाग जाना। उसकी आविष्कारशक्तिका दसगुनी, सौगुनी हो जाना। वह नये विज्ञानका—लाप्लास, लामार्क, लावाजिये जैसे विज्ञानियोंके विज्ञानका—अरुणोदय होता है। वह जितना परिवर्तन मनुष्योंकी संस्थाओंमें करती है उतना ही बल्कि उससे भी भारी परिवर्तन उनके मन और बुद्धिमें कर देती है।

फिर भी कुछ अर्थशास्त्री हैं जो हमसे कहते हैं कि क्रांति हो जानेके बाद लोग पूर्ववत् अपने कारखानोंमें जाकर काम करने लगेंगे। वे समझते हैं कि क्रांति करना वैसा ही है जैसा पासके जंगलकी सैर करके घर लौट आना।

पहले तो मध्यमवर्गकी संपत्तिपर कब्जा कर लेनेका ही यह अर्थ होगा कि देशके सभी कारखानोंके सारे आर्थिक जीवनको पूरे तौरपर नये तरीकेसे संगठित करना पड़े।

क्रांति निश्चय ही ऐसा किये बिना न रहेगी। पेरिस साम्यवादी क्रांतिके समय एक या दो बरस तक मध्यमवर्गीय शासनके समर्थकों द्वारा दुनियासे अलग कर दिया जाय तो वहाँके वे लाखों विद्या-बुद्धिवाले लोग, कारखानोंका यांत्रिक जीवन जिनके स्फूर्ति-उत्साहको खा नहीं गया है, बाहरकी सहायता लिये बिना ही, सूर्य, वायु और धरतीके भीतर भरी शक्तियोंसे ही काम लेकर दुनियाको दिखा देंगे कि आदमीका दिमाग क्या कुछ कर सकता है।

तब हम देखेंगे कि परस्पर सहयोग रखते हुए और क्रांतिकी भावनासे अनुप्राणित विविध प्रकारके धंधे-व्यवसाय करोड़ों विद्या-बुद्धि-युक्त मनुष्योंके वास्ते भोजन, वस्त्र, मकान और सब तरहकी सुख-सुविधाकी सामग्री जुटा देनेके लिए कितना कर सकते हैं।

हमें आख्यान लिखकर इस बातको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें जिसका पूरा निश्चय है, जिसकी परीक्षा और प्रयोग हो चुके हैं और जो व्यावहारिक मान लिया गया है वही उसे कार्य-रूप देनेके लिए काफी है, शर्त यह है कि प्रयत्न क्रांतिकी साहस-भरी स्फूर्ति और जनताके दिलोंमें अपने आप पैदा हुए उत्साहसे अनुप्राणित हो।

## : १७ :

# कृषि

## १

अर्थशास्त्रपर अक्सर यह दोष लगाया जाता है कि उसके सारे निष्कर्ष इस मिथ्या सिद्धातपर आश्रित हैं कि संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यको अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ानेके लिए प्रेरित करता है।

यह आरोप बिलकुल सही है। वेही समय बड़े-बड़े औद्योगिक अन्वेषणों और सच्ची औद्योगिक उन्नतिके युग सिद्ध हुए हैं जिनमें मनुष्योंके हृदयमें सबके कल्याणकी भावना प्रबल रही और स्वार्थ-साधनका विचार कम-से-कम रहा। विज्ञान-जगत्के बड़े-बड़े अन्वेषको और आविष्कारकोंका प्रधान लक्ष्य यही था कि मनुष्य-जाति प्रकृतिकी अधीनतासे और अधिक स्वतंत्र हो जाय। वाट, स्टिफेनसन, जेकर्ड आदि आविष्कारकोंको इसका तनिक भी आभास मिल गया हो तो जिस कामके लिए वे रात-की-रात बैठे बिता देते हैं वही आगे चलकर श्रमजीवियोंकी कैसी दुर्दशाका कारण बन जायगा, तो निश्चय ही उन्होंने अपने डिजाइन जला दिये और नमूने ताड़-फोड़ डाले होते।

अर्थशास्त्रका एक और प्रधान सिद्धात भी इतना ही गलत है। सभी अर्थशास्त्री अप्रत्यक्ष रूपसे मानते है कि यद्यपि किसी-किसी उद्योगमें अक्सर जरूरतसे ज्यादा माल पैदा हो जाता है, फिर भी समाजका उत्पादन कभी इतना नहीं हो सकता कि सबकी आवश्यकताएं पूरी हो जायं। इसलिए, ऐसा समय कभी आ ही नहीं सकता जब कोई भी मजूरीकी खातिर अपना श्रम बेचनेको मजबूर न हो। अर्थशास्त्रियोंके सारे सिद्धात और 'नियम' इसी स्वीकृतिपर आश्रित हैं।

परंतु यह निश्चय है कि जिस दिन कोई सभ्य समाज इस बातकी

खोज करेगा कि सबकी आवश्यकताएं और उनकी पूर्तिके साधन क्या-क्या हैं उसी दिन उसे मालूम हो जायगा कि कृषि और शिल्प दोनोंमें उसके पास सबकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए पर्याप्त साधन मौजूद हैं, बशर्तें कि वह जानता हो कि सच्ची आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए इन साधनोंको किस तरह काममें लाना चाहिए।

सबकी औद्योगिक सामग्रीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सकती है, इससे तो कोई इनकार कर ही नहीं सकता। जिन तरीकोंसे आजकल कोयला और कच्चा लोहा निकाला जाता है, फौलाद तैयार कर उसकी चीजें बनायी जाती हैं, बड़े पैमाने पर कपड़ा आदि तैयार किया जाता है, उनको जान लेना ही यह समझ लेनेके लिए काफी है कि आज भी हम अपने उत्पादन को चौगुना या इससे भी अधिक बढ़ा सकते हैं, और उसके लिये मेहनत भी आजसे कम ही करनी होगी।

पर हम तो इससे भी आगे जाते हैं। हमारा तो कहना है कि कृषिकी भी ठीक यही स्थिति है। जिस तरह कल-कारखानेवाले अपनी उत्पत्तिको चौगुनी ही नहीं, दसगुनीतक बढ़ा सकते हैं उसी तरह खेती करनेवाले भी अपनी उपजको दसगुनी कर ले सकते हैं, और ज्यों ही उन्हें ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो, ज्योंही पूंजीवादी संगठनके स्थान पर साम्यवादी संगठन स्थापित हो जाय, त्योंही वे ऐसा करके दिखा सकते हैं।

जब कभी खेतीका नाम लिया जाता है, हमारे सामने ऐसे आदमीका चित्र आ जाता है जो कमर झुकाये खराब और बिना बिने-फटके बीज धरतीमें बखेर दे रहा है, और वर्षा-वर्फ-पालेकी कृपा पर आस लगाये बैठा रहता है। एक ऐसे परिवारका ध्यान आता है जो सवेरेसे शामतक कठोर श्रम करता है और इसके बदलेमें बड़ी मुश्किलसे बिछानेको बोरिया या कथरी, खानेको सूखी रोटी और साग या पनमेल दाल पाता है।

और इन अभागोंके लिए समाज अधिक-से-अधिक जो कुछ करना चाहता है वह यही है कि उनका टैक्स या लगान कुछ कम कर दिया जाय। पर बड़े-से-बड़े समाज-सुधारकके दिमागमें भी कभी यह बात नहीं आती कि किसान भी किसी दिन कमर सीधी करके खड़ा हो सकता है, आराम

का वक्त पा सकता है और रोज कुछ घण्टे काम करके ही अपने परिवारके लिए ही नहीं बल्कि कम-से-कम सौ और आदमियोंका पेट भरने भर अन्न उत्पन्न कर सकता है। साम्यवादी भी भावी जगतकी अपनी अधिक-से-अधिक सुंदर कल्पनामें अमेरिकाकी भूमि-प्रधान (Extensive)* खेतीसे आगे नहीं जा पाते, जो वास्तवमें कृषि-कलाका बचपन ही है।

पर आजके सोचने-समझनेवाले किसानके विचार इससे अधिक विस्तृत हैं, उसकी कल्पनाएं अधिक 'बड़े पैमानेकी' हैं। वह कहता है कि एक परिवारकी आवश्यकता पूरी करनेभर फल और तरकारी एक एकड़ से भी कम जमीनमें पैदा की जा सकती है, और पहले जितनी जमीनकी घाससे एक बैलका पेट भरा जा सकता था उतनी जमीनसे अब पच्चीस पशुओंका पेट भर दिया जायगा। वह चाहता है कि जमीनको जैसी चाहे बना ले, ऋतु तथा जलवायुके विपरीत फसलें भी पैदा करे और बढ़नेवाले पौधोंके आस-पासकी हवा और जमीन दोनोंको नकली गरमी पहुँचाकर गरम कर दे। थोड़ेमें वह यह चाहता है कि पहले वह ५० एकड़से जितना पैदा किया करता था उतना अब एक एकड़से ही करले और उसके लिए उसे बहुत ज्यादा मेहनत भी न करनी पड़े बल्कि कामके घण्टे और कम हो जाय। वह जानता है कि हर आदमी प्रसन्नता और आनंदके साथ जितनी देर श्रम कर सकता है उतना ही समय खेतीके कामका देनेसे भी सबके खाने भर अन्न-शाक मजेसे पैदा किया जा सकता है।

यही कृषि-कर्मकी वर्तमान प्रवृत्ति है।

कृषिके रसायनिक सिद्धांतके प्रवर्त्तक लीबिंग और अन्य वैज्ञानिक तो सिद्धांतोंमें ही उलझे रहनेके कारण अक्सर गलत रास्ते पर चले गये, पर अपढ़ किसानोंने समृद्धिके नये-नये रास्ते खोल दिये। पेरिस, ट्रोय, रोआं नगरो और इंगलैंड तथा स्काटलैंडके बागबानोंने, फ्लैंडर्स और लोंबार्डीके खेतिहरोंने, जर्सी, गर्नजीके किसानों और सिली द्वीपोंके फार्मवालोंने

* खेतीकी दोनों—श्रमप्रधान और भूमिप्रधान—विधियोंका परिचय इसी परिच्छेदमें आगे दिया गया है।

खेतीकी उन्नतिकी ऐसी विशाल सम्भावनाएं हमारे सामने ला दी हैं कि मन उनकी विशालताकी कल्पना करनेमें सहमता है।

अबतक एक किसान-परिवारको खेतीकी उपजसे ही गुजर करनेके लिए—और किसान किस तरह गुजर करते हैं, यह हम जानते ही हैं—सत्रहसे बीस एकड़तक जमीनकी जरूरत हुआ करती थी; पर खेतीकी श्रम-प्रधान अर्थात् खाद आदिके उपयोगसे अधिक फसल पैदा करनेकी विधि काममें लायी जाय तो एक परिवारकी जरूरतें और शौक पूरे करनेका भी सामान मिल जानेके लिए कम-से-कम कितनी जमीनकी जरूरत होगी, इसका अंदाजा हम आज लगा ही नहीं सकते।

आजसे बीस साल पहले भी यह कहा जा सकता था कि ग्रेट ब्रिटेन में ही इतनी उपज हो सकती है कि उसकी तीन करोड़ जनताका काम मजेसे चल जाय और बाहरसे कुछ भी न मंगाना पडे। पर इधर फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंडमें कृषि-विज्ञानकी जो प्रगति हुई है और उन्नतिकी जो नयी दिशाएं हमारे लिए खुल गयी हैं उन्हे देखते हुए तो हम कह सकते हैं कि आज अनेक स्थानोंमें जिस ढंगकी खेती की जा रही है उस तरह जोतने-बोनेसे भी ग्रेट ब्रिटेनकी धरती इतना अन्न उपजा सकती है कि पाच-छः करोड़ आदमी भी उसे खानेके लिए कम हों।

कम-से-कम इस बातको तो पक्के तौरसे प्रमाणित मान सकते हैं कि अगर पेरिस और सेन तथा सेन-ए. वाजके जिले मिलकर अराजक साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करलें, जिसमें हर आदमी शारीरिक श्रम करता हो, तो चाहे सारी दुनिया उन्हें एक सेर गेहूं, एक बैल या बकरी, एक डलिया फल भेजनेसे भी इनकार कर दे, वे अपने लिए आवश्यक सारा अन्न, मांस और साधारण साग-भाजी ही नहीं, बल्कि ऐसी तरकारियां भी जो आज विलासकी वस्तु—केवल लक्ष्मीके लाडलोंका भोग्य—समझी जाती हैं, इतनी मात्रामें उपजा सकते हैं कि सबके लिए काफी हो।

इसके साथही हमारा यह भी दावा है कि भूमि-प्रधान विधिकी खेतीसे अच्छीसे-अच्छी जमीनसे भी इतना अन्न-फल-शाक पैदा करनेमें जितना श्रम आज करना पड़ता है, यह श्रम उससे बहुत कम ही होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि हम सब प्रकारके विनिमयको कदापि बंद करना नहीं चाहते, न हम यही चाहते हैं कि हरएक देश ऐसी चीजें पैदा करनेकी कोशिश करे जो वहां कृत्रिम विधियोंसे ही उत्पन्न की जा सकती हैं। पर हम इस बातकी ओर लोगोंका ध्यान खींचना चाहते हैं कि विनिमयके सिद्धांतका जो अर्थ आज समझा जाता है उसमें भारी और विचित्र अतिशयोक्ति है और विनिमय प्रायः निरर्थक तथा हानिकर भी होता है। इसके अतिरिक्त हमारा यह भी कहना है कि लोगोंने कभी इस बातको ठीक तौरसे समझा ही नहीं कि दक्षिण यूरोपके अंगूर उप-जानेवालों और रूस तथा हंगरीके अनाज पैदा करनेवालोंको कितना अधिक श्रम करना पड़ता है। यह श्रम बहुत कम हो जाय, यदि खेतीकी आजकी भूमि-प्रधान पद्धतिको छोड़कर वे श्रमप्रधान विधिको अपना लें।

## २

जिस तथ्य-राशिके आधारपर हमारा यह दावा है उसको यहां उद्धृत करना संभव नहीं। इसलिए जो पाठक इस विषयमें अधिक जानना चाहते हों वे मेरी दूसरी पुस्तक "Fields, factories, and workshops" को पढ़नेका कष्ट करें। जिन लोगोंको इस विषयसे दिल-चस्पी हो उनसे हमारी सिफारिश है कि वे उन कई अच्छी-अच्छी पुस्तकों को पढ़ डालें जो फ्रांस और दूसरे देशोंसे निकली हैं। बड़े शहरोंके रहने वालोंके लिए, जिन्हें अभीतक इस बातका पता नहीं कि उन्नत वैज्ञानिक खेती कैसे होगी, हमारी सलाह है कि वे शहरोंके आसपास के फल-फूलके बाग और तरकारीके खेत जाकर देखें और बागवानों से उनके बारेमें पूछें तो उन्हें मालूम होगा कि उन्होंने एक नयी दुनिया देख ली। तब वे इसका अनुमान कर सकेंगे कि बीसवीं शताब्दीके यूरोपकी खेती कैसी हो सकती है, और इसका अंदाजा भी लगा सकेंगे कि जब हमें अपनी सब आवश्यकताएं जमीनसे ही पूरी कर लेनेकी कुञ्जी मिल जायगी तब साम्य-वादी क्रांतिका बल कितना बढ़ जायगा।

हम अतिशयोक्ति नहीं कर रहे हैं—अपनी बातको बढ़ाचढ़ाकर

नहीं कह रहे हैं, पाठकोंको इसका इतमीनान करा देनेके लिए दो-चार तथ्यों का उल्लेख कर देना ही काफी होगा। पर इसके पहले हम कुछ सामान्य सूचनाएं कर देना चाहते हैं।

हमें मालूम है कि यूरोपकी खेतोंकी अवस्था आजकल कैसी बुरी है। किसानको अगर जमीदार नहीं लूटता तो राज्य उसे लूटनेको मौजूद है। अगर राज्य उसपर हलका कर लगाता है तो कोई साहूकार हैंडनोट लिखाकर उसे अपना गुलाम बना लेता है। शीघ्र ही उसकी जमीन की असल मालिक कोई महाजनी कोठी हो जाती है और वह उसका शिकमी काश्तकार बन जाता है। इस तरह जमींदार, राज्य और साहूकार तीनो लगान, टैक्स और ब्याजके रूपमें उसका खून चूसते रहते हैं। इनकी मात्रा भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न है, पर कहीं भी वह जमीनकी सारी उपजकी चौथाईसे कम नहीं है और अक्सर आधेतक पहुंच जाती है। फ्रांस और इटलीमें तो अभी कलतक किसान अपनी कुल उपजका ४४ प्रतिशत राज्यको दे दिया करता था।

इतना ही नहीं, जमीदार और राज्यका हिस्सा सदा बढ़ता ही जाता है। ज्यो ही किसान अपने परिश्रम, आविष्कार या उद्योगसे अपनी पैदावार कुछ बढ़ा लेता है त्यों ही उसे भूस्वामी, राज्य और साहूकारको अपनी आमदनीका उतना अधिक अंश दे देना पड़ता है। अगर पैदावार बीघापीछे दुगुनी या तिगुनी हो जाय तो लगान और राज्यके कर भी दुगुने या तिगुने हो जायंगे, और अगर चीजोंके दाम बढ़ जायं तो राज्य अपने कर और भी बढ़ा देगा। थोड़ेमें कहा जा सकता है कि किसानको हर जगह रोज बारहसे लेकर सोलह घंटेतक पिसना पड़ता है; ये तीनों लुटेरे सब कहीं उसकी वह सारी कमाई लूट लेते हैं जो शायद उसके पास बच रहती और जिससे वह अपनी खेतीकी उन्नति करता। यही कारण है कि कृषि ऐसी कछुएकी चालसे आगे बढ़ रही है।

जब ये तीनों गिद्ध आपसमें लड़ने लगते हैं तभी किसान कहीं-कहीं अपनी हालत थोड़ी-बहुत सुधार पाता है। अपनी आमदनीका जो

हिस्सा हर किसान कारखानेदारको तैयार मालके लिए दिया करता है उसका तो हमने जिक्र ही नहीं किया। हर एक मशीन, फावड़ा, कुदाल या रासायनिक खादका डब्बा लागतसे तिगुने या चौगुने दाम पर उसके हाथ बेचा जाता है। इसके बाद बीचवालों—दूकानदारोंकी बारी होती है जो खेतीकी उपजका बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं।

इसी कारण इस आविष्कार और उन्नतिके युगमें भी खेतीमें जब-तब और छोटे-छोटे क्षेत्रोंमें ही कुछ उन्नति हो सकी है।

जिस प्रकार बड़े-बड़े रेगिस्तानोंमें कहीं-कहीं नखलिस्तान हुआ करते हैं, सौभाग्यसे उसी प्रकार कुछ ऐसे क्षेत्र बच रहते हैं जिन्हें लुटेरोंने कुछ समयके लिए बख्श दिया हो। ऐसे ही क्षेत्रोंमें हमें इसका पता लग पाता है कि श्रमप्रधान खेती मनुष्य-जातिके लिए क्या कर सकती है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अमेरिकाके मैदानोमे साधारणतः फी एकड़ २४४ से लेकर ४८० सेर* तक गेहूँ पैदा होता है, और कभी-कभी सूखा पड जानेसे इसमें भी कमी हो जाती है। पर उसी प्रदेशमें ५०० आदमी आठ महीने काम करके ५०,००० मनुष्योंके लिए साल भरका अन्न उत्पन्न कर लेते हैं। पिछले तीन वर्षोंमें जो उन्नति हुई है उससे एक आदमीके वर्षभर ( ३०० दिन ) के श्रमसे इतना गेहूँ पैदा होता है कि उसका आटा शिकागो शहरके २५० आदमियोंके सालभर खानेके लिए काफी हो सकता है। यह फल शारीरिक श्रमकी बहुत बचत करके प्राप्त किया गया है। उन बड़े-बड़े मैदानोंमें जोतना, फसल काटना और माड़ना सब कुछ एक तरहसे फौजी ढंगसे होता है। व्यर्थ का इधर-उधर दौड़ना नहीं होता, समय नष्ट नहीं किया जाता। सारा काम कवायदकी तरह बंधे तरीकेपर होता है।

यह तरीका बड़े पैमानेकी भूमि-प्रधान खेतीका है, जो जमीनका उपयोग करता है पर उसे सुधारनेकी कोशिश नहीं करता। जमीन जितना उपजा सकती है उतनी पैदावार उससे ले लेनेके बाद वह वैसी ही छोड़

* मूल पुस्तकमें बुशलमें हिसाब दिया गया है। यहां ३२ सेर का बुशल मानकर सेरोंमें दिया गया है।

दी जाती हैं। फिर नयी जमीनकी तलाश होती है और कुछ दिनमें वह भी इसी तरह 'ठांठ' बना दी जाती है। पर एक श्रम-प्रधान खेतीकी पद्धति भी है जिसमें आज भी कलोंसे काम लिया जाता है, और उनका उपयोग दिन-दिन और बढ़ेगा। श्रम-प्रधान या वैज्ञानिक खेतीका उद्देश्य यह है कि थोड़ी जमीनको अच्छी तरह कमाया जाय, उसमें खूब खाद डाली जाय, उसकी उर्वरता बढ़ायी जाय, एक समय एक ही बात में पूरी शक्ति लगायी जाय, और भूमिसे अधिक-से-अधिक उपज की जाय। कृषिकी इस प्रणालीका प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। दक्षिण फ्रांसमें और पश्चिमी अमेरिकाके उपजाऊ मैदानोंमें भी भूमि-प्रधान विधिसे फी एकड़ ३५२ से ४८० सेरतक ही औसत उपज होती है। पर उत्तर फ्रांसके किसान श्रम-प्रधान खेतीके द्वारा नियमित रूपसे फी एकड़ ११४८ से १७६६ सेर, और कभी-कभी १६२० सेर तक पैदा कर लेते हैं। इस तरह एक आदमीके सालभरके खर्चका अन्न चौथाई एकड़से भी कम जमीनसे मिल जाता है।

जमीनसे अधिक-से-अधिक फसल उपजानेकी विधि जितनी काममें लायी जायगी, किसानकी मेहनत उतनी ही कम होती जायगी। खेतीमें जो तैयारीका काम होता है, जैसे जमीनको सुखाना, कंकड़-पत्थर निकाल देना आदि, वह मेशीन कर देती है। और यह काम एक ही बार करना होता है, पर इतनेसे ही फसल दूनी हो जाती है। अक्सर ऐसा भी होता है कि खेतको घास-पातसे साफ रखनेसे ही, बिना खाद दिये भी, औसत दर्जेकी जमीनसे हर साल अच्छी उपज होने लगती है। हर्टफोर्डशायर (इंगलैंडके) राथमस्टेड नामक स्थानमें लगातार चालीस साल तक यही तरीका काममें लाया गया है।

जो हो, कृषिके विषयमें हमें कोई विचित्रतामयी कहानी लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। हम इतना मान लेते हैं कि एकड़ पीछे १४०८ सेरकी उपज हो सकती है। और इसके लिए बहुत बढ़िया जमीनकी भी जरूरत नहीं है, केवल बुद्धि लगाकर खेती करनेभरकी आवश्यकता है। फिर देखिए कि वह क्या कर दिखाती है।

फ्रांसके सेन और सेन-ए-वाजके दो प्रदेशोंमें ३६ लाख जन रहते हैं। उन्हें साल-भरके खानेके लिए ७० करोड़ ४० लाख सेर या कोई पौने दो करोड़ मनसे कुछ कम ही अनाजकी आवश्यकता होती है। उतना अन्न उपजानेके लिए उन्हें ४,६४,२००एकड़ जमीनमें खेती करनी होगी, और उनके पास है कुल १५,०७,३०० एकड़ जमीन। वे फावड़ोंसे तो खेती करेंगे नहीं, उसमें समय बहुत लगेगा—हर एकड़पर ५-५ घंटेके ६६ दिन लग जायंगे। यह अच्छा होगा कि भूमि एक ही बार सदाके लिए सुधार ली जाय। गीली जमीन पानी निकालकर सुखा ली जाय, ऊंची-नीची जमीन बराबर करली जाय, और कंकड़-पत्थर बीनकर फेंक दिये जांय। जमीनकी इस तैयारीमें पांच-पांच घंटेके ५० लाख दिन भी लगें तो लगा देने चाहिए, जिसका औसत एकड़ पीछे १० 'श्रम-दिवस' आयेगा।

जमीन 'स्टीम-डिगार' मशीनसे जोती जायगी, जिसमें एक एकड़पर १$\frac{3}{5}$ दिन लगेंगे। फिर दुहरे हलसे जुताई करनेमें भी इतना ही समय देना होगा। मशीनसे बीज बिने जायगे और जैसे-तैसे बखेर देनेके बजाय सीधी कतारोंमें बोये जायंगे। ठीक तौरसे काम किया जाय तो फी-एकड़ पाच-पांच घंटेके १० दिन भी न लगेंगे। पर तीन या चार बरसमें अच्छी जुताईके लिए यदि १०० लाख श्रम-दिवस लगा दिये जायंगे तो फल यह होगा कि आगे इससे आधे समय काम करनेसे ही फी एकड़ १४०८ सेरसे १७६० सेरतक उपज होती रहेगी।

इस प्रकार ३६ लाख जनताको रोटी देनेके लिए १५० लाख श्रम-दिन लगाने होंगे। और यह काम भी ऐसा होगा कि उसके लिए न तो फौलादकी देह दरकार होगी, और न पहलेसे खेतीके कामका अनुभव रखनेकी ही आवश्यकता होगी। कार्यका आरंभ और बंटवारा अवश्य ही वही लोग करेंगे जो खेतीके जानकार होंगे, पर जहांतक काम करनेका सवाल है कोई शहराती मर्द या औरत ऐसी न होगी जो कुछ घंटोंकी उम्मेदवारीमें ही मशीनें चलाने और खेतीके काममें अपना हिस्सा देने लायक न हो जाय।

हम जानते हैं कि पेरिस-जैसे शहरमें, ऊंचे वर्गोंके नेवारोंको छो

-कर, केवल विविध व्यवसायोंके ही १ लाख श्रमजीवी प्रायः सदा बेकार रहते हैं। इतने ही आदमी, जिनकी शक्ति वर्तमान समाज-संगठनमें व्यर्थ नष्ट होती है, बुद्धि-पूर्वक खेती करके उक्त दोनों जिलोंके ३६ लाख निवासियोंके लिए काफी अन्न उत्पन्न कर सकते हैं।

हम फिर कहते हैं कि यह सब केवल स्वप्न या शेखचिल्लीकी कल्पना नहीं है, हमने तो अभी सच्ची श्रम-प्रधान खेतीकी चर्चा ही नहीं की है। श्रीहैलेटने प्रयोग करके देखा है कि एक गेहूंके दानेसे तीन सालमें ५००० या ६००० और कभी-कभी दस हजार दानेतक भी पैदा हो सकते हैं। इस हिसाबसे १२० वर्ग गज जमीनमें पांच व्यक्तियोंके परिवारके खानेभर गेहूं पैदा हो सकता है। पर हमने इस हिसाबको अपना आधार नहीं बनाया है। हमने तो उसी उपजके उदाहरण दिये हैं जो फ्रांस, इंगलैंड, बेल्जियम आदिके बहुसंख्यक किसानोंके खेतोंमें आज भी हो रही है, और जो अबतक प्राप्त ज्ञान तथा अनुभवको बड़े पैमानेपर काममें लानेसे आगे भी हो सकती है।

पर बिना क्रांति हुए इस प्रकारकी खेती न कल की जा सकेगी, न परसों; क्योंकि इसमें जमींदारों और पूंजी-पतियोंका स्वार्थ नहीं है, और जिन किसानोंका इसमें लाभ है उनके पास न इतना ज्ञान है, न इतना पैसा और न इतना समय ही कि वे इस दिशामें प्रयत्न कर सकें ?

आजका समाज अभी इस अवस्थातक नहीं पहुंचा है। पर जब पेरिस-वासी अराजक पंचायतकी घोषणा कर देंगे तब वे ऐसी बेवकूफी न करेंगे कि शौकीन अमीरोंके लिए खिलौने बनाते न रहें ( ये तो अब वियेना, वारसा और बर्लिनमें भी बनने लगे हैं ) और भूखों मरनेकी जोखिम उठावें, बल्कि जरूरतसे मजबूर हो अपने आप इस ढगकी खेती करने लगेंगे।

इसके अलावा मशीनकी मददसे खेती करना जल्दी ही सबसे अधिक आकर्षक और सबसे अधिक आनंद-प्रद धंधा बन जायगा।

लोग कहेंगे कि "अब गहनों और गुड़ियोंके से रंग-बिरंगे कपड़े हमें न चाहिए। अब तो वह समय आगया है कि श्रमिक अपनी शक्ति को खेतीमें लगायें और शहरके कारखानोंमें बंद रहकर जिस शक्ति-स्फूर्ति,

प्रकृति-परिचय और जीवनके आनंदको खो चुके हैं उसकी पुनः प्राप्तिका प्रयत्न करें।"

मध्यकालमें स्विटजरलैंड-वासियोंने सरदारों और राजाओंकी शक्ति को उलट दिया था, पर तोपोंकी ताकतसे नहीं, बल्कि अपनी पहाड़ी चरागाहों के बलसे। कोई भी क्रांतिकारी नगर आधुनिक कृषिकी सहायतासे सारी मध्यमवर्गीय शक्तियोंसे मोरचा लेकर अपनेको स्वतंत्र कर सकता है।

३

यह तो हम देख चुके कि पेरिसके आसपासके दोनों जिलोंके ३५-३६ लाख निवासी किस तरह केवल अपनी एक-तिहाई जमीनको जोत-बोकर अपने लिए काफी अनाज पैदा कर सकते हैं। अब पशुओंके प्रश्नको लेना चाहिए।

इंगलैंडके लोग मांस अधिक खाते हैं। हर एक बालिग व्यक्ति सालमें औसतन करीब २२० पौंड मांस खा जाता है। अगर यह मान लें कि सब लोग बैलका ही मांस खाते हैं तो इतना मांस एक बैलकी एक तिहाई से कुछ कम ही ठहरता है। इस तरह पांच आदमियोंके लिए, जिनमें बच्चे भी शामिल हैं, सालमें एक बैल काफी होगा। ३६ लाख आदमियोंके लिए इस पद्धतिसे लगभग ७ लाख पशु सालभरमें लगेंगे।

आजकल चरागाहों की व्यवस्थामें ६ लाख ६० हजार पशुओंको पालनेके लिए कम-से-कम ५० लाख एकड़ जमीनकी जरूरत होती है। इस तरह प्रत्येक पशुपर ६ एकड़का औसत पड़ता है। पर घासवाले मैदानोंमें, जहां फव्वारोंसे थोड़ा-थोड़ा पानी छिड़का जाता है (जैसा कि हालमें ही फ्रांसके दक्षिण-पश्चिम भागमें हजारों एकड़के रकबेमें किया गया है) वहां १२॥ लाख एकड़ जमीन ही काफी होती है। परंतु यदि श्रमप्रधान ढंगकी खेती की जाय और पशुओंके चारेके लिए चुकंदरकी जड़ काममें लायी जाय तो इसकी भी चौथाई अर्थात् केवल ३ लाख १० हजार एकड़ जमीन ही काफी होगी। और अगर हम मकई उगाएं और अरबवालोंकी तरह उसे ताजा दबाकर चारेके लिए रख छोड़ें तब तो

इतने पशुओंके चारेके लिए हमें केवल २,१७,५०० एकड़ जमीन ही दरकार होगी।

मिलन (इटली) नगरके आस-पास शहरकी गन्दी नालियोंके पानी से खेत सींचे जाते हैं। वहां २२ हजार एकड़में चरी उगायी जाती है और एक एकड़ से २ या ३ पशुओंका पेट भरनेभर चारा मिल जाता है। कुछ अच्छे खेतोंमें तो १० एकड़में १७७ टनतक* सूखा चारा पैदा हुआ है, जो ३६ दुधारु गायोंको सालभरके लिए काफी होता है। चरागाहोंकी पद्धतिमें एक पशुके लिए लगभग ६ एकड़ जमीन चाहिए और नयी पद्धतिमें ६ गायों या बैलोंके लिए केवल २॥ एकड़ जमीन काफी होती। यह है आधुनिक कृषिके दो परिणामोंका अन्तर।

गर्न्जी प्रदेशमें कुल ६,८८४ एकड़ जमीन काममें आती है, जिसमेंसे लगभग आधी (४,६६५ एकड़)में अनाज और साग-भाजी बोयी जाती है; केवल ५,१८६ एकड़ जमीन चरागाहके लिए बचती है। इस ५,१८६ एकड़ जमीनमें १,४८० घोड़े, ७,२६० गाय-बैल, ९०० भेड़ें और ४,२०० सुअर चराये जाते हैं, और भेड़ या सुअर समेत हर दो एकड़पर ३ पशुओंसे अधिक का औसत पड़ता है। कहना न होगा कि वहां समुद्री घास और रासायनिक खादसे जमीनकी उर्वरता बढ़ायी जाती है।

अब हम पेरिस और उसके उपनगरोंके ३६ लाख निवासियोंके प्रश्नको फिर लेते हैं। हम जानते हैं कि पशुओंकी चराईके लिए ५० लाख एकड़के बदले अब १ लाख ९७ हजार एकड़ जमीनकी आवश्यकता रह गयी है। पर हमें सबसे छोटे अंकको ही न लेना चाहिए। साधारण श्रम-प्रधान खेतीमें जितनी जमीन चाहिए वही रकबा हम लेते हैं। कुछ सींगवाले पशुओंके स्थान-पर छोटे मवेशी आ जाएंगे और उनके लिए भी जमीनकी जरूरत होगी। इसलिए पशु पालनेके लिए ज्यादा-से-ज्यादा ३ लाख १५ हजार एकड़ जमीनकी जरूरत माननी चाहिए, या आप चाहें तो मनुष्यके लिए अन्नोत्पादनसे बची हुई १० लाख १३ हजार एकड़ जमीनमेंसे इसके लिए ४ लाख ९४ हजार एकड़ ले सकते हैं।

*एक टन लगभग २८ मनका होता है।

हिसाब लगानेमें हम उदारतासे काम लेते हैं। और मान लेते हैं कि इस भूमिको उत्पादक बनानेमें ५० लाख श्रम-दिवस लगेंगे। इसमें साल भरमें दो करोड़ दिनोंके श्रमसे, जिसमेंसे आधा तो जमीनके स्थायी सुधारमें लगेगा, हमारे अन्न और मांसकी पक्की व्यवस्था हो जायगी। इसमें वह अतिरिक्त मांस नहीं जोड़ा गया है जो शिकारकी चिड़ियों, मुर्गे-मुर्गियों, सुअरों, खरगोशों आदिसे मिलेगा। इसका भी विचार नहीं किया गया है कि जिस जनताको बढ़िया फल और तरकारियां मिलेंगी वह अंग्रेजोंसे कम ही मांस खायेगी। अंग्रेजोंको तो साग-सब्जी बहुत कम मिलती है, इसलिए वे मांस अधिक खाते हैं। तो ५-५ घंटेके २ करोड़ श्रम-दिनोंमेंसे प्रत्येक निवासीके हिस्से कितना समय पड़ेगा? वस्तुतः बहुत ही थोड़ा। ३५ लाखकी जन-संख्यामें कम-से-कम १२ लाख वयप्राप्त पुरुष और इतनी ही काम करने लायक स्त्रियां भी होंगी। अतः सारी जनताको अन्न और मांस मिलनेके लिए आदमी पीछे सालमें कुल १७ अर्ध-दिनोंके श्रमकी आवश्यकता होगी। दूधकी प्राप्तिके लिए ३० लाख, या चाहें तो ६० लाख, श्रम-दिवस और बढ़ा दीजिए। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रति व्यक्ति ५-५ घंटेके २५ श्रम-दिवस लगे। हमारे आहारकी तीन मुख्य वस्तुएं—रोटी, मांस और दूध—प्राप्त करनेके लिए इतना श्रम तो मैदानमें जाकर कबड्डी खेल लेने के जैसा सुखद कार्य होगा। मकानके सवालके बाद यही तीन चीजें हैं जिनकी चिंता नब्बे प्रतिशत लोगोंके सिरपर सदा सवार रहती है।

हम एक बार फिर कहे देते हैं कि यह बात कोई सुन्दर स्वप्न या मनोराज्य नहीं है। हमने वही बातें कही हैं जो बड़े पैमानेपर की गयी आजमाइशोंसे साबित हुई हैं और हो रही हैं। कृषि-कार्यकी यह नवव्यवस्था कल ही की जा सकती है, बशर्ते सम्पत्ति-संबंधी कानून और जनताका अज्ञान हमारा रास्ता न रोकें।

जिस दिन पेरिस यह समझ जायगा कि हम क्या खाते हैं और वह किस तरह पैदा किया जाता है इसे जान लेना लोकहितकी बात है, जिस दिन हर एक आदमी यह जान लेगा कि वर्तमान समयकी पार्ल-

मैंटकी सारी बहसोंसे भोजनका यह सवाल कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, उसी दिन क्रांति पक्की हो जायगी। पेरिस दोनों पड़ोसी जिलोंपर कब्जा कर लेगा और उनकी जमीनको जोत डालेगा। इसके बाद जिन श्रम-जीवियोंने अपना एक तिहाई जीवन सूखी रोटियां और वह भी अधपेट पानेके लिए मशक्कत करनेमें ही बिता दिया है वे अपने घरके पास, अपने ही किलेकी चहार-दीवारके भीतर (यदि किले उस समय भी रहे) कुछ घंटेके स्वास्थ्यकर और आकर्षक श्रमके द्वारा अपना आहार स्वयं उत्पन्न करने लगेंगे।

अब हम फलों और शाकोंके प्रश्नपर विचार करते हैं। आइए, पेरिस के बाहर, विज्ञानशालाओंसे कुछ ही मीलके फासलेपर चतुर बागवानोंने जो फल-फूलके बाग लगा रखे हैं और जो सचमुच करामात करते हैं उनमें से किसीकी सैर करें।

मान लीजिए हम मोशिये पोंसेके बागमें जाते हैं। उन्होंने बागबानी पर एक पुस्तक लिखी है। ये सज्जन भूमिसे जो कुछ उत्पन्न करते हैं उसे छिपाते नहीं, बराबर सब बातें प्रकाशित कर देते हैं।

मोशिये पोंसे, और खासकर उनके मजदूर बड़ी मेहनतसे काम करते हैं। ३ एकड़से भी कम (२·७ एकड़) जमीनपर खेती करनेमें ८ आदमी लगते हैं। वे दिनमें १२ और १५ घंटेतक, अर्थात् आवश्यकता से तिगुना काम करते हैं। २४ आदमी भी उनके लिए अधिक न होंगे। इसका कारण मोशिये पोंसे शायद यह बतायें कि उन्हें अपनी २·७ एकड़ जमीनका लगान १०० पौंड देना पड़ता है, और इतना ही खाद खरीदनेमें लग जाता है। इसलिए वे भी मजदूरोंसे अधिक काम लेनेको मजबूर हैं। निःसंदेह वे यह कहेंगे कि "जब दूसरे मुझे लूटते हैं तो मैं भी दूसरोंका शोषण करता हूं।" साज-सामानपर भी उनके १२०० पौंड खर्च हुये हैं, जिसमेंसे आधा, तो मशीनोंपर लग गया और कारखानेदारोंकी जेबमें गया। वस्तुतः उनका कारबार अधिक-से-अधिक ३,००० श्रम-दिवसोंका, बल्कि शायद इससे बहुत कम श्रमका कार्य है।

अब यह देखना चाहिए कि वे क्या-क्या पैदा करते हैं। उस जमीन

से वह लगभग १० टन गाजर, लगभग इतना ही प्याज, मूली और छोटे शाक, ५,००० टोकरी टमाटर, ५००० दर्जन अच्छे फल और १,५४,००० सलाद पैदा करते हैं। संक्षेपमें २·७ एकड़ या १२० × १०६ गज जमीन से वह १२३ टन शाक और फल उत्पन्न करते हैं, अर्थात् एकड़ पीछे ४४ टनसे कुछ अधिक।

पर साल भरमें एक आदमी ६६० पौंडसे अधिक शाक-फल नहीं खाता। २॥ एकड़का बाग ३५० बालिग स्त्री-पुरुषोंको सालभर फल और शाक अच्छी तरह दे सकेगा। अतः २४ आदमी २·७ एकड़ भूमिपर ५ घंटे रोज काम करके ही साल भरमें इतना शाक और फल उत्पन्न कर देंगे कि वह बड़ी उम्रके ३५० आदमियोंको, अर्थात् औरत-मर्द-बच्चे मिलाकर कमसे-कम ५०० व्यक्तियोंके लिए काफी होगा।

यह बात इस तरह भी कही जा सकती है कि श्री पोसेकी पद्धतिसे खेती करनेपर भी ३५० बालिग-स्त्री-पुरुष आदमी पीछे १०० घंटसे कुछ अधिक ( १०३ घंटे ) समय साल भरमें देकर ५०० आदमियोंके लिए यथेष्ट फल और शाक उत्पन्न कर सकते हैं।

हम यह बता देना चाहते हैं कि यह उत्पत्ति कोई असाधारण बात नहीं है। इतनी उपज तो पेरिसके डांडेपर ही २,२२० एकड़ भूमिपर ५,००० बागबानों द्वारा की जाती है। हां, यह बात जरूर है कि इन बागबानोंको ३२ पौंड फी एकड़का लगान चुकानेके लिए मशीनकी तरह पिसना पड़ता है।

पर इन तथ्योंसे, जिनकी तसदीक जो चाहे कर ले सकता है, क्या यह सिद्ध नहीं हो जाता कि पेरिसके दोनों जिलोंकी जो ५,१६,००० एकड़ भूमि बची है उसमेंसे १७,३०० एकड़ भूमि ही ३५ लाख जनताके लिए काफी शाक और फल दे सकती है।

अब देखना यह है कि इतना फल-शाक उपजानेके लिये कितनी मेहनत दरकार होगी। अगर हम पेरिसके फल-तरकारी उपजानेवालोंकी मेहनतके पैमानेसे हिसाब लगायें तब तो इस काममें ५-५ घंटेके ५ करोड़ श्रम-दिवस लगेंगे, जिसका औसत हर बालिग मर्दपर ५० दिन आता है। पर जिस

तरीकेसे जर्सी और गर्न्जी* खेती होती है उससे तो श्रम और भी कम लगेगा। याद रहे कि पेरिसके बागवाले प्रायः ऋतुसे कुछ पहले फल उत्पन्न करते हैं और इस कारण उन्हें अधिक श्रम करना पड़ता है। उन्हें जमीन का लगान अधिक देना पड़ता है और समयसे पहले उपजनेवाले फलोंके ऊंचे दाम मिलते हैं। यदि साधारण फल-तरकारियां पैदा की जायं तो श्रम कम लगेगा। इसके अतिरिक्त पेरिसके बागवालोंके पास अपने बागोंकी अधिक उन्नति करनेके साधन भी नहीं हैं और उन्हें कांच, लकड़ी, लोहे और कोयलेपर भी बहुत पैसा खर्च करना पड़ता है। वे खादसे नकली गरमी पहुँचाते हैं, हालांकि 'गरम घरों' ( Hot houses ) § के जरिये बहुत कम खर्चसे यह काम किया जा सकता है।

४

ऐसी आश्चर्यजनक फसलें पैदा करनेके लिए इन व्यवसायी बागवानों को मशीन बन जाना पड़ता है और जीवनके सब आनंदोंको त्याग देना पड़ता है। पर इन परिश्रमी जनोंने हमें यह बताकर मनुष्य-जातिकी बड़ी सेवा की है कि मिट्टी 'बनायी' जा सकती है। वे खादके खमीरसे गरम की हुई मिट्टीकी तह ( Hot beds ) से मिट्टीको बनाते हैं। छोटे-छोटे पौधों और मौसिमसे पहले पैदा किये जानेवाले फलोको गरमी पहुंचानेमें यह खाद पहलेसे इस्तेमाल हो चुकी होती है। यह बनावटी मिट्टी वे इतनी अधिक बनाते हैं कि उसका कुछ हिस्सा उन्हें हर साल बेंच देना पड़ता है, नहीं तो उनके बागकी सतह हर साल एक इंच ऊंची हो जाय। अपने 'कृषि-कोष' के बागवानोंसे संबंध रखनेवाले लेखमें श्रीयै रेलने इसक उपयोगिता बतायी है। वे बागवान इतनी अच्छी तरह यह मिट्टी बनाते हैं कि आजकल इकरारनामोंमें वे यह शर्त रखते हैं कि जब अपनी जमीन छोड़ेंगे तब अपनी मिट्टी उठाकर ले जायंगे। रिकार्डोने अपने विद्वत्तापूर्ण

* ब्रिटिश चैनलके दो बड़े टापू।

§ शीशेकी दीवारों और छतवाले मकान जो गरम रखे जाते हैं और बेमौसिमके या अधिक ठण्डे जलवायुमें पौधे उगानेके लिए काम में लाये जाते हैं।

ग्रन्थोंमें यह दिखाया है कि भूमिकर या लगान वह साधन है जो भूमिके प्राकृतिक लाभोंको सर्वत्र समान कर देता है, पर व्यावहारिक किसानकी ओरसे उसकी दलीलोंका जवाब है बागके फरनीचर और कांचके ढांचोंके साथ-साथ खाद-मिली मिट्टीको भी गाड़ियोंमें भरकर उठा ले जाना। बाग-वानका आदर्श वाक्य तो है—"जैसा किसान वैसी जमीन।"

मगर गर्न्जी या इंगलैंडके बागवान पेरिस और रोआंके बागवानोंकी अपेक्षा एक-तिहाई श्रमसे ही उतनी उपज कर लेते हैं। वहांके बागवान कृषिमें शिल्पकी सहायता लिया करते हैं। वे बनावटी मिट्टी तो बनाते ही हैं, 'हरे घर' ( Green house )* की सहायतासे बनावटी मौसिम भी पैदा कर लेते हैं।

पचास बरस पहले तो 'हरा घर' केवल अमीरोंके यहां होता था। वे अपने आनंदके लिए विदेशों और भिन्न-भिन्न जल-वायुके प्रदेशोंसे पौधे मंगाकर उसमें लगाते थे। पर आजकल तो हरे घरोंका उपयोग सभी करने लगे हैं। गुर्न्जी और जर्सीमें तो इसका बड़ा भारी उद्योग ही खड़ा हो गया है। वहां सैकड़ों एकड़ जमीनपर कांचकी छत बना दी गयी है। और हरे घरोंकी तो गिनती ही नहीं हो सकती। प्राय: प्रत्येक फार्मके बागमें छोटे-छोटे हरे घर हैं। वर्थिंग नगरमें भी इधर पचासों एकड़ जमीनपर हरे घर बन गये हैं ( १६१२ ई० में १०३ एकड़ हरे घर थे )। इंगलैंड तथा स्काटलैंडके दूसरे स्थानोंमें भी बहुतसे बन गये हैं।

हरे घर सब प्रकारके बनते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दीवारें सफेद ग्रेनाइट पत्थरकी हैं। पर कुछ तो केवल छप्परकी तरह तख्तों और कांचके फ्रेमोंसे ही बने होते हैं। पूंजीपति और बीचवालोंका मुनाफा चुकाकरके भी आज-कल एक वर्ग-गज कांचकी छतका खर्चा ३॥ शिलिंगसे कम ही पड़ता है। अधिकांश हरे घरोंमें सालमें तीन या चार महीनें गरमी पहुँचायी जाती है। पर जिनमें गरमी नहीं पहुँचायी जाती उनमें भी अच्छी उपज होती है। अंगूर और गरम देशोंकी चीजें तो

* नाजुक पौधोंके लिए बनाये गये शीशोंके घर या मंडप।

पैदा नहीं हो सकतीं, पर आलू, गाजर, मटर, टमाटर, आदि खूब होते हैं।

इस तरह मनुष्य ऋतुओंकी बाधासे भी बच जाता है और गरम जमीन बनानेके भारी झंझटसे भी। उसको खाद भी बहुत कम खरीदनी पड़ती है और मेहनत भी कम लगती है, जिससे काफी बचत हो जाती है। जितनी चीज पहले कई एकड़ जमीनमें पैदा हुआ करती थी उतनी अब छोटेसे रकबेमें ही हो जाती है; और एकड़ पीछे केवल तीन आदमी पड़ते हैं, जिनको हफ्तेमें ६० घंटेसे कम ही श्रम करना पड़ता है।

कृषि-विद्याकी इन हालकी विजयोंका फल यह हुआ है कि किसी शहरके आधे बालिग स्त्री-पुरुष भी बेमौसिम फलों और तरकारियोंकी प्राप्तिके लिए ५०-५० अर्धदिन दे दिया करें तो शहरके सब लोगोंको हर मौसिममें सब प्रकारकी फल-तरकारियां इफरातसे मिल सकती हैं।

पर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। आजकलके हरे घर साग-भाजीके कांचकी छतवाले बाग ही बनते जा रहे हैं। इस कामके लिए तख्तों और कांचकी बनी हुई छतें ही काफी होती हैं। उनमें गरमी पहुंचानेकी जरूरत नहीं होती। आज-कल ऐसी छतोंसे ही आश्चर्य-जनक उत्पत्ति हो रही है। उदाहरणार्थ पहली फसलमें, जो अप्रैलके अंततक तैयार हो जाती है, एक एकड़में ४०० मन आलू पैदा हो जाते हैं। इसके बाद गरमीकी ऋतुमें कांचकी छतके नीचे बहुत ज्यादा गरमी रहती है, और दूसरी और तीसरी फसल भी पैदा की जाती है।

मैंने अपनी पुस्तक "Fields, Factories and workshops" में इस विषयकी बहुतसी मार्केकी बातें दी हैं। यहां इतना ही कहना काफी है कि जर्सीमें एक शिक्षित बागवान और ३४ आदमी १३ एकड़ जमीनपर खेती करते हैं, और वह जमीन कांचकी छतसे ढकी होती है। उस जमीनमें वे १४३ टन फल और बेमौसिम तरकारियां पैदा कर लेते हैं, और इस असाधारण कृषिमें उनका १,००० टनसे भी कम कोयला खर्च होता है।

गर्न्जीमें तो यह खेती आजकल बहुत बड़े पैमानेपर की जाती है। बहुतसे जहाज तो इरे घरोंकी पैदावारको देसावर भेजनेके लिए ही गर्न्जी और लंदनके बीच चला करते हैं।

आज-कल यही ४०० मन आलू पैदा करनेके लिए हमें हरसाल ४ एकड़ जमीन जोतनी पड़ती है, आलू बोने-निराने आदिका श्रम करना पड़ता है। पर कांचकी छत बनानेमें शुरूमें प्रति वर्ग गज आधे दिनका श्रम लगाना पड़ जाय तो भी बादमें साधारण वार्षिक श्रमका आधा या शायद चौथाई लगाकर ही हम उतनी उपज कर सकते हैं।

ये पक्की बातें हैं—तथ्य हैं, और इन परिणामोंकी जांच हर आदमी खुद कर ले सकता है। ये तथ्य इस बातका संकेत हैं कि अगर आदमी भूमिका बुद्धिपूर्वक उपयोग करे तो वह उसे कितना दे सकती है।

## ५

ऊपर हमने केवल वही बातें कही हैं जो परीक्षाकी कसोटीपर कसी जा चुकी हैं। श्रमप्रधान विधिकी खेती, घासके मैदानोंकी सिंचाई, 'गरम घर' और कांचकी छतोंवाले फल-तरकारीके बाग—ये ऐसी बातें हैं जो आजकल भी हो रही हैं। इसके सिवा लोगोंकी प्रवृत्ति खेतीके इन तरीकोंको आम बना देनेकी ओर है, क्योंकि इनके जरिये कम मेहनतमें और अधिक भरोसेके साथ जमीनसे अधिक अन्न-फल-शाक उपजाये जा सकते हैं।

गर्न्जीके कांचके छाजनवाले मंडपोंको देख और समझ लेनेके बाद तो हम कह सकते हैं कि खुले मैदानमें चौगुनी जमीन जोतने, बोने, सींचने और निरानेकी बनिस्बत अप्रैलमें कांचके छप्परके नीचे आलू उपजाना कहीं अधिक आसान है। उसमें कुल मिलाकर बहुत कम मेहनत पड़ती है। इसी तरह बढ़िया ओजार या मशीन लेनेमें शुरूमें तो पैसा लगाना होता है, पर उनसे काम लेनेमें श्रममें बड़ी बचत होती है।

शीशेकी छतके नीचे साधारण शाक-तरकारीकी खेतीके पूरे अंक अभी नहीं मिले हैं। यह खेती हालमें ही शुरू हुई है और छोटे-छोटे रकबोंमें ही की जा रही है। पर पचास वर्षसे मौसिमसे पहले अंगूर पैदा करनेके जो प्रयोग हुए हैं उनके आंकड़े हमें प्राप्त हैं और वे उनकी सफलताके पक्के प्रमाण हैं।

इंगलैंड के उत्तरमें स्काटलैंडकी सरहदपर जहां कोयला निकाला जाता है, वह ३ शिलिंगमें ही एक टन मिल जाता है। इसलिए वहां बहुत पहले से लोग गरम घरोंमें अंगूर पैदा करने लग गये थे। ३० साल पहले जनवरीमें पकनेवाले अंगूरोंके बागका मालिक उन्हें २० शिलिंग फी पौंडके भावसे बेचता था, और फ्रांसके सम्राट तीसरे नेपोलियनके खानेके लिए वे फिर एक पौंडके लिए ४० शिलिंग देकर खरीदे जाते थे। आज वही बागवाला उन अंगूरोंको २॥ शिलिंग प्रति पौंडके भावसे बेचता है। कृषि-विषयके एक सामयिक पत्रमें उस बागवालेने स्वयं यह बात बतायी है। अंगूरका भाव इसलिए गिर गया है कि अब तो लंदन और पेरिसमें जनवरीमें ही बीसों टन अंगूर पहुंच जाते हैं।

आम तौरसे फल दक्षिण (यूरोप) से उत्तरको भेजे जाते थे, पर कोयले की सस्ती और अच्छे ढंगकी खेती होनेके कारण अब अंगूरोंका चालान उत्तरसे दक्खिनको होने लगा है। वे इतने सस्ते पड़ते हैं कि मईमें इंगलैंड और जर्सीके अंगूरोंको बागवाले १$\frac{3}{8}$ शिलिंग फी पौंडके भावसे बेचते हैं। फिर भी जिस तरह तीस बरस पहले ४० शिलिंगका भाव कम उपजके कारण रहता था वैसे ही आजकल भी १$\frac{3}{8}$ शिलिंगका भाव उसी कारण रहता है।

मार्चमें बेल्जियमके अंगूरोंका भाव ६ पेंससे लेकर ८ पेंस प्रति पौंड तक रहता है और अक्तूबरमें लंदनके अंगूर, जो कांचके नीचे कुछ गरमी पहुंचाकर पैदा किये जाते हैं, उससे बहुत सस्ते—स्विटजरलैंड और राइन प्रदेशके भावसे बिकते हैं। फिर भी यह मूल्य दो-तिहाई अधिक होता है, क्योंकि भूमिका लगान चुकाने, मशीनें लगवाने और गर्मी पहुंचानेके खर्चों के रूपमें बागवालेको कारखानेदार और बीचवालोंको भारी

रकम नजर कर देनी पड़ती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लंदन जैसे ठंढे प्रदेशमें भी, जहां सितंबर-अक्तूबरमें ही कुहरा पड़ने लगता है, स्वादिष्ट अंगूर हमें एक तरहसे 'मुफ्तके मोल' मिल सकते हैं। शहरके बाहर एक बस्ती में हम एक बंगलेमें रहते थे। वहां हमने एक टूटा-फूटा सा कांचका छप्पर ६ फुट १० इंच लंबा, ६॥ फुट चौड़ा लगा लिया था। नौ बरसतक उसमें हर अक्तूबरमें करीब ५० पौंड बढ़िया अंगूर फलते रहे। अंगूरकी बेल हैम्बर्गकी किस्मकी थी और वह भी छः साल की पुरानी। छप्परभी इतना खराब था कि बरसातका पानी उसमेंसे टपकता था। रातमें उसके अंदर उतनी ही ठंडक होती थी जितनी बाहर मैदानमें। उसमें नकली गरमी नहीं पहुंचायी जाती थी, क्योंकि उसे गरम करनेक कोशिश उतनी ही बेकार थी जितनी खुली सड़कको गरम करनेकी। सालमें एक बार वह बेल छांट दी जाती थी, जिसमें आधा घंटा लगत था, और छप्परसे बाहर लाल मिट्टीमें जहां उसका तना उगा हुआ थ थोड़ी खाद डाल दी जाती थी। बस यही सेवा उस द्राक्षा-लताकी की जाती थी।

पर राइन नदी या लेमन झील ( स्विटजरलैंड ) के किनारे अंगूर उपजानेमें जैसी मेहनत करनी पड़ती है, जिस तरह पहाड़ीकी ढालपर पत्थर-पर-पत्थर जमाकर चबूतरे बनाये जाते हैं और दो-दो सौ तीन-तीन सौ फुटकी ऊंचाईपर खाद और मिट्टी पहुचायी जाती है, उसको देखते हुए हम इस नतीजेपर पहुचते हैं कि स्विट्जरलैंडमें या राइनके किनारे अंगूर पैदा करनेमें लंदनके उपनगरोंमें कांचके घरोंमें उन्हें उपजानेकी बनिस्बत बहुत अधिक श्रम पड़ता है।

लोगोंको यह बात उलटी-सी मालूम होगी, क्योंकि आम खयाल है कि दक्षिण-यूरोपकी गरम आब-हवामें अंगूर अपने आप पैदा हो जाते हैं और उनकी खेतीमें वहां कुछ भी खर्च नहीं पड़ता। पर बागवान और बागवानी-कलाके विशेषज्ञ हमारी बातका खंडन करनेके बदले हमारे दावेका समर्थन ही करते हैं। एक 'अमली बागवान'ने, जो उद्यान-विद्याके एक पत्रके संपादक भी थे, 'नाइंटीन्थ सेंचुरी' पत्रिका में लिखा था कि

इंगलडकी सबसे अधिक लाभदायक खेती अंगूर की है। यह बात तो उसके भावसे ही प्रकट हो जाती है।

साम्यवादकी भाषामें इन तथ्योंको हम इस प्रकार कह सकते हैं कि कोई स्त्री या पुरुष अपने आरामके वक्तसे हर साल २० घंटे भी कांचके छप्परके नीचे लगाये गये अंगूरके दो या तीन पौधोंपर खर्च कर दे तो यूरोप भरमें कहीं भी इतने अंगूर उपज सकते हैं कि उसके कुटुंबी और मित्र खाकर अघा जायं। केवल अंगूर ही नहीं, सब प्रकारके फल इसी प्रकार थोड़े श्रमसे, जो बढ़िया मनोरंजन भी होगा, पैदा किये जा सकते हैं।

यदि साम्यवादी सरकार खेतीकी वैज्ञानिक विधिको बड़े पैमानेपर काममें लाये तो देशी और विदेशी सब प्रकारकी तरकारियां और फल हर आदमीकी सालमें केवल १० घंटेकी मेहनतसे ही पैदा कर लिये जायंगे।

हमारी इन बातोंकी जांच कर लेना बहुत आसान है। मान लीजिए, वर्थिंगकी जैसी १०० एकड़ जमीनपर फल-तरकारीके कुछ बाग लगाये गये और हर बागमें नाजुक पौधोंकी रक्षाके लिए काचके घर भी बना दिये गये। इनके अतिरिक्त और भी ५० एकड़ भूमिपर कांच-घर बना दिये गये। इस सारे रकबेका प्रबंध फ्रांसके व्यावहारिक अनुभव रखनेवाले बागवानों और गर्न्जी या वर्थिंगके 'हरे-घर' वालोंको सौंप दिया गया।

जर्सीके औसतसे, जहां कांचके छप्परवाली एक एकड़ जमीनपर ३ आदमी लगते हैं, यानी सालभरमें करीब ८,६०० घंटेकी मेहनत लगती है, इस १५० एकड़ जमीनके लिए लगभग १३ लाख घंटोंके श्रमकी आवश्यकता होगी। पचास कुशल बागवान इस काममें रोज पांच घंटे लगाते रहें, बाकी काम साधारण आदमी ही कर सकते हैं, जो पेशेवर बागवान न होते हुए भी थोड़े ही दिनोंमें फावड़ा चलाना और पौधोंको काटना-सींचना सीख जायंगे। इतने श्रमसे ही कम-से-कम ४० या ५० हजार आदमियोंके लिए जरूरत और शौकके सब तरहके फल और तरकारियां पैदा हो जायंगी। मान लीजिए, इस संख्यामें बड़ीउम्रके १३,५०० स्त्री-पुरुष हैं, जो साग-तरकारीके बागोंमें काम करनेको तैयार हैं, तो हर एकको

साल भरमें कुल मिलाकर १०० घंटे देने होंगे। और ये घंटे जो अपने मित्रों तथा बच्चोंके साथ सुंदर बगीचोंमें बीतेंगे अर्थतः मनबहलावमें खर्च होंगे। आजकल तो, जब गृहिणीको एक एक पैसेका खयाल रखना पड़ता है—जो अंतमें पूंजीपति और जमीनके मालिककी जेबमें ही जाता है—फल तो हमें मिल ह. नहीं पाते और शाक-भाजी भी नाप-तौलकर ही खर्च करनी पड़ती है। यह है उस श्रमका लेखा जो भरपेट फल खा और इफरात-से तरकारी पा सकनेके लिए हमें खर्च करना होगा।

काश मनुष्य-जातिको इसका पता होता कि वह क्या कर सकती है, और यह ज्ञान उसमें इच्छा करनेकी—संकल्पकी शक्ति जगा देता!

काश वह इस बातको जानती कि साहसकी कमी ही वह दलदल है जिसमें अबतककी सारी क्रांतियोंकी कब्र मिली है!

## ६

जिनके आखें हैं वे देख सकते हैं कि साम्यवादी क्रातिके लिए प्रतिदिन नयी-नयी दिशाएं खुलती जा रही हैं।

जब कभी हम क्रांतिका नाम लेते हैं, श्रमजीवीके चेहरेपर दुःखकी छाया आ जाती है, क्योंकि वह अपने बच्चोको रोटीके लिए बिलखते देख चुका है। वह पूछता है—"पर रोटीका क्या उपाय होगा? अगर हरएक भरपेट खायेगा तो क्या सबको पूरी रोटिया मिल सकेंगी? जैसे १७९३ में फ्रांसमे किसानोंने श्रमजीवियोंको भूखों मारा था उसी तरह अब भी प्रगति-विरोधियों-के जालमें फंसकर वे हमें भूखों मारें तो हम क्या करेंगे?"

किसान मजदूरोंको कितना ही धोखा दें, बड़े शहरोंके रहनेवाले उनकी सहायताके बिना भी काम चला लेंगे।

तब फिर जो लाखों मजदूर आज छोटे-छोटे कारखानोंकी दम घोंटने-वाली हवामें काम कर रहे हैं, स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनेपर वे किस काममें लगेंगे? क्या क्रांतिके बाद भी वे कारखानोंमें ही बंद रहेंगे? जब अनाज और तरकारियां खत्म होने लगेंगी क्या तब भी वे देसावर भेजनेके लिए फर्सी खिलौने ही बनाते रहेंगे?

हर्गिज़ नहीं ! वे शहरसे निकलकर खेतोंमें पहुंच जायंगे। मशीनोंकी मददसे, जिसके सहारे कमजोर-से-कमजोर आदमी भी काममें हाथ बटा सकेगा, वे कृषिमें भी उसी प्रकार क्रांति कर डालेंगे जिस प्रकार प्रचलित संस्थाओं और विचारोंमें करेंगे।

उस समय सैकड़ों एकड़ भूमिपर शीशेके छप्पर लग जायंगे और स्त्रियां और पुरुष छोटे-छोटे पौधोंका इस तरह लालन-पालन करेंगे मानो वे सुकुमार शिशु हों। सैकड़ों एकड़ जमीन भापसे चलनेवाली कलोंसे जोती जायगी और खाद तथा चट्टानोंको पीसकर बनायी गयी नकली मिट्टीसे खेतोंकी उर्वरता बढ़ायी जायगी। खेतीके काम और प्रयोगोंमें अंशतः उसका पथ-प्रदर्शन वे लोग करेंगे जो इस कलाके जानकार होंगे। पर चिर-सुषुप्तिसे जागे हुए लोगोंका महान और व्यावहारिक उत्साह ही, जो सबके सुखकी भावनाके उज्जवल प्रकाशसे प्रदीप्त होगा, मुख्यतः उनका पथ-प्रदर्शन करेगा। हजारों मजदूर, जिन्हें समय-समयपर खेतोंपर जाकर काम करना होगा, हंसते-खेलते इस लंबे-चौड़े रकबेको लहलहाती फसलोंकी चादर उढ़ा देंगे।

दो-तीन महीनेमें ही, समयसे कुछ पहले, नयी फसल तैयार हो जायगी, जिससे लोगोंकी प्रधान आवश्यकताओंकी पूर्ति और उनके भोजनका प्रबंध हो जायगा जो शताब्दियोंतक आशा लगाए रहनेके बाद अंतमें भर-पेट और यथा-रुचि भोजन पा सकेंगे।

जनताकी बुद्धि ही क्रांति करती और अपनी आवश्यकताको समझती है। वह इस बीच खेतीकी नयी-नयी विधियोंके प्रयोग करेगी। वे विधियां बीज-रूपमें आज भी विद्यमान हैं और अनुभवका बल मिलते ही सर्वत्र फैल जायंगी। आजकल प्रकाशकी गरमीसे याकुटस्क जैसे ठंडे प्रदेशमें भी ४५ दिनमें जौ पक जाते हैं। पर क्रांतियुगमें तो प्रकाशकी शक्तिके और भी प्रयोग होंगे। पौधोंको जल्दी बढ़ानेमें कैंद्रिन या कृत्रिम प्रकाशसे गरमीका काम लिया जायगा। भविष्यमें कोई आविष्कार ऐसा यंत्र बना देगा जिससे सूर्यकी किरणोंको हम चाहे जहां एकत्र कर सकें और उनसे काम ले सकें। तब कोयलेके रूपमें जमीनके अंदर

इकट्ठी होनेवाली सूर्यकी गरमीकी भी हमें आवश्यकता न रहेगी। पौधोंको खूराक मिलने और मिट्टीके तत्त्वोंको अलग-अलग करने और हजम करनेके लिये जिन जीवाणुओंकी आवश्यकता हुआ करती है उनको पानीके साथ जमीनमें पहुंचानेकी बात हालमें ही सोची गयी है। उस समय इसके भी प्रयोग होंगे।

कितने ही नये-नये प्रयोग किये जांयगे। पर हम कल्पनामें प्रवेश नहीं करना चाहते, अनुभव-सिद्ध बातोंतक ही रहना चाहते हैं। खेतीके जो तरीके आजकल काममें आ रहे हैं और जो उद्योग-धंधोंसे मुकाबला करनेमें विजयी हुए हैं उन्हें बड़े पैमानेपर काममें लाकर हम रुचिकर श्रमके द्वारा अपने आराम और शौककी सारी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। विज्ञानकी नयी-नयी खोजोंसे जिन नये तरीकोंकी झलक हमें मिली है उनकी व्यावहारिकता जल्दी ही सिद्ध हो जायगी। हमारे लिए तो मनुष्यकी आवश्यकताओं और उनकी पूर्तिके साधनोंके अध्ययनका नया रास्ता खोल देनाभर काफी होगा।

क्रांतिमें एक ही बातकी कमी रह सकती है, और वह है क्रांति करनेवालोंमें नये रास्तेपर पहला कदम उठानेके साहसकी कमी।

जवानीकी उम्रमें ही हमारे विचार संकुचित हो जाते हैं और प्रौढ़ अवस्थामें पहुंचनेपर मन पिछले अभ्यासों-संस्कारोंका गुलाम हो जाता है, इस कारण हममें स्वतंत्र विचारका साहस नहीं रह जाता। जब कोई नया विचार हमारे सामने आता है तो उसपर अपनी राय देनेका साहस करनेके पहले हम सौ साल पहलेकी धूल चढ़ी हुई किताबोंके पन्ने उलटकर यह देख लेना जरूरी समझते हैं कि पुराने विद्वानोंका इस विषयमें क्या मत था।

क्रांतिमें यदि सोचने और नये रास्तेपर पहला कदम उठानेके साहसकी कमी न होगी तो भोजनकी कमी तो उसे नहीं पड़ सकती।

फ्रांसकी क्रांतिके गौरवमय दिनोंमें सबसे सुंदर और सबसे महान दिन वही था जिस दिन पेरिसमें आये हुए सारे फ्रांसके प्रतिनिधि 'शां दे मार्स'की भूमिपर फावड़ा लेकर जुट गये थे और संघोत्सवके लिए उसे हमवार करने लगे थे।

उस दिन फ्रांसमें एकता थी, उसमें नया उत्साह भर रहा था और लोगों को उस भविष्यकी झलक मिल रही थी जब सब मिलकर खेतपर काम करेंगे।

और मिलकर जमीनपर काम करनेसे ही स्वतंत्रता-प्राप्त समाज अपनी एकताको पा सकेंगे और उस घृणा तथा अत्याचारकी चिता जला सकेंगे जिसने अबतक उन्हें अनेक वर्गों-समुदायोंमें बांट रखा था।

यह एकताकी भावना महान शक्ति है जो मनुष्यकी कार्यशक्ति और उत्पादन-शक्तिको सौगुनी कर देती है। और इस भावनासे भरकर ही नया समाज जवानीके जोशके साथ भविष्यपर विजय-प्राप्तिके लिए प्रयाण करेगा।

उस समय अज्ञात खरीदारोंके लिए माल बनाना बंद हो जायगा और समाज अपनी ही आवश्यकताओं तथा इच्छाओंकी पूर्तिकी ओर ध्यान देगा। वह प्रत्येक व्यक्तिके जीवित और सुखसे रहनेके लिए आवश्यक सामग्री मिलनेकी पक्की व्यवस्था करेगा, साथ ही उस नैतिक संतोष और जीवनके उस आनंदकी प्राप्तिकी भी जो स्वतंत्रतापूर्वक चुने हुए कामको स्वतंत्रताके साथ कर सकने और दूसरोंको हानि या कष्ट पहुंचाये बिना जीवन-यापन करनेसे मिला करता है।

उस समय एकताके अनुभवसे उत्पन्न नये साहससे प्रेरित हो सब मिलकर ज्ञान और कला-सृष्टिके उच्च आनंदकी प्राप्तिके लिए आगे बढ़ेंगे।

जिस समाजमें यह भावना, यह जोश होगा वह न भीतरी मत-भेदोंसे डरेगा न बाहिरी शत्रुओंसे।

भूतकालकी कृत्रिम एकताओंके मुकाबिलेमें यह समाज एक नयी मैत्री प्रस्तुत करेगा। इसके हर आदमीमें नयी बात करनेकी सूझ और हौसला होगा, हर आदमीमें वह साहस होगा जो जनताकी भावनाके जाग्रत होनेसे ही उत्पन्न हुआ करता है।

इस अदम्य शक्तिके सामने "षड्यंत्रकारी बादशाहों"की शक्ति पंगु हो जायगी। उनके लिए इसके सिवा और कोई रास्ता न रहेगा कि उस शक्तिके सामने माथा झुकायें और खुद भी मानव समाजके उस रथमें जुत जांय जो साम्यवादी क्रांतिके द्वारा उन्मुक्त दिशाओंकी ओर तेजी से बढ़ रहा होगा।

# प्रिंस क्रोपाटकिन : चरित्र-चित्रण*

[ ए० जी० गार्डनर ]

"ओह ! उन दिनों कैसे-कैसे असाधारण-शक्ति-संपन्न प्रतिभाशाली महापुरुष होते थे और अब उन दिग्गजोंके मुकाबिले···" मेरे मित्रने यह अधूरा वाक्य कहते हुए अपने हाथको इस तरह उपेक्षासूचक ढंगसे घुमाया जिसका अभिप्राय यह था कि वर्तमान कालमें महापुरुषोंका अभाव ही है, और उस अभावको प्रकट करनेके लिए उनके पास शब्द भी नहीं। अपने मित्र के वाक्यको पूरा करते हुए मैंने कहा—"जनाब, उन दिग्गजोंके मुकाबिलेके दिग्गज आज भी पाये जाते हैं।" मेरे मित्रने मानो दृढ़तापूर्वक चुनौती देते हुए मुझसे पूछा—"मिसालके लिए ?" मैंने निवेदन किया—"जरा दबी जबानसे बोलिए, क्योंकि मेरी मिसाल आपके नजदीक ही है।" मित्रने उस ओर देखा जिधर मैंने इशारा किया था कि उनकी निगाह एक प्रौढ़ पुरुषपर पड़ी जो उस वाचनालयमें बात-चीत करनेवाले समूहके बीचमें विद्यमान था। ठीक फौजी ढंगपर कंधोंको फैलाये हुए वह नरपुंगव एक सिपाहीकी भांति चुस्त खड़ा था; पर उसके प्रशस्त ललाट, भरी हुई भौंहें, फैली हुई दाढ़ी तथा विशाल नेत्र यह बता रहे थे कि वह कोई दार्शनिक है। उसकी आंखोंसे बुद्धिमत्ता तथा परोपकारिता टपक रही थी और वह बड़ी तेजीके साथ बातचीत कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि जितनी शीघ्रताके साथ विचार उसके दिमागमें आ रहे हैं उसका मुकाबिला भाषाके मंद चालसे चलनेवाले शब्द नहीं कर सकते। बातचीत करते हुए वह बराबर अपनी चायके प्यालेमें चम्मच चला रहा था, पर प्याला अभी मुंहतक पहुंच नहीं पाया था। मेरे मित्रने पूछा—"आपका

*यह चरित्र-चित्रण सन् १९१३ में लिखा गया था, जब प्रिंस क्रोपाटकिन जीवित थे।

मतलब प्रिंस क्रोपाटकिनसे है?" मैंने कहा—"जी हां।" उन्होंने फिर पूछा—"क्या सचमुच आप ऐसा समझते हैं?"

हां, सचमुच प्रिंस क्रोपाटकिन एक असाधारण प्रतिभाशाली दिग्गज महापुरुष हैं। यदि जीवन तथा व्यक्तित्वके तमाम विभिन्न पहलुओंपर विचार किया जाय तो निस्संदेह प्रिंस क्रोपाटकिन पुराने जमानेकी वीरता-पूर्ण किस्से-कहानियोंके नायक ही प्रतीत होंगे। यदि वह इतिहासके प्रारंभिक कालमें उत्पन्न हुए होते तो उनकी कीर्ति एलेक्सकी तरह, जिसने अन्यायका जबरदस्त विरोध किया था, गाथाओंमें गायी जाती; अथवा वे प्रोमेथियसके समान होते जो धरतीपर स्वतंत्रताकी अग्नि लानेके अपराध में काकेशस पर्वतसे जंजीरों द्वारा बांध दिया गया था। कवि लोग उनके वीर-कार्योंसे काव्योंकी रचना करते और उनके संकट-भरे जीवन तथा उनके भाग निकलनेकी कथाएं बालक-बालिकाओंको प्रोत्साहन देने और उनकी कल्पना-शक्तिको जाग्रत करनेके काममें आतीं। दरअसल इस जवांमर्दकी जिंदगीके नाटकमें इतना विस्तार और इतनी सादगी है कि उसकी मिसाल आजके जमानेमें मिल नहीं सकती। आज इस समय, जब वह महापुरुष अपनी चायको चलाता और कुछ विश्राम लेता हुआ-सा हमारे सामने एक प्रोफेसरके रूपमें विद्यमान है, हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो हम रूस देशके महान विस्तार और उसकी दर्द-भरी कहानीको साक्षात् देख रहे हों, अथवा मनुष्यकी आत्मा उठकर कितनी ऊंचाईतक पहुँच सकती है इसका दृष्टांत हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ता हो।

प्रिंस क्रोपाटकिनको हम बचपनमें एक अति प्राचीन तथा उच्च राजवंशमें उत्पन्न अपने पिताके साथ देखते हैं। यह समय है अत्याचार-रूपी घनघोर अंधकारका। रात अंधेरी है—अन्याय, अंधकारका साम्राज्य है—और रूसी जाग्रतिके सूर्यके निकलनेमें अभी बहुत देर है—ज़ार निकोलस प्रथमका भयंकर पंजा जनताके सिरपर है। गुलामीकी प्रथा का दौर-दौरा है और गरीब जनता उसके जुएके नीचे कराह रही है। बालक क्रोपाटकिनको जीवनके दो भिन्न-भिन्न प्रकारके—परस्पर-विरोधी—अनुभव होते हैं।

जब क्रोपाटकिन आठ वर्षके ही थे, वह सम्राट ज़ारके पार्षद बालक बना दिये गये। उस समय वह महाशक्तिशाली ज़ारके पीछे-पीछे चलते थे, और एक बार तो भावी सम्राज्ञीकी गोदमें सो गये थे। जहां एक ओर उन्हें यह अनुभव हुआ वहां दूसरी ओर उनकी कोमल आत्मा दासत्व-प्रथाके भयंकर अत्याचारोंको अपनी आखों देखकर झुलस गयी। एक दिन प्रिंस क्रोपाटकिनके पिता घरके दास-दासियों पर खफा हो गये, और उनका गुस्सा उतरा मकार नामके नौकरपर जो रसोइयेका सहायक था। उन्होंने मेजपर बैठकर एक हुक्मनामा लिखा—"मकार थानेपर ले जाया जाय और उसे एकसौ कोडे लगवाये जायं।" यह सुनकर बालक क्रोपाटकिन एकदम सहम गये और उनकी आंखोंमें आंसू आ गये, गला भर आया। वह मकारका इंतजार करते रहे। जब दिन चढ़नेपर उन्होंने मकारको, जिसका चेहरा कोडे खानेके बाद पीला पड़ गया था और बिलकुल उतर रहा था, घरकी एक अंधकार-भरी गलोमें पड़ा देखा तो उन्होंने उसका हाथ पकड़कर चूमना चाहा। मकारने हाथ छुड़ाते हुए कहा—"रहने भी दो। मुझे छोड़ दो, तुम भी बड़े होनेपर क्या बिलकुल अपने पिताके ही जैसे न बनोगे?" बालक क्रोपाटकिनने भरे गलेसे जवाब दिया—"नहीं, नहीं; हर्गिज़ नहीं!"

नाटकका पर्दा बदलता है। जार निकोलसकी अंधेरी रात बीत गयी है। लेकिन उसके बाद दास-प्रथा बंद होनेके कारण थोडी देरके लिए जो उषःकाल आया था उसे प्रतिक्रियाके अंधकारने ढक लिया और रूस फिर पुलिसके अत्याचारोंसे कुचला जाने लगा। सैकडो निरपराध आदमी फांसीपर लटका दिये गये और हजारों जेलमें ठेल दिये गये। सारे रूस पर भय और आतंकका साम्राज्य था। लेकिन भीतर-ही-भीतर रूस जाग्रत हो रहा था। ज़ार एलेकज़ेंडर द्वितीयने अपने शासन-सूत्र पुलिस के दो जालिम अफसरों—ट्रेपोफ और शुवालोफ—को सौंप दिये थे। वे चाहे जिसे फांसीपर लटका देते थे, चाहे जिसे निर्वासित कर देते थे; फिर भी वे क्रांतिकारी गुप्त समितियोंकी कार्रवाइयोंको रोकनेमें सफल नहीं हुए। ये समितियां जनसाधारणमें दनादन स्वाधीनता तथा क्रांति

का साहित्य बांट रही थीं। इस घोर अशांतिमय वायुमंडलमें भेड़की खाल ओढ़े एक अद्भुत किसान अदृश्य भूतकी तरह, इधरसे-उधर घूम रहा है। उसका नाम बोरोडिन है। पुलिसके अफसर हाथ मल-मल कर कहते हैं—"बस अगर हम किसी तरह बोरोडिनको पकड़ पायें तो क्रांतिकी इस सर्पिणीका सिर ही कुचल दिया जाय; हां बोरोडिनको और उसके साथी-संगियोंको।" लेकिन बोरोडिनको पकड़ना आसान बात नहीं। जिन जुलाहों और मजदूरोंके बीच वह काम करता है वे उसके साथ विश्वासघात करनेको तैयार नहीं। सैकड़ों पकड़े जाते हैं; कुछको जेलकी सजा मिलती है, कुछको फांसीकी! पर वे बोरोडिनका असली नाम और पता बतलानेके लिए तैयार नहीं।

सन् १८७४ ई० की बसंतऋतु—संध्याका समय है। सेंट-पीटर्सबर्गके सभी वैज्ञानिक और विज्ञान-प्रेमी जियाग्रफिकल सोसाइटीके भवनमें महान वैज्ञानिक प्रिंस क्रोपाटकिनका व्याख्यान सुननेके लिए एकत्र हुए हैं। उसका विषय है फिनलैंडकी यात्राके फल। रूसके जल-प्रलय (Diluge) कालके विषयमें वैज्ञानिकोंने जो सिद्धांत अबतक स्थिर कर रखे थे वे सब एकके बाद दूसरे खंडित होते जाते हैं और अकाट्य तर्कोंके आधारपर एक नवीन सिद्धांतकी स्थापना होती है। सारे वैज्ञानिक जगतमें क्रोपाटकिनकी धाक जम जाती है। इस महापुरुषके मस्तिष्कके विस्तारके विषयमें क्या कहा जाय। उसका शासन भिन्न-भिन्न ज्ञानों तथा विज्ञानोंके समूचे साम्राज्यपर है। वह महान गणितज्ञ है और भूगर्भ-विद्याका विशेषज्ञ; वह कलाकार है और ग्रंथकार (बीस वर्षकी उम्रमें उसने उपन्यास लिखे थे); वह संगीतज्ञ है और दार्शनिक। बीस भाषाओंका वह ज्ञाता है, और सात भाषाओंमें आसानीके साथ बात-चीत कर सकता है। तीस वर्षकी उम्रमें प्रिंस क्रोपाटकिनकी गणना रूसके चोटीके विद्वानों—उस महान देशके कीर्ति-स्तम्भों—में होने लगती है। क्रोपाटकिनको लड़कपनमें फौजी काम सीखना पड़ा था, और पांच बरस बाद जब उनके सामने स्थानके चुनावका सवाल आया तो उन्होंने साइबेरियाको चुना। वहां सुधारकी जो योजना उन्होंने पेश की और

आमूरकी यात्रा करके एशियाके भूगोलकी भद्दी भूलोंका जिस तरह संशोधन किया उससे उनकी कीर्ति पहलेसे ही फैल चुकी थी। पर आज तो भौगोलिक जगतमें विजयका सेहरा उन्हींके सिरपर बांध दिया गया। वह जियाग्रफिकल सोसाइटीके प्राकृतिक भूगोल विभागके सभापति मनोनीत किये गये। भाषणके बाद ज्योंही गाड़ीमें बैठकर वह बाहर निकले त्योंही एक दूसरी गाड़ी उनके पाससे गुजरी। एक जुलाहेने उस गाड़ीमेंसे उझककर कहा—"मिस्टर बोरोडिन सलाम!" दोनों गाड़ियां रोक दी गयीं। जुलाहेके पीछेसे खुफिया पुलिसका एक आदमी उस गाड़ीमेंसे कूद पड़ा और बोला—"मिस्टर बोरोडिन उर्फ प्रिंस क्रोपाटकिन, मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूं!" उस जासूसके इशारेपर पुलिसके आदमी कूद पडे। उनका विरोध करना व्यर्थ होता; क्रोपाटकिन पकड़ लिये गये। विश्वासघातक जुलाहा दूसरी गाड़ीमें उनके पीछे-पीछे चला।

## दो वर्ष बाद

क्रोपाटकिनको पीटर और पालके किलेमें अकेली कोठरीमें रहते हुए दो साल बीत चुके हैं—उस किलेमें जिसका इतिहास रूसके महान-से-महान और उच्च-से-उच्च देशभक्तों तथा कवियोंकी शहादतका इतिहास है, जहां वे अंधेरी कोठरियोंमें पागलपनकी ओर अग्रसर हो रहे थे, जहां वे घुल-घुलकर मर रहे थे और जहां वे जिंदा ही कब्रमें गाड़ दिये गये थे। दो वर्ष बीत गये और क्रोपाटकिनका मुकदमा अब भी पेश न हुआ। बाहरी दुनियासे उनका संबंध बिलकुल नहीं था। मौत-जैसा सन्नाटा था। आखिर तंग आकर कई महीने बाद उन्होंने आस-पासकी कोठरियोंमें रहनेवाले कैदियोंसे विचार-परिवर्तनका एक उपाय निकाला। दीवारपर खट-खटकी आवाजकी वर्णमाला बनायी और इस प्रकार संकेतों द्वारा उनसे बात-चीत होने लगी। जेलमें उन्होंने अपनी तन्दुरुस्ती कायम रखनेके लिए कोई-न-कोई व्यायाम करना जरूरी समझा। पर वहां व्यायाम के लिए जगह कहां थी? इसलिए उन्होंने अपनी कोठरीके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक कई हजार चक्कर लगाकर २ मील टहलना शुरू किया और

स्कूलकी मददसे जिमनास्टिक करते रहे। उनके भाई अलेकजेंडरने बहुत कुछ आंदोलन करके उन्हें लिखनेका सामान दिलवा दिया था, जिससे वह हिम-युगके विषयमें अपना महान ग्रंथ लिख सके। इसी ग्रंथकी बदौलत वह अपना दिमाग ठिकाने रख सके, नहीं तो कभीके पागल हो गये होते। लेकिन क्रोपाटकिन अपने स्वरकी ध्वनिका अंदाज ही भूल गये, क्योंकि जेलकी कोठरियोंमें उन्हें गानेकी मनाही कर दी गयी थी। दो बरस बाद वह बीमार पड़ गये और इलाजके लिए फौजी जेलखानेके अस्पतालमें भेज दिए गए। यहां उन्हें तीसरे पहर अस्पतालके सहनमें टहलने का इजाजत मिल गयी, यद्यपि हथियारबंद सिपाही बराबर उनके साथ रहते थे; और यहींसे वह भाग निकले। उनका यह भागना अत्यन्त आश्चर्यजनक था। ड्यूमाके उपन्यासोंको छोड़कर ऐसा सनसनीखेज किस्सा शायद ही कहीं पढ़नेको मिले। उनके जीवन-चरित्रका वह अध्याय जिसमे इस पलायनका वृत्तांत है हृदयको स्पंदित करनेवाली एक खास चीज है।

क्रोपाटकिनने अपने बाहरके दोस्तोंसे पत्र-व्यवहार करके भागनेकी सारी तरकीब तै कर ली थी। जब लकड़ी लानेवालोंके लिए फाटक खुला उस समय क्रोपाटकिन टोप हाथमें लिए टहल रहे थे। कोई अजनबी आदमी फाटकके सिपाहीको बातोंमें उलझाये हुए था। पड़ोसके घरमें बेला बज रहा था। भागनेकी घड़ी ज्यों-ज्यों नजदीक आती जाती थी त्यों-त्यों बेलाकी ध्वनि भी तेज होती जा रही थी। क्रोपाटकिन भागे, फाटक पार किया, झटसे गाड़ीमें सवार हुए, घोड़े सरपट दौड़े, सेंट-पीटर्सबर्गके सबसे शानदार होटलमें खाना खाया (जब पुलिस उस महानगरीके छिपनेके हरएक स्थानका कोना-कोना ढूंढ़ रही थी), किसीका पासपोर्ट लिया, फिनलैंड होकर स्वीडनको यात्रा की, और वहां यूनियन जैक (ब्रिटिश झण्डा उड़ानेवाले जहाजपर सवार हो इंगलैंड जा पहुँचे। उनके जीवनकी यह घटना किसी उपन्याससे बढ़कर मनोरंजक है। प्रिंस क्रोपाटकिनका आत्म-चरित्र हमारे युगका सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरित है।

इस महापुरुषका जीवन दो प्रबल भावनाओंसे प्रभावित रहा है।

एक भावना तो है दिमागी दुनियामें विजय प्राप्त करना और दूसरी मानव समाजकी स्वाधीनताके लिए उद्योग। अंततोगत्वा इन दोनों भावनाओंका स्रोत एक ही है, यानी मानव-समाजसे प्रेम; और इस प्रेमके कारण ही क्रोपाटकिनके व्यक्तित्वमें वैसा ही आकर्षक माधुर्य है जैसा सर्दीसे ठिठुरनेवाले आदमीके लिए सूर्यकी किरणोंमें। क्रोपाटकिनके इस हृदयग्राही गुणको देखकर विलियम मारिसकी याद आ जाती है, क्योंकि उनका स्वभाव भी वैसा ही प्रेमपूर्ण और सहृदयतायुक्त था, और वह साम्यवादीकी अपेक्षा अराजकवादी अधिक थे। मैंने इन दो बातोंका उल्लेख इसलिए किया है कि इन दोनोंका संबंध है। साम्यवादी मनुष्यको केवल भावनामें ही देखता है और समाजको कानून द्वारा संचालित एक संस्था-मात्र मानता है। साम्यवादीकी इस चिंता-धाराका नतीजा यह होता है कि मनुष्य तथा समाज उसके मस्तिष्कतक ही पहुँच पाते हैं, उसकी मनुष्यताको स्पर्श नहीं कर पाते; पर अराजकवादी, जिसे हद दर्जेका व्यक्ति-वादी कहना चाहिए, मनुष्यको साक्षात और साकार रूपमें देखता है और इस कारण उसके प्रति उसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है, क्योंकि वह मनुष्य को देख सकता है, उसकी बात सुन सकता है और उसे छू सकता है। हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि अराजकवादी तो व्यक्तिके सुख तथा हित-साधनोंके लिए चिंतित है और साम्यवादीको एक शासन-प्रणालीकी फिक्र होती है।

क्रोपाटकिनके राजनैतिक सिद्धांतोंका स्रोत है उनकी वैज्ञानिक तथा प्रेमपूर्ण विचार-धारामें। उन्होने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ Mutual Aid* (पारस्परिक सहयोग) में डार्विनके जीवन-संग्राम-संबंधी उस सिद्धांत का खंडन किया है जिसमें प्रकृतिको खूंख्वार साबित किया गया है, और जिसमें यह बात सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है कि प्रत्येक प्रकारका विकास जीवन-संग्रामका परिणाम है, एक प्राणीके दूसरेसे प्रतिद्वंद्विता करने का नतीजा है, और "प्रत्येकके लिए संपूर्ण समूहसे युद्ध करना अनिवार्य

*इस पुस्तकका अनुवाद 'संघर्ष या सहयोग' नामसे 'मण्डल'से प्रकाशित हुआ है।

है।" इस सिद्धांतके मुकाबलेमें क्रोपाटकिनने अपना यह सिद्धांत उपस्थित किया है कि विकास पारस्परिक सहायता, सहयोग और सम्मिलित सामाजिक उद्योगका परिणाम है। क्रोपाटकिन लिखते हैं—"जीवोंमें सबसे अधिक समर्थ वही होते हैं जिनमें सहयोगकी प्रवृत्ति सबसे अधिक पायी जाती है, और इस प्रकार सहयोग-प्रवृत्ति विकासका मुख्य कारण है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूपसे वह उस जीव-श्रेणीके हितकी साधक है, क्योंकि वह उसकी शक्तिके क्षयको रोकती है, और अप्रत्यक्ष रूपसे वह उसकी बुद्धिकी वृद्धिके लिए सुविधा उत्पन्न करती है।"

इस सामाजिक भावनासे, जो सब चीजोंको विकसित करती हैं, क्रोपाटकिनने अपना व्यक्तिगत स्वाधीनताका सिद्धांत निकाला है। उनका कहना है कि व्यक्तिगत स्वाधीनताके अबाध प्रयोगसे संपूर्ण मानव-समूह की सेवाका भाव उत्पन्न होता है। उनके शब्द सुन लीजिए—

"अपने दुःखको प्रकट करनेके लिए जितने आसुओंकी हमें जरूरत है उनसे कहीं अधिक आंसू हमारे पास हैं, और जितना अधिक आनंद न्यायपूर्वक हम अपने जीवनके कारण मना सकते है उससे कहीं अधिक आनंद मनानेकी शक्ति हममें विद्यमान है। एकाकी आदमी क्यों दुःखित और अशांत रहता है? उसके दुःख तथा अशांतिका कारण यही है कि वह दूसरोंको अपने विचारों और भावनाओंमें शामिल नहीं कर सकता। जब हमें कोई बड़ी भारी खुशी होती है उस समय हम दूसरोंको यह जतला देना चाहते हैं कि हमारा भी अस्तित्व है, हम अनुभव करते हैं, प्रेम करते हैं।"'उल्लासमय जीवन ही विकासकी ओर दौड़ता है।"'यदि किसीमें काम करनेकी शक्ति है तो काम करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। 'नैतिक कर्त्तव्य' या धर्मको यदि उसके तमाम रहस्यवादी झाड़-झंखाड़से अलग कर दिया जाय तो वह इस सूत्रमें आ जाता है—The condition of the maintenance of life is its expansion"—'अर्थात् जीवनका विस्तार जीवनको कायम रखनेकी अनिवार्य शर्त है।' क्या कोई पौधा अपनेको फूलनेसे रोक सकता है? कभी-कभी किसी पौधेके फूलनेका अर्थ होता है उसकी मृत्यु; पर कोई मुजायका नहीं,

उसका जीवन-रस तो ऊपरकी ओर चढ़ता है। यही हालत उस मनुष्यकी होती है जो ओज तथा शक्तिसे परिपूर्ण होता है। वह अपने जीवनका विस्तार करता है। वह बिना हिसाब-किताबके दान करता है, क्योंकि बिना दानके उसका जीते रहना संभव नहीं। यदि इस दान-कार्यमें उसे अपना जीवन भी देना पड़े—जैसे कि फूलके खिलनेसे उसका अंत हो जाता है—तो भी कोई चिंता नहीं, क्योंकि जीवन-रस तो—यदि वह जीवन-रस है—ऊपरको चढ़ेगा ही।"

इस तर्कके द्वारा प्रिंस क्रोपाटकिन अपने नीतिशास्त्रपर पहुंचते हैं—उस नीतिशास्त्रपर जो किसीपर शासन नहीं चलाता, जो व्यक्तियोंका निर्माण किसी खास 'मॉडल' ( ढांचे ) पर करनेमें विश्वास नहीं रखता, और जो धर्म, कानून या सरकारके नामपर व्यक्तियोंका अंग-भंग नहीं करना चाहता। क्रोपाटकिनका नीति-शास्त्र व्यक्तिको पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करता है। इसी नैतिकताके आधारपर उन्होंने ऐसे समाजकी कल्पना की है जिसमें किसी प्रकारका बाहरी नियंत्रण न होगा, जिसमें न कोई पूंजीवाद होगा और न कोई सरकार, और जिसमें प्रत्येक मनुष्यको अपनी रुचिका कार्य चुनने और करनेका अधिकार होगा। समाजकी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए स्वाधीन समूह होंगे और इन समूहोंके संघ होंगे। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि बर्गसनकी फिलासफी और सिंडिकैलिज्मके प्रयोगोंका स्रोत प्रिंस क्रोपाटकिनकी शिक्षाओंमें ही पाया जाता है।

क्रोपाटकिन अपने प्रतिपादित नीति-शास्त्रका अक्षरशः पालन करते हैं। वह बड़ी सादगी और स्वाधीनताके साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनके चेहरेपर प्रेमपूर्ण मुस्कराहट सदा खेलती रहती है। न उन्हें रुपये-पैसेकी चाह है, न किसी पद-प्रतिष्ठा की। उन्होंने रूसमें अपनी बड़ी जागीरोंको लात मारकर लुक-छिपकर इधर-उधर भटकनेवाले क्रांतिकारीका फाकेमस्तीका जीवन स्वीकार किया और अपने वैज्ञानिक लेखोंसे जीविका चलाना ठीक समझा। उन्होंने अपने 'राजकुमार'के पदको तिलांजलि देकर गरीब मजदूरोंकी सेवाका व्रत ग्रहण किया, और

आज वह अंतर्राष्ट्रीय मजदूर-सभा तथा उसके आंदोलनोंके केन्द्र-स्थानमें—प्रेरक शक्ति बने हुए हैं। रूस छोड़े उन्हें सैंतीस वर्ष हो चुके, और वह अभीतक वहां लौटकर नहीं गये। पर रूस उन्हें नहीं भूला। रूसी-सरकारने उन्हें स्विटजरलैंडसे, जहां वह अपने पत्र 'La Revolte' (बगावत) का संपादन करते थे, निकलवा दिया। उसने उन्हें चालाकीसे पकड़वा मंगानेका षड्यंत्र भी किया, पर सफल न हुई। सन् १८८७ में जब क्रोपाटकिनने अपना ग्रंथ 'In Russian and French Prisons' (रूसी और फ्रांसीसी जेलखानोंमें) छपाया तो उसकी सारी प्रतियां उड़ा दी गयीं और प्रकाशक महाशयका कारबार ही रहस्यपूर्ण ढंगसे एकबारगी बंद हो गया।

हां, एक बार रूस-सरकार उनको दंड दिलानेमें सफल हुई। सन् १८८२ में लीओंमें जो बलवा हुआ था उसमें फ्रांसीसी सरकार द्वारा वह पकड़े गये। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये बलवे खुफिया पुलिसवालोंने कराये थे। क्रोपाटकिन उन दिनों लन्दनमें थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्रोपाटकिनने न तो तब और न पहले कभी हिंसात्मक उपायोंका समर्थन किया था; पर उनपर यह इलजाम लगाया गया कि ये बलवे उन्हींकी प्रेरणासे हुए। वह फ्रांस वापस गये और उन्हें ५ वर्षका कारावास, १० वर्ष पुलिसकी निगरानी तथा अन्य कई दंड दिये गये। रूस सरकार फूली न समायी और जोशमें आकर मुकद्दमा चलानेवालोंको पदक दे डाले। उसकी यह भूल विघातक सिद्ध हुई। परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण यूरोपमें क्रोपाटकिनके छुटकारेके लिए आंदोलन उठ खड़ा हुआ। फ्रांसकी सरकार अपने हठपर कायम रही; पर उसने क्रोपाटकिनके लिए जेलमें एक सुविधा कर दी,—एक खेत उनको अपने कृषि-संबंधी प्रयोगोंके लिए दे दिया। वहाँ क्रोपाटकिनने जो प्रयोग किये उन्होंने कृषि-जगतमें क्रांति-सी कर दी। उन प्रयोगोंके आधारपर ही आगे चलकर उन्होंने 'Field, Factories and Workshop' नामकी किताब लिखी। क्रोपाटकिनके छुटकारेके लिए आंदोलन निरंतर जारी रहा। अंतमें फ्रेंच सरकारके एक उच्च पदाधि-

कारीको यह बात खुले तौरपर स्वीकार करनी पड़ी कि "क्रोपाटकिनके छुटकारेमें कुछ राजनैतिक कारण बाधक हैं।" असली भेद आखिर प्रकट हो ही गया ! हरएक आदमीकी जबानपर एक ही बात थी—"क्या रूस-सरकार को खुश करनेके लिए ही क्रोपाटकिन जेलमें रखे जायंगे ?" जब फ्रेंच सरकारको यह चुनौती दी गयी तो उसके पांव उखड़ गये और तीन वर्ष जेलमें रहनेके बाद क्रोपाटकिन छोड़ दिये गये।

रूस सरकारने इस दुःखद समाचारको सुनकर क्या किया, सो भी सुन लीजिए। इस घटनाके बाद सेंट-पीटर्सबर्ग-स्थित फ्रांसीसी राजदूतके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया कि वह स्तीफा देकर पेरिस लौट आये।

× × ×

फिर मैंने अपने मित्रसे पूछा—"कहिए जनाब, अब आपकी राय क्रोपाटकिनके बारेमें क्या है ?" मैंने उनका परिचय क्रोपाटकिनसे करा दिया था, और जब हम उनसे मिलकर लौटे तब भी उन्हें चायके प्याले में चम्मच चलाते हुए ही छोड़ आये।

मेरे मित्रने उत्तर दिया—"यह तो मैं नहीं कह सकता कि क्रोपाटकिन दिग्गज महापुरुष हैं या नहीं, पर इतना जरूर कहूंगा कि वह महात्मा हैं।"

## पुनश्च

[ श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी ]

४२ वर्ष विदेशमें रहकर सन् १९१७में रूसकी राज्य-क्रांतिके बाद क्रोपाटकिन अपनी मातृभूमिको लौटे। जनताने उनका हृदयसे स्वागत किया। जिस ट्रेनसे वह रूसमें यात्रा कर रहे थे उसको प्रत्येक स्टेशनपर लोगोंकी भीड़ घेर लेती थी, और 'क्रोपाटकिन आ गये,' 'क्रोपाटकिन आ गये,' ये शब्द हर आदमीकी जबानपर थे।

रूसमें क्रांति हो जानेके बाद जब लेनिनका शासन प्रारंभ हुआ उन दिनों क्रोपाटकिन मास्कोके निकट डिमिट्रोफ नामक ग्राममें रहते थे। गोकि उनका स्वास्थ्य खराब था—वह ७५ वर्षके हो चुके थे—फिर भी उन्हें उतना ही भोजन सोवियट सरकारकी शाखाकी ओरसे

दिया जाता था जितना बूढ़े आदमियोंके लिए नियत था। उन्होंने एक गाय रख छोड़ी थी, और अपनी स्त्री तथा पुत्रीके साथ वह इस कठिन परिस्थितिमें रहा करते थे। यार लोगोंने उनके गाय रखनेपर भी एतराज किया। जरा कल्पना कीजिए, जिसने अपने देशकी स्वाधीनताके लिए ५० वर्षतक कार्य किया उसके लिए बुढ़ापेमें, बीमारीकी हालतमें, एक गाय रखना भी आक्षेपका विषय समझा जाता है!

क्रोपाटकिन तो सरकारी शासन-प्रणालीके खिलाफ थे, इसलिए सरकारसे शिकायत करना उनके सिद्धांतके विरुद्ध था, और शिकायत उन्होंने की भी नहीं। पर उनके कुछ मित्रोंको यह बात बहुत अखरी, और उन्होंने स्थानीय सोविएटके अधिकारियोंसे शिकायत कर ही दी; पर उसका परिणाम कुछ न निकला। आखिरकार यह खबर लेनिनके कानों तक पहुँचायी गयी। लेनिन क्रोपाटकिनके प्रशंसक थे। उन्होंने तुरंत स्थानीय सोविएटको हुक्म लिख भेजा कि क्रोपाटकिनके भोजनकी मात्रा बढ़ा दी जाय और उन्हें गाय रखने दिया जाय। क्रोपाटकिनकी पुत्रीके पास लेनिनके हाथका लिखा हुआ यह पर्चा अब भी मौजूद है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लेनिन और प्रिंस क्रोपाटकिनके सिद्धांतोंमें जबरदस्त मत-भेद था। एक लेखकने लिखा है—"यद्यपि क्रोपाटकिन बोल्शेविक लोगोंके द्वारा क्रांतिका जो विकास हो रहा था उसमें व्यावहारिक रूपसे कोई भाग नहीं ले सकते थे, तथापि उन्हें इस बातकी चिंता अवश्य थी कि बोल्शेविक लोग दमनकी जिस नीतिका आश्रय ले रहे हैं वह स्वयं क्रांतिके लिए हानिकारक है, और मनुष्यता की दृष्टिसे भी वह अनुचित है। लेनिनने अपने एक मित्रके द्वारा, जो क्रोपाटकिनके भी मित्र थे, उनके पास यह संदेश भेजा कि मैं आपसे मिलनेको उत्सुक हूं और आपसे बात-चीत करनेके लिए आपके ग्राम डिमिट्रोफ भी आ सकता हूं। क्रोपाटकिन राजी हो गये, और दोनोंकी बातचीत हुई। यद्यपि लेनिन सहृदयतापूर्वक मिले और उन्होंने क्रोपाटकिनके विचारोंको सहानुभूतिके साथ सुना भी, पर इस बातचीतका परिणाम कुछ भी न निकला।"

प्रिंस क्रोपाटकिन उच्चकोटिके आदर्शवादी थे। वह अपने सिद्धांत पर समझौता करना जानते ही न थे। सोविएट सरकारने उनसे कहा था कि वह अपनी पुस्तक 'फ्रांसकी राज्यक्रांति'का अधिकार बहुत-सा रुपया लेकर सरकारको दे दें, क्योंकि वह उसे अपने स्कूलोंमें पाठ्य-पुस्तक नियत करना चाहती थी; पर उन्होंने इस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया, क्योंकि यह एक सरकारकी ओरसे आया था। कैंब्रिज यूनिवर्सिटीने उन्हें भूगोल-शास्त्रकी अध्यापकीका काम करनेके लिए निमंत्रण दिया, पर साथ-ही-साथ यह भी कह दिया कि हमारे यहां अध्यापक होनेके बाद आपको अपने अराजकवादी सिद्धांतोंका प्रचार बंद कर देना पड़ेगा। आपने इस नौकरीको धता बता दी। अराजकवादके प्रचारार्थ उन्होंने जो कार्य किया उसके बदलेमें एक पैसा भी किसीसे नहीं लिया। जब वह अत्यंत गरीबीकी हालतमें इंगलैंडमें रहते थे उन दिनों लोगोंने उन्हें दान देना चाहा; किसी-किसीने उन्हें रुपया उधार भी देना चाहा, पर आपने उसे भी नामंजूर कर दिया। घोर आर्थिक संकटके समय भी जो लोग उनके पास आते थे उन्हें वह जो कुछ उनके पास होता था उसमेंसे दे देते थे।

एक बार सुप्रसिद्ध करोड़पति एंड्रू कारनेगीने क्रोपाटकिनको अपने घरपर किसी पार्टीमें निमंत्रण दिया। क्रोपाटकिनने उस निमंत्रण-पत्रके उत्तरमें लिखा—"मैं उस आदमीका आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकता जो किसी भी अंशमें मेरे अराजकवादी बंधु बर्कमेनको जेलमें रखनेके लिए जिम्मेदार है।"

पाठक पूछ सकते हैं, क्रोपाटकिनको अपने अंतिम दिन कैसे व्यतीत करने पड़े? ७५ वर्षकी उम्रमें वह अपनी 'नीति-शास्त्र' ( Ethics ) नामक अंतिम पुस्तक लिख रहे थे। किताबोंके खरीदनेके लिए उनके पास पैसा नहीं था। जब कभी मित्र लोग थोड़ा-सा पैसा भेज देते तो एक-आध आवश्यक पुस्तक खरीद लेते। पैसेकी कमीके कारण ही वह कोई क्लर्क या टाइपिस्ट नहीं रख सकते थे, इसलिए अपने ग्रंथकी पांडुलिपि बनाने और चीजोंकी नकल करनेका काम उन्हें खुद ही करना पड़ता था। भोजन भी उन्हें पुष्टिकर नहीं मिल पाता था, जिससे उनकी कम-

जोरी बढ़ती जाती थी, और एक धुंधले दियेकी रोशनीमें उन्हें अपने ग्रंथकी रचना करनी पड़ती थी।"

यह बर्ताव किया गया स्वदेशमें, उस महापुरुषके साथ, जिसने लाखोंकी धन-संपत्तिपर लात मारकर अत्यंत गरीबीकी हालतमें बढ़ईगीरी तथा जिल्द-साजी करके गुजर करना उचित समझा; ज़ारके पार्षद और गवर्नर-जनरलके सेक्रेटरी होनेके बजाय जिसने किसानों तथा मजदूरोंका सखा होना अधिक गौरवयुक्त माना, संसारके वैज्ञानिकोंमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान होनेपर भी जिसने वैज्ञानिक अनुसंधानोंके कार्यको भारतवर्षके एकांत-वासी मोक्षाभिलाषी संन्यासियोंकी स्वार्थ-भावनाके समान समझकर तिलांजलि दे दी, और अराजकवादके प्रचारके लिए जिसने अपने जीवनको बीसियों बार खतरेमें डाला, जिसने न केवल अपने देश रूसकी स्वाधीनताके लिए वरन् इंगलैंड और फ्रांस आदि देशोंके मजदूरोंके संगठनके लिए भी अपनी शक्ति अर्पित कर दी, जो ४२ वर्षतक अपने देशसे निर्वासित रहा, जो दरअसल ऋषि था—द्रष्टा था, और जिसके सिद्धांत कभी मानव-समाजके स्थायी कल्याणके कारण बनेंगे!

इसमें किसीको दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि शासनके मोहमें फंस कर मानव अपनी मनुष्यता खोकर मशीन बन जाते हैं। सच है—'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।'

८ फरवरी सन् १९२१ को ७८ वर्षकी उम्रमें प्रिंस क्रोपाटकिनका देहांत हो गया। सोवियट सरकारने कहा कि हम गवर्नमेंटकी ओरसे उनकी अंत्येष्टि-क्रिया करना चाहते हैं; पर उनकी पत्नी तथा लड़कीने इसे अस्वीकार कर दिया। अराजकवादियोंने मजदूर-संघके भवनसे उनके शवका जुलूस निकाला। २० हजार मजदूर साथ-साथ थे। सर्दी इतने जोरोंकी थी कि बाजेतक बर्फके कारण जम गये! लोग काले झण्डे लिये हुए थे और चिल्ला रहे थे—"क्रोपाटकिनके साथी-संगियों को—अराजकवादी बंधुओंको—जेलसे छोड़ो।"

सोविएट सरकारने डिमिट्रोफका छोटा-सा घर क्रोपाटकिनकी विधवा पत्नीको रहनेके लिए दे दिया और उनका मास्कोवाला मकान उनके

मित्रों और भक्तोंको दे दिया, जहा उनके ग्रथ, कागज पत्र, चिट्ठिया तथा अन्य वस्तुए सुरक्षित हैं। क्रोपाटकिनके जो मित्र तथा भक्त ससारमें पाये जाते हैं उन्हींकी सहायतासे इस सग्रहालयका सचालन हो रहा है।

स्वाधीनताका यह अद्वितीय पुजारी युग युगातरतक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालयके सदृश महान् और उसकी आदर्शवादिता गौरीशकर शिखरकी तरह उच्च है।